ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष 54 अंक 4

अक्टूबर-दिसम्बर-2008

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्
स्थापित १९५४
अध्यात्म विद्या विद्यानाम्

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

पदाधिकारी

ISSN 0974 - 8849

दार्शनिक-त्रैमासिक

वर्ष 54 अंक 4 अक्टूबर-दिसम्बर - 2008

ISSN 0974 - 8849
दार्शनिक-त्रैमासिक
वर्ष 54 अंक 4
अक्टूबर–दिसम्बर–2008

प्रतियाँ : 300

मूल्य : रु. 100/–

प्रकाशक :
प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा
महामंत्री-अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्
आचार्य, दर्शन विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

वितरक :
श्री राजेश केशरवानी
विश्वविद्यालय प्रकाशन
247, जवाहरगंज, सागर (म.प्र.) 470002
मो. 9303282494, 9302376704
www.vishwavidyalayaprakashansagar.blogspot.com

अनुक्रम

सम्पादकीय

दार्शनिक त्रैमासिक के वर्ष 54वें के अंकों के सम्पादन का प्रमुख दायित्व जबलुपर ने लिया था। इस वर्ष में एक संयुक्तांक और दो स्वतंत्र त्रैमासिक अंकों का सम्पादन–प्रकाशन हुआ। कम्प्यूटर और ई–मेल के युग ने जहां लेखों और पत्रिकाओं के सम्पादन–प्रकाशन के कार्य में कल्पनातीत सुविधायें उपलब्ध कराई हैं वहीं लेखकों के कार्य को भी सहज कर दिया है। परिषद् के सदस्यों द्वारा वार्षिक अधिवेशनों में प्रस्तुत आलेख तथा व्याख्यानमालाओं के व्याख्यान एवं संगोष्ठियों में प्रस्तुत निबंध अब सी.डी. तथा ई–मेल में उपलब्ध होने लगे हैं। परन्तु अभी भी सभी लोग इस कार्य में वांछित सहयोग नहीं प्रदान कर रहे हैं। अब शैक्षणिक जगत् में प्रकाशन के निमित्त लिखे गये आलेखों या शोध–पत्रों के क़म्प्यूटरीकृत संस्करण आवश्यक हो गये है। इससे लेखक और सम्पादक दोनों के कार्य हलके होते हैं। सभी सम्बद्ध लोगों से आग्रह है कि वे अपने आलेख सी.डी. अथवा ई–मेल के माध्यम से सम्पादक को प्रकाशनार्थ भेजें।

कुछ आलेखों में ऐसा पाया गया है कि लेखक अपने कार्य में गंभीरता और सावधानी बरतने के बजाये जल्दीबाजी का परिचय देते हैं। लेखन व्यक्ति को पूर्णता प्रदान करता है। छपे हुए आलेख हमारी संस्कृति की धरोहर होते हैं। अतः लिखते समय अत्यन्त सावधानी बरतनी चाहिए और टंकण के उपरान्त लेखों को शुद्ध करके ही भेजना चाहिए। संदर्भों की प्रामाणित प्रस्तुति भी आवश्यक है।

कुछ लेखों में प्रस्तुति बोल–चाल की भाषा में है। एक ही वाक्य में कुछ शब्द अंग्रेजी के और कुछ हिन्दी के पाये गये हैं। अखिल भारतीय दर्शन–परिषद् हिन्दी माध्यम से दर्शन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए प्रारम्भ की गई थी और आज भी इसका यह लक्ष्य विद्यमान है। अपने सहयोगियों से हम आशा करते हैं कि परिषद् के मंच और इसकी पत्रिका के लिए लिखते समय अपनी मातृभाषा और राष्ट्रभाषा के प्रति आदर व्यक्त करें।

जबलपुर, 28 फरवरी, 2009

एस.पी. दुबे

तुलनात्मक धर्म की समस्याएँ

डॉ. सजीवन प्रसाद

मैं अखिल भारतीय दर्शन परिषद के कार्यकारिणी–समिति के पदाधिकारीयों के प्रति आभार व्यक्त करना चाहूँगा जिन्होंने परिषद् के स्वर्ण–जयंती अधिवेशन (2004), अहमदाबाद के लिए तुलनात्मक–धर्म अकादमी व्याख्यान हेतु मुझे आमंत्रित किया।

तुलनात्मक धर्म की समस्याओं पर विचार करने के पूर्व सर्वप्रथम यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है कि तुलनात्मक धर्म एक विषय के रूप में कैसे अवतरित हुआ। लुईस एच. जार्डन के अनुसार तुलनात्मक धर्म का उदय 1890 के पूर्व नहीं देखा जाता है यद्यपि 1873 में मैक्समूलर ने अपनी पूस्तक *"इन्ट्रोडक्सन टू द साईंस ऑफ रिलिजन"* में यह जिज्ञासा दिखायी थी कि धर्म के अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करना चाहिए और ऐसा करने में कोई नुकसान नहीं है। अनेक वर्षों तक विश्व के विभिन्न धार्मिक विश्वासों एवं अभ्यासों को जानने की उत्सुकता विद्वानों में देखी गयी और इस संबंध में अधिक से अधिक सूचना भी प्राप्त की गयी। 19 वीं सदी के अन्त में पाश्चात्य जगत् ने एक सिद्धांत की खोज की जिसके द्वारा सभी विषयों का अध्ययन किया जा सकता है। यह सिद्धांत विकास का सिद्धांत है जिसे काम्प्टे एवं स्पेन्सर ने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में विकसित किया तथा डारविन ने जैविक परिप्रेक्ष्य में विकसित किया। तुलनात्मक धर्म ने इसी विकास के सार्वभौम सिद्धांत का प्रयोग करने का प्रयास किया और इस क्रम में इसने विभिन्न धर्मों की व्यापक सामग्रियों पर कार्य करना प्रारम्भ किया, जो पहले से ही मौजूद थीं। जार्डन ने भी कहा कि तुलनात्मक धर्म एक विज्ञान है और इसलिए यह वैज्ञानिक सिद्धांतों का प्रयोग करता है। इस प्रकार, तुलनात्मक धर्म विकासवाद को आधार बनाकर धर्मों के इतिहास की एक विस्तृत तस्वीर प्रस्तुत करता है।

1870 से 1980 के बीच मुख्य रूप से दो विचारधारायें देखने को मिलती हैं। पहली, मैक्समूलर का दार्शनिक सिद्धांत और दूसरी अडोल्फ वास्तियन, नियोडोर वेज, टेलर तथा फ्रेजर का विकासवादी सिद्धांत। मैक्समूलर ने तुलनात्मक अध्ययन की उपयोगिता एवं विश्वसनीयता को स्थापित करने का प्रयास किया तथा इस क्रम में उन्होंने कुछ बहुमूल्य सामग्रियों को प्रस्तुत किया जिनपर *' सैक्रेड बुक्स*

ऑफ ईस्ट'' के 50 खण्ड आधारित हैं। परन्तु मैक्समूलर ने तुलनात्मक अध्ययन में विकासवादी सिद्धांत पर ध्यान नहीं दिया जबकि दूसरे वर्ग के विद्वानों ने विकासवादी सिद्धांत को आवश्यक समझा। निनियन स्मार्ट के अनुसार 19वीं सदी के अन्त में विकासवादी सिद्धान्त को तुलनात्मक अध्ययन में अधिक पसंद किया गया जिसके परिणाम स्वरूप तुलनात्मक धर्म एक अनुशासन या विधा के रूप में अवतरित हुआ।

परन्तु जब स्वयं विकासवाद पर प्रश्न–चिन्ह लगाया जाने लगा तो प्रारम्भ में विकासवाद को आधार मानकर तुलनात्मक धर्म का जो आकार सामने आया उस पर भी प्रश्न–चिन्ह लगाया जाने लगा। यहॉ पर विकासवादी सिद्धांत की अनिश्चितता से विभिन्न अध्ययन प्रारंभ हुए तथा तुलनात्मक धर्म के स्थान पर धर्मों का इतिहास, विश्व–धर्म, धार्मिक अध्ययन तथा धर्म का अध्ययन प्रकाश में आ गये। परन्तु इससे तुलनात्मक धर्म की समाप्ति नहीं हुई बल्कि तुलनात्मक धर्म यहॉ–वहॉ प्रचलित रूप में न सही चिंतन के रूप में जीवित रहा। 1960 और 1980 के बीच धर्म के क्षेत्र में ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दोनों प्रकार के अध्ययनों का विस्तार देखा गया जिसका परिणाम है कि आज धर्म एवं धर्मों के विभिन्न पहलुओं का तुलनात्मक अध्ययन देखा जाता है। इस रूप में तुलनात्मक धर्म एक स्वतंत्र विषय के रूप में अवतरित हुआ और इसने कुछ उद्‌घोषणाएँ कीं।

तुलनात्मक धर्म ने मानव–जाति की विभिन्न आस्थाओं एवं मूल्य की जॉच करना प्रारम्भ किया। यह धर्म सामग्रियों की उचित तुलना द्वारा संपादित होने लगा जो सामग्रियॉ विभिन्न स्रोतों से एकत्रित की गई। इस प्रकार, तुलनात्मक धर्म उन नियमों के संचालन के परिणाम का एक आनुषंगिक एवं संगत तस्वीर प्रस्तुत करता है जिनके द्वारा मनुष्य का धार्मिक विकास होता है। यह धार्मिक विकास संपूर्णता में देखा जाता है। फिर, तुलनात्मक धर्म विभिन्न धर्मों में उन समानताओं की तलाश करता है जो मानव आस्थाओं के आधार हैं। पुनः, तुलनात्मक धर्म तुलनात्मक दृष्टि से विभिन्न धर्मों का एक वस्तुनिष्ठ अध्ययन प्रस्तुत करता है, चाहे वह प्राचीन हो या आधुनिक तथा प्रागैतिहासिक हो या ऐतिहासिक। विभिन्न धर्मों के बीच सामान्य विशेषताओं को खोजने हेतु यह अध्ययन विभिन्न धर्मों की मूल रूढ़ियों, नियमों, मतों एवं सिद्धांतो की जांच करता है। यहॉ पर एक बात स्पष्ट दिखती है कि सामान्य विशेषताओं या समानताओं के तत्व भी उजागर होते हैं। अतः तुलनात्मक धर्म विभिन्न धर्मों की समानता और विभिन्नता संबंधी तत्वों का एक यथोचित प्राक्कलन प्रस्तुत करता है जिसके अन्दर यह समानता और विभिन्नता की गहराई को देखता है। इस क्रम में यह न तो एक नवीन धार्मिक पंथ की सृष्टि करता है, न यह किसी धर्म–विशेष को सबसे अच्छा, सबसे उच्च तथा सबसे प्रगतिशील दिखाता है और न यह अन्य धर्मों को निम्न, अप्रगतिशील तथा आदिम दिखाता है। लुइस एच0

जार्डन ने अपनी पुस्तक *''कम्परेटिव रिलिजन : इट्स जेनिसिस एण्ड ग्रोथ''* में कहा है कि ''तुलनात्मक धर्म विश्व के विभिन्न धर्मों को एक साथ रखता है। इस क्रम में यह विभिन्न धर्मों की तुलना करता है तथा तुलना के क्रम में यह विभिन्न धर्मों के दावों एवं मूल्यों का एक विश्वसनीय प्राक्कलन प्रस्तुत करता है।''[1]

अब, यह स्पष्ट हो गया कि तुलनात्मक धर्म विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। परन्तु धर्म के तुलनात्मक अध्ययन में कुछ प्रमुख समस्याएँ आयी हैं जिनकी यहाँ पर समीक्षा की जा सकती है। ये समस्याएँ धर्म के तुलनात्मक अध्ययन एवं धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से जुड़ी हुई हैं।

धर्म के तुलनात्मक अध्ययन में पहली समस्या अध्ययन की वस्तुनिष्ठता से संबंधित है जिसका स्वरूप विशेष एवं सामान्य दोनों रूप में देखा जाता है। विशेष रूप में 20वीं शदी के प्रारम्भ में 'तुलनात्मक' शब्द के प्रयोग पर विद्वानों में प्रतिक्रिया देखी गयी क्योंकि पाश्चात्य परम्परा में तुलना पूर्वधारणाओं पर आधारित थी। सामान्य रूप में कुछ विद्वानों ने यह संदेह जताया कि धर्म का वस्तुनिष्ठ अध्ययन नहीं किया जा सकता क्योंकि धर्म मूलतः आत्मनिष्ठ होता है। इस समस्या की समीक्षा इस रूप में की जा सकती है कि एक व्यक्ति के लिए यह संभव है कि वह एक विशेष विचार रखता हो और साथ ही साथ यह भी संभव है कि उसका यह विचार वस्तुनिष्ठ रूप से मान्य हो। आत्मनिष्ठ रूप से स्थापित सत्य वस्तुनिष्ठ भी हो सकता है। वास्तव में अधिकांश पूर्वाग्रहरहित धार्मिक कथनों में इस प्रकार की वस्तुनिष्ठता देखी जाती है। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि वस्तुनिष्ठ सत्य वस्तुनिष्ठ तब तक नहीं स्वीकारा जा सकता जब तक आत्मनिष्ठ रूप में उसपर विश्वास नहीं किया जाय। हम किसी सत्य को वस्तुनिष्ठ तभी मानते हैं जब उसमें प्रत्येक व्यक्ति द्वारा विश्वास किया जाता है। यहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति द्वारा विश्वास किया जाना आत्मनिष्ठता ही है। इस रूप में एक वस्तुनिष्ठ सत्य उस सत्य के संबंध में एक सामान्यीकरण है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति विश्वास करता है। अतः सभी हालतों में आत्मनिष्ठता एवं वस्तुनिष्ठता के द्वैत को उचित नहीं कहा जा सकता। धार्मिक सत्य के संबंध में यह कहा जा सकता है कि वे या तो आत्मनिष्ठतः वस्तुनिष्ठ हैं या वे वस्तुनिष्ठतः आत्मनिष्ठ। वे आत्मनिष्ठतः वस्तुनिष्ठ हैं क्योंकि जो इनमें विश्वास करते हैं वे यह भी विश्वास करते हैं कि ये सत्य सिर्फ एक व्यक्ति के लिए नहीं हैं बल्कि अन्य के लिए भी हैं। इसी प्रकार, ये सत्य वस्तुनिष्ठतः आत्मनिष्ठ हैं क्योंकि कोई भी धार्मिक सत्य, जो वस्तुनिष्ठता का दावा करते हैं, यह विश्वास करते हैं कि इन सत्यों में भागीदारी प्रत्येक व्यक्ति की होती है। यहाँ पर आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता का द्वैत समाप्त हो जाता है। अतः तुलनात्मक धर्म के अध्ययन में धर्म की आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता की समस्या कोई असाध्य समस्या नहीं है।

फिर भी इस समस्या से हमें एक लाभ अवश्य मिलता है कि हम अपनी पूर्व मान्यताओं का मूल्यांकन कर सकते हैं और इस प्रकार हमारे अंदर आत्म–जागरूकता आती है। इस आत्म–जागरूकता में हम विभिन्न धर्मों पर लगे आत्मनिष्ठता के आरोप को खारिज करते हैं क्योंकि विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में इस प्रकार की समस्या का कोई उचित स्थान नहीं रह जाता। कारण, तुलनात्मक धर्म विभिन्न धर्मों में एक ऐसे सामान्य सत्य को ढूँढने का प्रयास करता है जो किसी भी धर्म विशेष की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च होता है। फिर, सामान्य सत्य की प्राप्ति के बाद भी एक धर्मावलम्बी विशेष का अपने धर्म के प्रति अनुराग और आकर्षण सुरक्षित रहता है। इस प्रकार, तुलनात्मक अध्ययन द्वारा तुलनात्मक धर्म एक ऐसे धार्मिक–बौद्धिक शक्ति को जन्म देता है जो एक नवीन, बुद्धिग्राह्य एवं यथोचित धार्मिक दृष्टिकोण को जन्म देती है और जिस यथोचित धार्मिक दृष्टिकोण द्वारा आधुनिक मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

धर्म के तुलनामत्मक अध्ययन की दूसरी समस्या धर्म की परिभाषा है। विद्वानों द्वारा धर्म की विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी हैं परन्तु किसी भी परिभाषा को सामान्य परिभाषा नहीं माना गया। यहाँ पर यही कहा जा सकता है कि तुलनात्मक धर्म का उद्देश्य धर्म की एक सामान्य परिभाषा निर्धारित करना नहीं है। यह तभी संभव होता जब तुलनात्मक धर्म को एक विशेष प्रकार का धर्म माना जाता। वास्तव में, तुलनात्मक धर्म एक स्थापित धर्म नहीं है बल्कि विभिन्न धर्मों के संबंध में अध्ययन करने की एक पद्धति मात्र है। यह एक ऐसी पद्धति है जिसका व्यवहार विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए किया जाता है और इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन पक्षपातपूर्ण एवं विशिष्टतावादी न होकर सामान्य होता है। फिर, धर्म की एक सामान्य परिभाषा तभी निर्धारित हो सकती है जब सभी धर्मों के विभिन्न पक्षों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय और इसके आधार पर धर्म के मौलिक एवं सामान्य तत्वों को ढूँढ़ा जाय। यहाँ पर तुलनात्मक धर्म की आवश्यकता महसूस होती है। धर्म की एक सामान्य परिभाषा देने में एक और कठिनाई उपस्थित होती है क्योंकि विभिन्न धर्मों के मूलभूत सिद्धांतों के संबंध में गहरा मतभेद देखा जाता है। परन्तु, तुलनात्मक अध्ययन द्वारा इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है क्योंकि तुलनात्म्क धर्म धर्मों के मूलभूत सिद्धांतों का पक्षपातरहित अध्ययन करता है।

धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से भी कुछ समस्याएँ संबंधित हैं जिन्हें तुलनात्मक धर्म के अध्ययन से संबंधित आपत्तियाँ कहीं जा सकती हैं। तुलनात्मक धर्म के अध्ययन के संबंध में एक आपत्ति यह उठायी जाती है कि तुलनात्मक धर्म विभिन्न धर्मों की तुलना करता है परन्तु यह तुलना अपने आप में कुत्सित एवं अप्रिय है और विशेषकर धर्म के क्षेत्र में। यह तुलना विभिन्न धर्मों के बीच

अनावश्यक कटुता एवं विद्वेष उत्पन्न करता है। अतः धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से बचना चाहिए। परन्तु यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से अलग नहीं रहा जा सकता है। यह सत्य है कि धर्मों के बीच मुकाबला हमेशा होता रहता है। परन्तु यह भी सत्य है कि वर्तमान विश्व–स्थिति में धार्मिक अलगाव असंभव है। संचार के विकसित साधनों ने विश्व को बिल्कुल नजदीक ला दिया है। अतः विभिन्न जातियाँ विभिन्न धार्मिक दृष्टिकोणों के साथ एक दूसरे से सुगमतापूर्वक मिलती हैं, अपने विचारों एवं धार्मिक विचारों का आदान–प्रदान करती हैं। फिर, एक व्यक्ति में दूसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण एवं आचरण के संबंध में जानने की स्वाभाविक उत्सुकता देखी जाती है। अतः आज पूर्ण रूप से धर्मों के अलगाव या एकला चलो की बात बेमानी है। अब, जबकि तुलना से अलग नहीं रहा जा सकता है, अतः तुलना पूर्वाग्रहरहित, पक्षपातरहित एवं सहानुभूतियुक्त भावना में होनी चाहिए। पैरिन्डर ने ठीक ही कहा है कि "यहाँ महत्वपूर्ण बात यह देखना है कि तुलना सही रूप में हो और उनका समीक्षात्मक मूल्यांकन हो।"[2]

तुलनात्मक धर्म के अध्ययन में दूसरी आपत्ति यह उठायी जाती है कि जब विश्व के सभी धर्म एक दूसरे से बिल्कुल अलग–अलग हैं, उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, उनकी रूढ़ियाँ, उनके आदर्श तथा उनके सिद्धांत एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं तो विभिन्न धर्मों का मिलान संभव नहीं है। परन्तु, यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि यह आपत्ति तुलनात्मक धर्म के अर्थ एवं उद्देश्य को गलत ढंग से समझने के कारण उठती है। तुलनात्मक धर्म का उद्देश्य एवं अर्थ सभी धर्मों को एक धर्म में या अन्य धर्मों में या एक दूसरे में मिलाना नहीं है। यह मुख्यतः विभिन्न धर्मों का एक तुलनात्मक अध्ययन करता है। विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन विभिन्न धर्मों के बीच मुख्य एकता को ढूँढता है। यहाँ पर धर्मों का मिलान नहीं होता जिससे किसी धर्म–विशेष की नियति ही समाप्त हो जाय। ई0 रायस्टन पाईक ने *"इनसाईक्लोपिडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स"* में तुलनात्मक धर्म का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है : "तुलनात्मक धर्म विश्व के विभिन्न धर्मों का उनकी समानताओं एवं विशेषताओं तथा उनके सामान्य धार्मिक प्रत्ययों को ढूँढने के उद्देश्य से किया गया एक वैज्ञानिक और इसलिए एक पक्षपातरहित अध्ययन है।"[3] इससे यह स्पष्ट होता है कि तुलनात्मक धर्म के अन्दर मात्र विभिन्न धर्मों को एक सूत्र में पिरोने का कार्य नहीं किया जाता है बल्कि इसमें विभिन्न धर्मों का बौद्धिक अध्ययन किया जाता है। ह्यूस्टन स्मिथ ने ठीक ही कहा है कि "तुलनात्मक धर्म का लक्ष्य अगर सिर्फ धर्मों की तुलनात्मक क्षमता का वर्णन है, तो यह पुस्तक तुलनात्मक धर्म पर नहीं है ... जो तुलनात्मक धर्म इन प्रश्नों से संबंध रखता है वह सदा प्रतियोगी धर्म के रूप में पतित हो जाता है।"[4]

पुनः, तुलनात्मक धर्म का अर्थ एवं उद्देश्य विभिन्न धर्मों को एक दूसरे से मिलाना नहीं है। यह सत्य है कि तुलनात्मक धर्म विभिन्न धर्मों की समानता और असमानता से संबंधित तथ्यों का अध्ययन करता है। परन्तु विभिन्न धर्मों की समानताओं का विशेष महत्व इस अर्थ में नहीं रह जाता कि यदि हम अपने धर्म को अन्य धर्मों से श्रेष्ठ होने का दावा करते हैं तो भी यह आवश्यक दिखता है कि हम अन्य धर्मों के दावे एवं उनके अन्दर निहित विचारों को जानें तथा उनका मूल्यांकन करें। इससे यह स्पष्ट होता है कि तुलनात्मक धर्म का उद्देश्य विभिन्न धर्मों को समझना एवं एक दूसरे का मूल्यांकन करना है। विभिन्न धर्मों को समझना एवं विभिन्न धर्मों में अन्तर्निहित विचारों का एक दूसरे की तुलना में मूल्यांकन करना धर्मों को एक दूसरे से मिलाना नहीं है, क्योंकि यहॉ पर प्रत्येक धर्म का स्वतंत्र अस्तित्व सुरक्षित रहता है।

धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में एक अन्य आपत्ति पूर्व और पश्चिम की दूरी से संबंधित है। प्रायः ऐसा समझा जाता है कि पूर्व और पश्चिम के बीच एक खाई है। जिस प्रकार एक दार्शनिक परंपरा का मनुष्य दूसरी परंपरा के धर्म में प्रविष्ट नहीं कर सकता उसी प्रकार एक धर्म का मनुष्य दूसरे परंपरा के दर्शन में प्रविष्ट नहीं कर सकता है। परन्तु, यहॉ पर यह कहा जा सकता है कि यह आपत्ति परस्पर समझ न होने के कारण देखी जाती है। यहॉ पर आवश्यकता इस बात की है कि पूर्व और पश्चिम एक दूसरे को समझें क्योंकि दोनों की ऐतिहासिक चेतना एक दूसरे में समाहित है, जिसका अर्थ होता है कि दोनों के समक्ष एक संप्रत्ययात्मक ढॉचा है जिसे दोनों एक दूसरे को प्रदान करते हैं। ऐतिहासिक चेतना का अर्थ मनुष्य, विश्व, समाज तथा स्वयं के प्रति चेतन होना है। नारथ्रोप अपनी पुस्तक *''द मीटिंग ऑफ ईस्ट एण्ड वेस्ट''* में कहते हैं कि पूर्व ने मनुष्य के अन्तःप्रज्ञ स्वरूप का वर्णन किया है और पश्चिम ने मनुष्य के बौद्धिक स्वरूप का वर्णन किया है, परन्तु मनुष्य की सही समझ तभी स्पष्ट होती है जब बुद्धि और अन्तःप्रज्ञ की एकता समझी जाती है। इन दोनों की एकता में ही पूर्व और पश्चिम की एकता स्पष्ट होती है और तब पूर्व और पश्चिम की दूरी समाप्त हो जाती है और जब एक धर्म को दूसरे धर्म से बिल्कुल अलग भी नहीं समझा जा सकता है।

धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में एक अन्य आपत्ति यह उठायी जाती है कि जब सभी धर्म अपने–अपने धर्म को ही श्रेष्ठ, विलक्षण तथा अद्वितीय दिखाने में संलग्न हैं तो फिर तुलनात्मक धर्म कैसे संभव है। यहॉ पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने धर्म के प्रति आसक्त है फिर भी इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अपने धर्म और अन्य धर्मों के बीच की समानताओं के अध्ययन के प्रति विमुख रहता है। प्रत्येक क्षेत्र मे एक व्यक्ति प्रसन्न होता है जब वह अपने तथा अन्य के दृष्टिकोणों के बीच कोई समानता देखता है। फिर,

मानव–स्वभाव जटिल है। जब एक व्यक्ति अपने दृष्टिकोणों की वरीयता को दिखाना चाहता है तो वह यह जानकर प्रसन्न होता है कि उसके अपने दृष्टिकोणों का प्रतिरूप दूसरे के दृष्टिकोणों में भी वर्तमान है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न धर्मों की तुलना में मानव–मस्तिष्क विरोधी नहीं है।

फिर, तुलनात्मक धर्म के अनुसार कोई भी धर्म पूर्ण या अंतिम नहीं है। यहॉ पर धर्म को एक गति एवं विश्वास माना गया है। प्रायः यह देखा जाता है कि सभी विश्वासों में नवीन प्राचीन के ऊपर आधारित होता है अर्थात् वर्तमान भूत पर आधारित होता है। इस प्रकार प्रत्येक धर्म में पुरातन के अवशेष वर्तमान रहते हैं। इतना ही नहीं, यदि हम धर्म के वर्तमान स्वरूप से संतुष्ट न हों तो अपेक्षाकृत हम एक अन्य अच्छे स्वरूप की आशा करते हैं। अतः तुलनात्मक धर्म का उद्देश्य विश्व के मनुष्यों को बुद्ध या ईसा का अनुयायी बनाना भले ही न हो परन्तु इसका उद्देश्य एक अधिक महत्वपूर्ण कार्य संपादित करना है जिससे धार्मिक मतभेदों की व्याख्या होती है, उनमें परस्पर मेल की जिज्ञासा बनती है, उनमें आपसी समझ की भावना का उदय होता है तथा स्वयं धर्म उस क्षय से बचता है जिससे वर्तमान धर्म ग्रसित है या विभिन्न धर्मावलम्बी अपने–अपने धर्म को ही श्रेष्ठ तथा पूर्ण दिखाने में संलग्न हैं।

पुनः, तुलनात्मक धर्म का उद्देश्य यह प्रदर्शित करना नहीं है कि कोई एक धर्म धार्मिक भावना की उच्चतम अभिव्यक्ति है। तुलनात्मक धर्म यह स्पष्ट करता है कि किसी भी धर्म के विशिष्ट कट्टर सिद्धांत एवं गाथाऍ पूर्णतया अद्वितीय नहीं हैं क्योंकि जो व्यक्ति दूसरे के धर्म पर विश्वास नहीं करता उसके होठों द्वारा निकली हुई प्रार्थनाओं को परमात्मा ठुकरा नहीं देता है। मैक्समूलर कहते हैं – "हमारा अपना धर्म भी वैसा ही है जैसा ब्राह्मणों का धर्म है। उन सभी का अर्थ समझना होगा और मुझे इसमे संदेह नहीं है कि उनमें चाहे जो भी त्रुटियॉ क्यों न हों, उनका अर्थ समझा ही जायेगा।"[5] इससे यह स्पष्ट होता है कि तुलनात्मक धर्म एक सर्वोच्च सत्ता की सार्वभैमिकता में हमारे विश्वास और मानव–जाति के प्रति हमारे आदर को बढ़ाना अपना चरम उद्देश्य बनाता है। मैक्समूलर पुनः कहते हैं "यह हमारे अन्दर केवल सहिष्णुता की मनोवृत्ति को ही नहीं जगाता, न केवल शरणता देने वाली करुणा को, न लोकोत्तर उदारता को ही जगाता है, अपितु यह सच्चे आदर और मूल्यांकन की भावना भी उत्पन्न करता है।"[6]

धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में एक अन्य आपत्ति इस रूप में उठायी जाती है कि तुलनात्मक धर्म धर्मों के बीच की विभिन्नताओं की कीमत पर सिर्फ धर्मों की एकता तथा एकरूपता पर अधिक बल देता है। अतः धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से कोई लाभकारी परिणाम नहीं हो सकता। यहॉ पर यह कहा जा सकता है कि धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में तुलनात्मक धर्म विभिन्नताओं की उपेक्षा नहीं करता

है क्योंकि तुलनात्मक अध्ययन के लिए जितनी समानताएँ महत्वपूर्ण हैं उतनी ही महत्वपूर्ण विभिन्नताएँ भी हैं। अगर विभिन्न धर्मों की सिर्फ समानताओं की बात की जाती है तो फिर तुलना करने का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। जब विभिन्न धर्मों में विभिन्नताएँ देखी जाती हैं तो उन विभिन्नताओं के संबंध में भी पूछा जाता है कि वे आवश्यक हैं या नहीं।

पुनः, यह सत्य है कि विभिन्न धर्मों के विश्वासों एवं कर्मकाण्डों में विभिन्नताएँ देखी जाती हैं फिर भी तुलनात्मक धर्म असंदिग्ध रूप से यह स्पष्ट करता है कि धर्म एक सार्वभौम सत्य है। विश्व में सभी ओर कुछ कम या अधिक समान रूप से फैला हुआ विश्वास और कर्मकाण्ड का एक ऐसा समूह दिखाई पड़ता है जिसमें विभिन्नताओं के बाद भी कुछ मूलभूत तत्वों की दृष्टि से सभी धर्म एक दूसरे के समीप प्रतीत होते हैं। फिर, धर्म का स्थान मनुष्य के मस्तिष्क में देखा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म स्वयं मनुष्य के स्वभाव का एक अंग बन गया है। सभी वस्तुएँ समाप्त हो जाती हैं परन्तु एक सर्वोच्च सत्ता में विश्वास विश्व के सभी धर्मों की चरम स्वीकृति है। अतः यह कहा जा सकता है कि धर्म में कितना भी परिवर्तन क्यों न हो, धर्म तक बना रहेगा जब तक मनुष्य का आवागमन इस पृथ्वी पर वर्तमान रहेगा। ब्रह्मा, याहवेह, अहुरमज्दा, अल्लाह एवं ईश्वर से संबंधित विभिन्न अभिव्यक्तियों के पीछे एक ही अभिप्राय, एक ही प्रयास एवं एक ही श्रद्धा वर्तमान है। सभी धर्मों का उदय मानवीय मन की पवित्र भूमि में होता है और सभी को जीवन एक ही आत्मा द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार तुलनात्मक धर्म यह मानकर अग्रसर है कि मानवीय आत्मा एक ही आध्यात्मिक सत्ता के प्रति लालायित रहती है और किसी–न–किसी रूप में यह सत्ता मानवीय आत्मा पर प्रभाव डालती है। अतः यह कहना कि तुलनात्मक धर्म विभिन्नताओं की कीमत पर विभिन्न धर्मों की सिर्फ एकता एवं एकरूपता पर बल देता है उचित प्रतीत नहीं होता। आवश्यकता यहाँ पर तुलनात्मक धर्म के अध्ययन में बौद्धिक समझ की है जिसके लिए कुछ विशेष बातों पर ध्यान देना अनिवार्य दिखता है। पहला, तुलनात्मक अध्ययन की सामग्रियाँ पूर्वाग्रहरहित होकर इकट्ठा की जाय। दूसरा, इनकी व्याख्या पक्षपातरहित होकर की जाय। तीसरा, समानता और विभिन्नता संबंधी बिन्दुओं को चिन्हित किया जाय। चौथा, समानता और विभिन्नता की मात्रा को निर्धारित किया जाय।

तुलनात्मक धर्म के संबंध में एक अन्य आपति यह उठायी जाती है कि तुलनात्मक धर्म एक नवीन विषय नहीं है बल्कि यह सामान्य धर्म, विश्व धर्म तथा धर्मों की एकता संबंधी विचारों का ही एक रूप है। परन्तु यह आपत्ति भी यथोचित नहीं है। वास्तव में, सामान्य धर्म, विश्व–धर्म तथा धर्मों की एकता में किसी न किसी रूप में सभी धर्मों को मिलाने का प्रयास किया गया है और तुलनात्मक धर्म

इस मिलान का विरोधी है। फिर, सामान्य धर्म, विश्व–धर्म तथा धर्मों की एकता में धर्मों के बीच पाये जाने वाले सिर्फ सामान्य तत्वों को अध्ययन का आधार बनाया गया है और यह स्थापित करने का प्रयास किया गया है कि सभी धर्म एक ही हैं। परन्तु तुलनात्मक धर्म विभिन्न धर्मों के बीच पाये जाने वाले सामान्य तत्वों के साथ–साथ विभिन्नता संबंधी तत्वों को भी अध्ययन का आधार बनाता है तथा समानताओं एवं विभिन्नताओं दोनों का पूर्वाग्रहरहित और पक्षपातरहित मूल्यांकन करता है। यह कभी भी यह निष्कर्ष नहीं स्थापित करता कि सभी धर्म एक हैं। इस प्रकार, तुलनात्मक धर्म व्यक्तिगत रूप से सभी धर्मों की लोकप्रियता को बढ़ाता है तथा परस्पर सहिष्णुता की भावना की वृद्धि करता है जिसका परिणाम यह होता है कि विभिन्न धर्मों के विभिन्न पक्ष एक दूसरे के समक्ष अधिक स्पष्ट होते हैं। अतः सामान्य धर्म, विश्व धर्म तथा धर्मो की एकता संबंधी विचारों का एक रूप तुलनात्मक धर्म नहीं है क्योकि इसका अर्थ एवं उद्देश्य ही उन विचारों से भिन्न है। अतः तुलनात्मक धर्म एक नवीन विषय है और इसे किसी अन्य विषय के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए। लुइस एच. जार्डन ने अपनी पुस्तक *"कम्पेरिटिव रिलिजन : इट्स एडजन्क्ट्स एण्ड ऐलिज"* में तुलनात्मक धर्म को एक स्वतंत्र विषय के रूप में माना है तथा अन्य विषयों से अलग रखने की सलाह दी है। उदाहरण स्वरूप, धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन को धर्म–विज्ञान के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए क्योंकि धर्म–विज्ञान धर्म का एक विभाग मात्र है। धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन को धर्म–दर्शन के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए क्योंकि धर्म–दर्शन धर्म की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करता है जबकि तुलनात्मक धर्म अनेक सहायक नदियों में एक सहायक नदी है जो धर्म की दार्शनिक व्याख्या के लिए सामग्री प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन को मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, पुराणविद्या, भाषा–विज्ञान तथा मनोविज्ञान के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए क्योंकि इनमें से प्रत्येक विज्ञान अपने ही विलक्षण कार्यों में सीमित हैं और इनकी अलग–अलग पद्धति है। तुलनात्मक धर्म को धर्मों के इतिहास के साथ भी नहीं जोड़ा जाना चाहिए क्योंकि धर्म के इतिहासकार अपने को एक ही आस्था के अध्ययन में सीमित रखते हैं जबकि तुलनात्मक धर्म सभी आस्थाओं के अध्ययन से अपने को संबंधित करता है तथा एक दूसरे के साथ के परीक्षणीय संबंधों के प्रकाश में उनकी समीक्षा करता है। यहाँ पर तुलनाकर्ता एक ऐसे संबंध की उद्घोषणा करता है जो सभी धर्मों को एक साथ जोड़ता है और इस प्रकार उन्हें एक व्यापक संवाद के दायरे में लाता है। यह उन प्रभावों एवं आकांक्षाओं पर बल देता है जो विभिन्न धर्मों को एक साथ जोड़ते हैं न कि विभाजित करते हैं। अंत में, तुलनात्मक धर्म को तुलनात्मक ईश्वरशास्त्र के साथ भी नहीं जोड़ा जाना चाहिए क्योंकि तुलनात्मक ईश्वरशास्त्र सिर्फ तात्विक विश्वासों

की तुलना करता है जबकि तुलनात्मक धर्म सभी प्रकार के धार्मिक विश्वासों की तुलना करता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलनात्मक धर्म एक स्वतंत्र विषय है और इसकी पद्धति तुलनात्मक है। इरिक जे0 सार्पे ने अपनी पुसतक *"कम्पेरिटिव रिलिजन–ए हिस्टरी"* में कहा है कि "तुलनात्मक धर्म तुलनात्मक पद्धति के प्रयोग पर केन्द्रित है। यह तुलनात्मक पद्धति वैसी सामग्रियों पर कार्य करती है जो इसे विश्व के धर्मों, भूत एवं वर्तमान द्वारा प्रदत्त हैं।"[8]

निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि तुलनात्मक धर्म या धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि विभिन्न धर्मों के बीच आपसी समझ एवं सहयोग स्थापित हो। यहॉ पर आपसी समझ का अर्थ है कि जब एक धर्मावलम्बी अन्य धर्मों का अध्ययन करता है तो उसे आत्मनिर्णय लेना होगा कि किस धार्मिक विचार को स्वीकार किया जाय और किसे अस्वीकार किया जाय, किस धार्मिक विचार में परिवर्तन लाया जाय तथा किसके साथ जोड़ा जाय। यहॉ पर जो धार्मिक विचार अन्तिम रूप से स्वीकार करने योग्य होगा वही विभिन्न धर्मों के लिए एक सामान्य आधार होगा। इस प्रकार का कार्य अति महत्वपूर्ण होगा तथा सभी मानवीय कार्यों के लिए उपयोगी होगा। यहॉ पर धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन अनुपयोगी धार्मिक विचार को अस्वीकार करेगा तथा उपयोगी धार्मिक विचार को स्वीकार करेगा। यहॉ पर जैसे–जैसे धार्मिक अनुभूति की प्रगति होगी वैसे–वैसे एक नये धार्मिक विचार का उदय होगा। यहॉ विभिन्न धार्मिक विचारों का जो मूल्यांकन होगा उसमें यह जानना महत्वपूर्ण होगा कि दोनों धर्म के धार्मिक विचारों में कौन धार्मिक विचार मनुष्य के लिए उपयोगी एवं कल्याणकारी होगा। यहॉ पर विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच आपसी समझ की आवश्यकता होगी, जैसे, उपयुक्तता तथा प्रयोजनीयता की समझ, बुद्धि–ग्राह्यता की समझ, यथेष्ठता की समझ, व्यापकता की समझ, आदि। यही आपसी समझ विभिन्न धार्मिक विचारों का आधार होगा।

फिर, तुलनात्मक धर्म या धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए परस्पर सहयोग की भी आवश्यकता होगी। ऐसा कहा जा सकता है कि जब विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच परस्पर सहयोग की भावना आयेगी अर्थात् एक धर्मावलंबी दूसरे धर्म के उचित, उपयोगी एवं कल्याणकारी धर्मिक विचार के विकास में सहयोग करेगा तो यहॉ पर विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में आनेवाली समस्याओं का समाधन हो जायेगा। यहॅा पर एक धर्मावलम्बी को दूसरे धर्मावलम्बी के साथ सहयोग करने का अर्थ एक दूसरे का प्रशंसक होना होगा। जब यह कहा जाता है कि हिन्दू–धर्म ईसाई–धर्म का प्रशंसक है तो इसका अर्थ होता है कि ईसाई–धर्म को पूर्ण उपयोगी एवं कल्याणकारी होने के लिए हिन्दू–धर्म की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार हिन्दू–धर्म को पूर्ण उपयोगी एवं कल्याणकारी होने के लिए ईसाई धर्म

की आवश्यकता पड़ती है। हिन्दू–धर्म या ईसाई–धर्म स्वयं में पूर्ण नहीं हैं बल्कि दोनों एक व्यापक संपूर्णता के अंग हैं तथा दोनों उसी व्यापक संपूर्णता पर निर्भर हैं। फिर, जब हिन्दू–धर्म सिर्फ हिन्दू–धर्म नहीं रह जायेगा तथा ईसाई–धर्म सिर्फ ईसाई–धर्म नहीं रह जायेगा, बल्कि यह व्यापक संपूर्णता धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन या स्वयं तुलनात्मक धर्म हो जायेगी। अब, अगर परस्पर सहयोग के अर्थ को सही रूप में समझा जाता है तो यहॉ पर जो प्रक्रिया होगी वह प्रक्रिया प्रशंसा की होगी। अगर इस परस्पर सहयोग का अर्थ एक व्यापक संपूर्णता नहीं होती है तो वहां परस्पर सहयोग भी नहीं होगा। इस परस्पर सहयोग के अन्दर जो देखा गया उसकी समीक्षात्मक परीक्षा, जो असत्य है उसकी अस्वीकृति और जो सत्य है उसकी स्वीकृति, दोनों सहयोगी के बीच परस्पर संबंध तथा विभिन्न धार्मिक पूर्व–मान्यताओं के बीच एक वृहत् संवाद निहित है। अब तुलनात्मक धर्म का कार्य ऊपर वर्णित प्रक्रियाओं द्वारा मनुष्य और उसके विश्व के साथ संबंध में एक व्यापक समझ को प्राप्त करना होगा। यह व्यापक समझ तभी संभव होगी जब विभिन्न धर्मो के संप्रत्ययों एवं सिद्धांतो को समीक्षात्मक रूप में पूर्वाग्रहरहित होकर लाया जायेगा और उनकी तुलना की जायेगी, उनकी पूर्वमान्यताओं एवं विभिन्न अर्थों को प्रकाश में लाया जायेगा तथा उनकी भाषा में ही विभिन्न संप्रत्ययों एवं सिद्धांतो के बीच समन्वय स्थापित किया जायेगा या प्रशंसा की भावना जाग्रत की जायेगी या उनके बीच संवाद स्थापित किया जायेगा।

अन्त में, धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन या तुलनात्मक धर्म के प्रयोग से एक व्यावहारिक लाभ स्पष्ट रूप से दिखता है। पूर्व और पश्चिम की समस्या तथा आतंकवाद की समस्या का बहुत हद तक समाधान हो सकता है। जब सभी धर्मावलम्बी विभिन्न धर्मों के अंतर्निहित विचारों से अवगत हो जाते हैं तो उनके अन्दर पल रही कटुता–संकीर्णता समाप्त हो जायेगी तथा परिणाम यह होगा कि उनके अन्दर सभी धर्मों के प्रति आदर एवं सहानुभूति की भावना जगेगी। धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में अनेक समस्याऍ हैं और रहेंगी जिनमें से कुछ को मैंने रखा और उनपर एक समीक्षात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया। आवश्यकता इस बात की है कि तुलनात्मक धर्म के अध्ययन के लिए पूर्व और पश्चिम के सभी विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में स्वतंत्र विभाग खोले जांय और इसके लिए परिषद् की ओर से प्रयास किया जाना चाहिए। प्रो0 अरूण कुमार मुखर्जी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होने कोलकाता में तुलनात्मक धर्म अकादमी की स्थापना की है जहॉ पर तुलनात्मक धर्म पर विस्तार पूर्वक विवेचन हो रहा है।

सेवानिवृत्त आचार्य एवं प्रधानाचार्य
किसान कॉलेज, सोहसराय, नालन्दा, बिहार

टिप्पणियाँ

1. लुइस एच0 जार्डन, कम्पैरेटिव रिलिजन : इट्स जेनिसिस एण्ड ग्रोथ, ऐडिनवर्ग 1905, पृ0–11.
2. ज्योफि पैरिन्डर, कम्पैरेटिव रिलिजन, पृ0 14–15
3. ई0 रायस्ठनपाइक द्वारा संपादित इनसाइक्लोपेडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, पृ0 320
4. ह्यस्टन स्मीथ, वही।
5. द लाइफ एण्ड लेटर्स ऑफ फ्रेड्रिक मैक्समूलर, 21, पृ0 464
6. मैक्समूलर, इन्ट्रोडक्सन टू द साईस ऑफ रिलिजन पृ0–29
7. डा0 राधाकृष्णन्, धर्म : तुलनात्मक दृष्टि में, पृ015
8. एम0इलियाडे द्वारा संपादित द इनसाइक्लोपेडिया ऑफ रिलिजन, खण्ड– 3, लंदन 1975, पृ0 578से उद्धृत।

भारतीय प्रमाण मीमांसा - एक विमर्श

डॉ. निर्मला कुमारी झा

भारतीय दर्शन में प्रमाण–विचार एक महत्वपूर्ण विषय माना गया है। इसका क्षेत्र अत्यन्त ही व्यापक है। शायद ही कोई ऐसा विषय हो जो इसके अन्तर्गत नहीं आता है। विषय चाहे जैसा भी हो, वह ज्ञेय होगा ही और स्वाभाविक रूप में उसका कोई न कोई ज्ञाता भी अवश्य ही होगा। कहा जा सकता है कि दृश्य जगत् की सभी वस्तुएं ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान, इन्हीं तीन स्तम्भों पर आधारित हैं। तत्त्वमीमांसीय विश्लेषण भी यही प्रमाणित करता है कि "ज्ञानं यदा तदा विद्यात्"। बहुत अर्थ में हमारी सोच ही हमारे आदर्श को निश्चित करती है। परन्तु ध्यातव्य भी है कि जीवन और जगत् का विश्लेषण जिस प्रकार से हमारे ऋषियों, चिंतकों आदि ने किया, उसी प्रकार ज्ञान के स्वरूप का विवेचन भी किया गया। ज्ञान के स्वरूप का चिन्तन अपने आप में अनेक प्रश्नों का जनक है। जैसे– क्या ज्ञान एक पदार्थ है, जिसका बोध किया जा सके, क्या यह ग्राह्य वस्तु है?, यदि हां, तो इसका ग्राहक कौन है?, यदि यह उत्पाद्य विषय है तो इसमें भाव, अभाव, विकास, ह्रास, इत्यादि स्थितियां भी अवश्य ही होंगी, इत्यादि। यही कारण है कि कतिपय मनीषियों ने यह मान लिया कि ज्ञान स्वयं अज्ञान की इतनी मोटी परतों के नीचे छिपा हुआ है कि गहरी छानबीन करने पर भी उसका वास्तविक पता नहीं लग सकता। अज्ञान की परतों को भेदकर जो व्यक्ति जहां तक पहुंच सका, वहीं पर उसने उसकी सत्ता मान ली। इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान की अपनी सत्ता नहीं है या ज्ञान सिर्फ अज्ञान का अभाव है। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान भले ही अपने आप में एक निरपेक्ष सत्य क्यों न हो, परन्तु जब हम इसे परिभाषित करने लगते हैं तब वह सापेक्ष परिधि के अन्तर्गत आ जाता है, जो कि ज्ञाता की सीमित शक्ति के कारण होता है। पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट की उक्ति को भी इस संदर्भ में उद्धृत किया जा सकता है। जिज्ञासु सत्य के एक अंश को ही पूर्ण समझने की भूल कर बैठते हैं। अतः ज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ भी प्राचीन विचारकों ने कहा है उस पर भी विवाद है तथा आधुनिक विद्वानों के विचारों को भी अन्तिम सत्य नहीं कहा जा सकता।

व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञान, बुद्धि इत्यादि सभी समानार्थक शब्द माने जाते हैं। ज्ञान का अर्थ है– जानना। समस्त व्यवहार का हेतु या कारण ज्ञान ही है। तर्कभाषा में भी कहा गया है– 'सर्व व्यवहारहेतुर्ज्ञानम्' ।[1] ज्ञान विषयों का प्रकाशक है न कि कारक। वस्तु तो पहले से ही है, परन्तु ज्ञान होने से पहले यह अज्ञात होता है, अर्थात् अंधकार में रहता है। ज्ञात होने के बाद वह प्रकाशित हो जाता है। अतः इसे प्रकाश रूप कहा गया है। ज्ञान को विषयानुभव भी कहा गया है। अनुभव यथार्थ भी हो सकते हैं और अयथार्थ भी। यथार्थ अनुभव को प्रमा और अयथार्थ अनुभव को अप्रमा कहा गया है। *तर्कसंग्रह* के अनुसार जो वस्तु जैसी है, उसका उसी रूप में ज्ञान होना तत्त्वानुभव है और वही यथार्थ ज्ञान या प्रमा है– 'तद्वतितत्प्रकारकानुभवः प्रमा'। इसके विपरीत जो वस्तु जैसी है, उसका उसी रूप में अनुभव न होकर किसी दूसरे रूप में अनुभव होना अयथार्थ ज्ञान या अप्रमा है– पुनश्च 'तद्भाववति तत्प्रकारकानुभवः अप्रमा'। महर्षि वात्स्यायन ने *न्यायभाष्य* में स्पष्ट कहा है कि वस्तु की यथार्थ प्रतीति ही प्रमा है– 'तदर्थविज्ञानं सा प्रमा'।

ज्ञान के स्वरूप–विश्लेषण के साथ ही भारतीय चिन्तकों ने इस विषय पर भी गहन चिन्तन किया है कि ज्ञान का ज्ञान किस प्रकार होता है? ज्ञान के ज्ञान की समस्या के संदर्भ में भारतीय दार्शनिकों ने प्रमाण और प्रमेय की चर्चा की है। प्रमाण की परिभाषा तथा भेद पर मतभेद होते हुए भी एक बात से सभी सहमत हैं कि प्रमेयों (पदार्थ) का ज्ञान प्रमाण द्वारा होता है। साथ ही यह विचार भी महत्त्वपूर्ण है कि प्रमाण के प्रामाण्य की कसौटी क्या है? इसी संदर्भ में प्रामाण्यवाद की चर्चा भी की गयी है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन में प्रामाण्य की मुख्यतः दो समस्याएं हैं– (1) प्रामाण्य की उत्पत्ति कैसे हुई और (2) इसका ज्ञान कैसे होता है। यह स्वतः होता है या परतः ? और यही बात अप्रामाण्य के संबंध में भी सही है। कुल मिलाकर ऐसे कहा जा सकता है कि प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः होती है या परतः तथा इसका ज्ञान स्वतः होता है या परतः, इसे ही स्वतः प्रामाण्यवाद तथा परतः प्रामाण्यवाद कहा गया है। इसे लेकर भारतीय दर्शन में चार प्रकार के मत हैं –

न्याय दर्शन परतः प्रामाण्यवाद को प्रतिपादित करता है, जबकि सांख्य दर्शन स्वतः प्रामाण्यवाद तथा मीमांसा मत में प्रामाण्य स्वतः है और अप्रमाण्य परतः है। बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रामाण्य परतः है, जबकि अप्रामाण्य स्वतः होता है।

'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्या समाश्रिताः
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः
प्रथमः परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः
प्रामाण्यं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्।'

व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाण शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु और ल्युट् प्रत्यय के योग से बना है। ल्युट् प्रत्यय का अर्थ साधन या कारण है। साधन की व्याख्या दो प्रकार से की गयी है– प्रथमतः जिस साधन के द्वारा ज्ञान प्राप्त हो (प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्) वही प्रमाण है। द्वितीयतः प्रमा या यथार्थ ज्ञान के कारण को प्रमाण कहते हैं। दोनों ही अर्थ में प्रमाण शब्द करण अर्थ का द्योतक है– "उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधायिनो हि प्रमाणशब्दः" ।[2] संक्षेप में कहा जा सकता है कि करण रूप प्रमाण का फल प्रमा या यथार्थ ज्ञान है– "प्रमाकरणं प्रमाणम्।"[3] करण भी दो प्रकार के होते हैं– साधारण और असाधारण। साधारण करण वे हैं जिनकी अपेक्षा सभी कार्यों के लिए है। न्यायदर्शन में ऐसे करण या कारण की संख्या आठ बतायी गयी है– ईश्वर, उनका ज्ञान, उनकी इच्छा, उनका प्रयत्न, अदृष्ट, कार्य का प्रागभाव, दिक् तथा काल। इनसे भिन्न किसी विशेष कार्य, जैसे– घट का कारण घटत्व है, अर्थात् जो कारण व्यापार द्वारा किसी कार्य का असाधारण कारण होता है, वही करण कहलाता है– "यस्य कार्यात् पूर्व भागो नियतोऽनन्यथा सिद्धश्च तत् कारणम्।"[4] इसी असाधारण कारण को करण कहते हैं जो अत्यंत साधक है।

प्रमाण का स्वरूप : महर्षि वात्स्यायन के अनुसार प्रमाण का स्वरूप अर्थत्व है। अर्थात् प्रमाण से अर्थ या विषय का ज्ञान होता है और विषय ज्ञान से विषय के प्रति प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। अतः प्रमाण अर्थवत् है। प्रमाण के संबंध में एक प्रश्न है कि यह चेतन है या अचेतन? इस संबंध में अनेक विवाद हैं, परंतु अन्तिम रूप से यह कहा गया है कि चूंकि प्रमा के कारण चेतन और अचेतन दोनों ही हैं, अतः प्रमाण के स्वरूप को भी दोनों ही प्रकार से समझा जा सकता है। प्रमाण को प्रमा का करण तथा प्रमा के साधन के रूप में भी जाना गया है– 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्।' आचार्य धर्मकीर्ति ने अविसंवादी ज्ञान को ही प्रमाण कहा है– "प्रमाणमविसंवादीज्ञानम्"[5]

प्रमाणों की संख्या : प्रमाण की संख्या को लेकर भारतीय दर्शन में मतभिन्नता पायी जाती है, जो कि निम्न प्रकार से है –

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौपुनः
अनुमानं च तच्चापि सांख्याः शब्दश्च ते उभे।
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केवलम्।
अर्थापत्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः।
अभावष्टान्येतानि भट्टावेदान्तिनस्तया।
सम्भावैतिह्ययुक्तानि इति पौराणिका जगुः।"[6]

प्रमाणों की संख्या पर विचार करने से ऐसा लगता है कि प्रत्यक्ष ही एकमात्र ऐसा प्रमाण है, जिसे सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय एक स्वर से मानते हैं। अन्य सभी प्रमाणों के अस्तित्व में सभी सम्प्रदाय आस्था नहीं रखते।

चार्वाक दर्शन में प्रमाण विचार : चार्वाक प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार केवल इन्द्रियों के द्वारा ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। अतः वे अनुमान तथा शब्द का खंडन करते हैं। अनुमानजन्य ज्ञान व्याप्ति–सम्बन्ध के बिना संभव नहीं है और यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष द्वारा संभव नहीं है। भूत तथा भविष्य की बात को छोड़ भी दिया जाय तो वर्तमान समय में भी सभी धूमवान् पदार्थ को देखा नहीं जा सकता। अनुमान द्वारा भी इसकी स्थापना नहीं की जा सकती, क्योंकि उसकी सत्यता भी तो व्याप्ति पर ही निर्भर है– 'स्वयं असिद्धः कथं परान् साधयति।' शब्द द्वारा भी यह संभव नहीं है, क्योंकि शाब्दिक ज्ञान भी अनुमान पर ही निर्भर है। शब्द ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि विश्वसनीय व्यक्तियों द्वारा शब्द ज्ञान होता है जो कि एक प्रकार से प्रत्यक्ष ही है। चार्वाक अनुमान को भी प्रत्यक्ष पर ही आधारित मानते हैं, क्योंकि बादल देखकर ही वर्षा का अनुमान लगाया जाता है।

बौद्ध दर्शन में प्रमाण विचार : बौद्ध नैयायिकों ने स्पष्ट कहा है कि 'प्रमाणान्तरागृहीतनिश्चित प्रवृत्तिविषयार्थतया तत्प्राणे शक्तिः'। अर्थात् शक्ति रूप प्रामाण्य अर्थ से नहीं बल्कि अर्थ–दर्शन से उत्पन्न होता है। सामान्यतः अर्थ का धर्म दृश्यत्व होता है और ज्ञान का धर्म द्रष्टव्य होता है और दोनों ही एकांगी होते हैं। ज्ञान के लिए दोनों का सापेक्ष होना आवश्यक है। रत्नकीर्ति ने स्पष्ट कहा है कि साकार ज्ञानवादी अभ्युपगम में सारूप्यवशात् ज्ञानान्तर्गत ही दृश्य–दर्शनभाव रूपायित होता है।[7] सारूप्यवशात् अर्थ–दर्शन ही बौद्ध दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। इत्याकारक अर्थ–दर्शन ही प्रत्यक्ष और अनुमान के रूप में व्यवहृत होता है।

बौद्ध दर्शन ने प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण को आवश्यक माना है। बौद्धों का 'अपोहवाद' सर्वविदित सिद्धान्त है। कल्पनारहित तथा निर्भ्रान्त ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा गया है। इनके अनुसार स्वलक्षणात्मक परिभाषा संभव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक धारणा अपने प्रतिरूप के साथ सम्बद्ध होती है। जैसे– पीत तथा पीतेतर। यदि पीत के विषय में कुछ कहना हो तो व्यावृत्ति के नियम का प्रयोग करते हुए कहा जा सकता है कि 'पीत' वह है जो 'पीतेतर' नहीं है। यही सिद्धान्त अपोहवाद के नाम से प्रसिद्ध है। 'अभ्रान्त' शब्द का प्रयोग भी विवादास्पद है। दिङ्नाग के अनुसार प्रमाण दो ही हैं– प्रत्यक्ष तथा अनुमान। प्रत्यक्ष वह धारणा है जो कल्पना, नाम, जाति आदि से संपृक्त नहीं हो।

'प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्।
प्रमेयं तत्र सिद्धं हि न प्रमानान्तरं भवेत।' *प्र.समु.*

धर्मकीर्ति उपर्युक्त परिभाषा में अभ्रन्त शब्द को भी जोड़ देते हैं। अर्थात् प्रत्यक्ष से हमें स्वलक्षण वस्तु का ज्ञान होता है। बौद्ध नैयायिक केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही मानते हैं। अर्थात् इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क होने पर प्रथम

क्षण का वह ज्ञान, जो विकल्प, विशेषण इत्यादि से रहित होता है। दिङ्नाग ने *प्रमाण–समुच्चय* में कहा है –

'प्रत्यक्षं कल्पनापोढ़ं नामजात्याद्यसंयुतम्' ।

प्रत्यक्ष ज्ञान को चार कोटियों में बांटा गया है –

(1) इंन्द्रियज्ञान – जो इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है।

(2) मनोविज्ञान – इन्द्रिय ज्ञान के विषय के अनन्तर, विषय के सहकारी तथा समानान्तर प्रत्यय रूप इन्द्रियज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान।

(3) आत्मसंवेदन – सुख–दु:ख आदि के अपने स्वरूप में प्रकट होना। यह आत्मसाक्षात्कारि, निर्विकल्पक तथा अभ्रान्त ज्ञान है। तथा

(4) योगिज्ञान – प्रमाणों के द्वारा दृष्ट अर्थ का चरम सीमा तक ज्ञान होना। बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय स्वलक्षण है। वही परमार्थ 'सत्' है, क्योंकि उसी के द्वारा वस्तु में अर्थ–क्रिया की सामर्थ्य है।

अनुमान भी दो तरह के माने गये हैं– स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान में त्रिरूपलिंग से ज्ञान उत्पन्न होता है –

"तत्रस्वार्थ त्रिरूपाल्लिड्गाद्यनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्" ।[8]

परार्थानुमान में दूसरों को अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान कराया जाता है। धर्मकीर्ति के अनुसार –

"त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम् ।"[9]

ये तीनों रूप हैं– अनुपलब्धि, स्वभाव तथा कार्य।

परार्थानुमान भी दो प्रकार के हैं– 'साधर्म्यवत्' तथा 'वैधर्म्यवत्। इन दोनों के प्रयोग में केवल भेद है, अर्थ में नहीं।

जैन दर्शन में प्रमाण विचार : जैन दर्शन भी प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाणों को मानता है। उमास्वामी का कहना है कि वह यथार्थ ज्ञान, जिसे जीव बिना किसी की सहायता से स्वयं प्राप्त करता है, प्रत्यक्ष ज्ञान है। अतः स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष स्वतः प्रमाण है। सिद्धसेन दिवाकर ने भी स्पष्ट कहा है कि 'प्रमाण' तो वही 'ज्ञान' है जो अपने को तथा दूसरों को बिना किसी रुकावट के प्रकाशित करे। कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए जैनों को इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा नहीं होती। यही कारण है कि 'अवधि', 'मन:पर्याय' तथा 'केवल' ये ही वास्तव में तीन प्रत्यक्ष के भेद माने गये हैं। यद्यपि जैन दर्शन में दो ही प्रमाण माने गये हैं, तथापि किसी–किसी अन्य ग्रन्थ में चार प्रमाणों का भी उल्लेख है। अर्थात् उन लोगों के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य तथा आगम, ये चार प्रमाण हैं।

जैन विचारधारा के अनुसार 'हेतु' के द्वारा 'साध्य' वस्तु के ज्ञान को परोक्ष तथा उसकी प्रक्रिया को अनुमान कहते हैं। यह स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दोनों को ही मानता है। कई दृष्टान्तों को देखकर अपने मन में स्वयं को समझने के लिए किए गये अनुमान को स्वार्थानुमान कहते हैं, परन्तु यही बात जब दूसरों को समझाने के लिए की जाती है तो उसे परार्थानुमान कहते हैं। इसके लिए पंचावय अनुमान (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन) की सहायता ली जाती है। भद्रबाहु ने 'दशवैकालिक–निर्युक्ति' में 'दर्श–अवयव' वाले अनुमान का भी उल्लेख किया है।

न्याय दर्शन में प्रमाण–विचार : न्याय दर्शन चार प्रकार के प्रमाणों में विश्वास करता है– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। इन चारों ज्ञानों को उत्पन्न करने में जो सबसे अधिक साधक हो, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष उस असंगिदग्ध ज्ञान को कहते हैं, जो इन्द्रिय–संयोग से उत्पन्न होता है और यथार्थ भी होता है –

'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ज्ञानं प्रत्यक्षम्''[10]

परन्तु कुछ नैयायिक इसे स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार इन्द्रिय–संयोग के बिना भी प्रत्यक्ष हो सकता है। जैसे–सुख, दुःख इत्यादि मनोभावों का प्रत्यक्ष। साक्षात् प्रतीति को ही वे प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण कहते हैं, यद्यपि वे मानते हैं कि अधिकांश प्रत्यक्ष इन्द्रिय–संयोग के कारण ही होते हैं–

''ज्ञानाकरणं ज्ञानं प्रत्यक्षं''[11]

न्याय दर्शन में मुख्य रूप से लौकिक तथा अलौकिक प्रत्यक्ष को माना गया है। पुनः, लौकिक को बाह्य, मानस, निर्विकल्पक तथा सविकल्पक चार प्रकारों में बांटा गया है। अलौकिक प्रत्यक्ष को भी सामान्य लक्षण, ज्ञान–लक्षण तथा योगज तीन प्रकार से जाना गया है। इनका विस्तार से चर्चा करना यहां संभव नहीं है।

अनुमान प्रमाण को न्याय दर्शन पश्चात् ज्ञान भी कहता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञात को देखकर अप्रत्यक्ष या अज्ञात का ज्ञान है। यहां हेतु या लिंग 'अविनाभाव संबंध' या व्याप्ति संबंध होता है। बिना व्याप्ति संबंध के अनुमान संभव ही नहीं है। यहां भी स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान की चर्चा की गयी है, जिसका विशद् वर्णन किया जा चुका है। यह पंचावयव अनुमान में विश्वास करता है, जिसके मुख्य दो अंग हैं– 'व्याप्ति' और पक्षधर्मता', अर्थात् व्याप्ति युक्त 'हेतु' का 'पक्ष' में होना। 'पक्षधर्मता' के ज्ञान को ही 'परामर्श' कहा गया है। अनुमान में 'लिंग' का दर्शन तीन बार होता है। प्रथम धुआं का रसोईघर में, द्वितीय 'पर्वत' में और तृतीय उसी पर्वत में 'आग से व्याप्त धुआं' का और इसके पश्चात् ही 'अनुमिति' होती है। अतः कहा गया है– 'तृतीयलिंगपरामर्शः अनुमानम्।'

अनुमान को पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट– तीन प्रकार से विभक्त किया गया है। कारण के आधार पर कार्य का अनुमान, कार्य के आधार पर कारण का अनुमान तथा सामान्य रूप से प्रत्यक्ष के आधार पर परोक्ष का अनुमान ही क्रमशः इन्हें जाना जा सकता है।

वैशेषिक दर्शन में प्रमाण विचार : वैशेषिक और न्याय समान तन्त्र हैं। इनकी एक–दूसरे के साथ इतनी निकटता है कि इनका अलग–अलग विवेचन आवश्यक नहीं है। परन्तु कुछ अंतर भी है। प्रमाण विचार के संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि वैशेषिक दो ही प्रमाण को मानते हैं– प्रत्यक्ष तथा अनुमान। उपमान तथा शब्द का अन्तर्भाव वे इन्हीं दोनों प्रमाण में कर देते हैं। कुछ विचारक तो वैशेषिक को न्याय से अधिक प्राचीन मानते हैं। इस मत की पुष्टि वात्स्यायन के इस कथन से भी होती है कि गौतम के *न्याय सूत्र* के कतिपय अस्पष्ट अंशों की व्याख्या वैशेषिक दर्शन से होती है। इससे स्पष्ट है कि गौतम वैशेषिक के मूल सिद्धान्तों से परिचित थे। कुछ विद्वानों ने तो यहां तक कहा है कि वैशेषिक सिद्धान्तों की सिद्धि के लिए ही न्याय का उद्भव हुआ होगा।

सांख्य दर्शन में प्रमाण विचार : सांख्य दर्शन तीन प्रमाणों को ही स्वीकार करता है– प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द।

'दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणद्धित्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः।''[12]

किसी विषय का इन्द्रिय के साथ संयोग होने से जो साक्षात् ज्ञान होता है, वही 'प्रत्यक्ष' है। दूसरे में प्रत्येक ज्ञान के विषय के संबंध में पृथक्–पृथक् जो निश्चित ज्ञान है, वही प्रत्यक्ष है–

''प्रतिविषयाध्यवसायः'' ।[13]

सांख्य मत में कार्यों की संख्या तेरह है, जिनमें 'बुद्धि' 'अहंकार' तथा 'मनस्' अन्तःकरण हैं और पांच 'ज्ञानेन्द्रियां', तथा पांच 'कर्मेन्द्रियां' बाह्य करण हैं। अन्तःकरण धारण करते हैं और ज्ञानेन्द्रियां 'प्रकाश' करती हैं तथा कर्मेन्द्रियां 'आहरण' करती हैं।[14] इसमें बहिरिन्द्रिय 'द्वार' मात्र हैं, 'मन' संकल्प–विकल्प करता है, 'अहंकार' मुझे यह ज्ञान हुआ का बोध करता है और बुद्धि निश्चय करती है कि 'यह (नील) रूप है'। वस्तुतः सभी बातें बुद्धि ही करती है और करण उसके सहायक होते हैं।[15]

अनुमान का लक्षण न्याय मत की तरह लिंग और लिंगी के ज्ञानपूर्वक है। अनुमान को प्रथमतः दो भागों में बांटा गया है– वीत तथा अवीत। अर्थात् व्यापक विधि–वाक्य तथा व्यापक निषेध–वाक्य पर अवलम्बित। वीत के दो प्रकार हैं– पूर्ववत् तथा सामान्यतोदृष्ट। अवीत को ही कुछ नैयायिकों ने शेषवत् कहा है। इनकी व्याख्या न्याय प्रमाण के जैसी ही है। नैयायिकों के जैसे ही सांख्य भी पंचावयव अनुमान को प्रामाणिक मानते हैं।

'आगम' प्रमाण को ही आप्तवचन या शब्द कहा गया है। शब्द दो प्रकार के हैं– लौकिक तथा वैदिक। सांख्य लौकिक शब्द को स्वतंत्र प्रमाण की कोटि में नहीं रखता, क्योंकि यह प्रत्यक्ष तथा अनुमान पर आश्रित है तथा साधारण विश्वासपात्र व्यक्तियों के वचन हैं। वैदिक वाक्य ही शब्द–प्रमाण हैं, क्योंकि ये हमें उन अगोचर विषयों का ज्ञान कराते हैं जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान पर आधारित नहीं हैं। ये द्रष्टा ऋषियों के साक्षात् अनुभव हैं। फिर भी वे नित्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे द्रष्टा ऋषियों के दिव्य अनुभवों से उत्पन्न होते हैं और सनातन पठन–पाठन की परम्परा से सुरक्षित रहते हैं।

योग दर्शन में प्रमाण विचार : सांख्य की तरह योग भी प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द, ये तीन प्रमाण को मानता है। इन्द्रिय–संयोग के द्वारा वस्तु के आकार को प्राप्त 'चित्तवृत्ति' ही प्रत्यक्ष है। ज्ञानेन्द्रियां तो इनके द्वार मात्र हैं। अनुमान तथा शब्द प्रमाण की व्याख्या सांख्य के अनुकूल ही है।

मीमांसा दर्शन में प्रमाण विचार : मीमांसा दर्शन में अज्ञात तत्त्व के अर्थज्ञान को 'प्रमा' कहा गया है और इसी अर्थज्ञान को उत्पन्न करने वाला करण 'प्रमाण' है –

"कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अग्रहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्" ।[16]

अर्थात् जिस ज्ञान में अज्ञात वस्तु का अनुभव हो, अन्य ज्ञान से बाधित नहीं हो एवं दोषरहित हो, वही 'प्रमाण' है।

प्रमाण के प्रकार के संबंध में मीमांसा दर्शन में विवाद है। भाट्टमत में प्रमाण की संख्या छः है– प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि। प्रभाकर प्रमाणों की संख्या पांच ही मानते हैं, वे अनुपलब्धि को स्वीकार नहीं करते। प्रत्यक्ष तथा अनुमान विषयक धारणाएं यहां भी न्यायमत के जैसी ही हैं, परन्तु प्रक्रिया में कुछ भेद है। न्याय–वैशेषिक छः प्रकार के सन्निकर्ष को मानते हैं, जबकि भाट्ट ने केवल दो ही निकर्ष– संयोग तथा संयुक्त–तादात्म्य को माना है। समवाय संबंध को ये नहीं मानते। 'पंचावयव' वाक्य न मानकर सिर्फ प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त अथवा दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन, इन्हीं तीन वाक्यों को अवयव मानते हैं।

प्रभाकर 'अनुभूति' को ही प्रमाण मानते हैं। 'स्मृति' को वे प्रमाण नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्यक्ष में प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण होते हैं। प्रभाकर प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में आत्मा के साथ मन का, मन के साथ इन्द्रिय का, द्रव्य के साथ इन्द्रिय का तथा रूप आदि गुणों के साथ इन्द्रियों के सन्निकर्ष को मानते हैं। सभी गुणों का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। द्रव्य के ज्ञान के बिना रूप आदि गुणों का ज्ञान तथा कहीं रूप आदि गुणों के ज्ञान के बिना भी द्रव्य का ज्ञान होता है और यही न्याय से इसकी भिन्नता है।

अनुमान तथा उपमान प्रमाण विचार न्याय–वैशेषिक के समान ही है। शब्द प्रमाण दो प्रकार के हैं– पौरुषेय तथा अपौरुषेय। आप्त वाक्य पौरुषेय है और वेद वाक्य अपौरुषेय। ये शब्द स्वतः तो अदृष्ट हैं, परन्तु जब ये आप्त तथा वेदवाक्य के रूप में होते हैं, तब उनमें कोई दोष नहीं रहता। मीमांसा में शब्द तथा शब्द का अर्थ के साथ संबंध को नित्य माना गया है। वेद–वाक्य स्वप्रकाश भी हैं। प्रभाकर मत में शब्दविज्ञान के द्वारा आत्मा के सन्निकर्ष से अदृष्ट विषयों के ज्ञान को शब्द प्रमाण कहा गया है। वेदवाक्य ही और वैसे वाक्य जो 'विध्यर्थक' हैं– शब्द प्रमाण हैं। जैसे– 'स्वर्गकामो यजेत।'

दृष्ट या श्रुत विषय की उपपत्ति जिस अर्थ के बिना न हो, उस अर्थ के ज्ञान को अर्थापत्ति कहा गया है। जैसे– देवदत्त दिन में कुछ नहीं खाता, फिर भी मोटा है। यहां 'रात में खाने' की कल्पना की जाती है। प्रभाकर के मतानुसार किसी भी प्रमाण से ज्ञात विषय की उपपत्ति के लिए 'अर्थापत्ति' हो सकती है, केवल दृष्ट या श्रुत से ही नहीं।

प्रभाकर अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण को नहीं मानते। उनके अनुसार 'अभाव' का अपना कोई विषय नहीं होता जैसे 'इस भूमि पर घट नहीं है'। यहां हम घट को नहीं बल्कि भूमि को देखते हैं। अतः इस प्रकार का ज्ञान होता ही नहीं। अभाव 'अधिकरणस्वरूप' है, इसका पृथक् अस्तित्व नहीं है।[17] परंतु भाट्ट मत में अनुपलब्धि भी एक प्रमाण है, क्योंकि 'वह वस्तु नहीं है' का ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा तो हो नहीं सकता। भावपदार्थ के जैसे ही अभाव पदार्थ की अनुपस्थिति का भी ज्ञान होता है। अतः यह एक स्वतंत्र प्रमाण है।

'संभव' तथा 'ऐतिह्य' प्रमाण को कुमारिल एवं अन्य मीमांसकों ने स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना है। संभव को 'अनुमान' तथा 'ऐतिह्य' को 'आगम' के अन्तर्गत कहा है। 'प्रतिभा' अर्थात् 'प्रातिभज्ञान' सदैव सत्य नहीं होता, अतएव इसे भी उन्होंने प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किया है।

वेदान्त दर्शन में प्रमाण विचार : अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की भी सत्ता है। ब्रह्म का ज्ञान तो श्रुति प्रमाण से ही हो सकता है, जिसके लिए एकमात्र प्रमाण है– शब्द। अतः अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है, परन्तु माया या जगत् का ज्ञान भी सामान्य व्यक्तियों के लिए आवश्यक है। इसी दृष्टि से वेदान्त भी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि– छः प्रमाणों को मानता है। सांख्य के समान यहां भी प्रत्यक्ष में चित्तवृत्ति, अहंकार तथा मन को लेकर इन्द्रियों द्वारा विषय के साथ सम्पर्क में आते ही जड़ विषय का प्रत्यक्ष हो जाता है। अतः इसकी विशेष चर्चा आवश्यक नहीं है। व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति माना गया है और उसके करण को अनुमान। न्याय–वैशेषिक की तरह ये लोग 'तृतीय लिंग परामर्श' को अनुमान

नहीं मानते, क्योंकि वह 'अनुमिति' का हेतु नहीं है। इनके मत में केवल 'अन्वयानुमान' ही होता है, केवलान्वयी तथा व्यतिरेक अनुमान नहीं हो सकते।[18] अन्य प्रमाणों में मीमांसकों की बातों को ये भी स्वीकार करते हैं। वेदान्तियों का सिद्धान्त है– 'व्यवहारे तु भाट्टनयः'।

अंत में, भारतीय प्रमाण–मीमांसा की चर्चा तब तक पूरी नहीं हो सकती जब तक प्रमाण–व्यवस्था की चर्चा न हो। यहां एक प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रत्येक प्रमाण का अपना क्षेत्र निश्चित है या अवसरवश वे एक–दूसरे के क्षेत्र में अतिक्रमण भी कर सकते हैं? बौद्ध दर्शन में पहले विकल्प को माना गया है और इसी सिद्धान्त को वे प्रमाण–व्यवस्था कहते हैं। इसके विपरीत नैयायिकों का कहना है कि विभिन्न पदार्थों का ज्ञान विभिन्न अवसरों पर भिन्न–भिन्न प्रमाणों द्वारा हो सकता है, इसके अतिरिक्त कई संदर्भों में एक प्रमाण दूसरे प्रमाण का सहायक भी हो सकता है। जैसे– अनुमान का ज्ञान भी प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है और आप्त–पुरुष द्वारा कही गई बातों का भी हमें अन्ततः प्रत्यक्ष ही होता है। एक ही ज्ञान में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द की सहायता ली जाती है। ऐसे अनेकों उदाहरण हो सकते हैं जहां किसी एक प्रमाण का ही अपना निश्चित क्षेत्र होता है, परन्तु अधिकतर प्रमेयों में एक से अधिक प्रमाणों का समावेश होता है। यह प्रमाण–संप्लव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय प्रमाण मीमांसा का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है। ज्ञान जब तक प्रमाणित नहीं हो जाता, तब तक उसका कोई मूल्य नहीं होता। न्याय दर्शन में प्रमाण को ही प्रथम पदार्थ माना है। उदयानाचार्य ने तो प्रमाण को साक्षात् शिव ही कहा है और विश्वनाथ पंचानन ने इसे विष्णु के अर्थ में प्रयुक्त किया है। यद्यपि *न्यायसूत्र* में स्वयं गौतम ने भी ऐसे लोगों का उल्लेख किया है जो किसी भी प्रमाण की सत्ता को नहीं मानते, किन्तु ऐसे लोगों द्वारा त्रैकाल्यसिद्धि के रूप में जो तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं, उनका समाधान तो लोक व्यवहार से ही हो जाता है– ''प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः।''[19]

दर्शनशास्त्र विभाग,
बी.आर. अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय,
मुजफ्फरपुर- 842001, बिहार

संदर्भ

1. *श्रीमदभगवदगीता : 14/11*
2. *न्याय भाष्य : 1–1–3*
3. *मिश्र, केशव : तर्कभाषा; पृ. 18*
4. *तर्कभाषा : पृ. 29.*

5. प्रमाण वार्तिक : 1–3
6. मानसोल्लास : 2, 17, 20
7. रत्नकीर्ति निबन्धावली : पृ. 87
8. धर्मकीर्ति : न्यायबिन्दु, द्वितीय परिच्छेद, 3
9. वही : न्याय बिन्दु, तृतीय परिच्छेद, 1
10. न्यायसूत्र : 1–1–4
11. तत्त्वचिंतामणि : गंगेश उपाध्याय
12. सांख्यकारिका : कारिका सं. 4
13. वही : कारिका सं. 5
14. वही : कारिका सं. 32
15. वही : कारिका सं. 35
16. शास्त्रदीपिका : पृ. 45
17. वही : पृ. 83–85
18. वेदान्तपरिभाषा : अनुमानपरिच्छेद
19. न्यायसूत्र : 1–12–8

भारतीय दर्शन में सामाजिक बहिष्करण : मिथ्या अवधारणा

डॉ. एन.पी. तिवारी

भारतीय दर्शन के अंतर्गत कई ऐसी अवधारणाएं हैं जिनको लेकर भ्रान्ति उत्पन्न की जाती है। उन अवधारणाओं में एक प्रमुख अवधारणा है वर्णव्यवस्था की। मेरा एक मित्र है और सहकर्मी भी है। एक दिन उसने कहा कि वर्ण मतलब जाति। जो शिक्षक 27.28 वर्षों से अध्यापन–कार्य कर रहा हो, यदि उसे वर्ण और जाति का अन्तर नहीं मालूम हो तो शिक्षण–कार्य करना व्यर्थ है। यह अलग बात है कि जाति–व्यवस्था का आधार वर्णव्यवस्था है। जाति वर्ण की संतान हो सकती है, वर्ण नहीं। इसलिए वर्ण और जाति में अन्तर है। जाति की अवधारणा स्मृतियों और पुराणों में पायी जाती है, वेदों में नहीं। भारतीय दर्शन का आधार ग्रंथ वेद है, विशेषकर *ऋग्वेद* के *पुरुषसूक्त* में कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रमशः : ईश्वर के मुख, भुजाएं, जंघाओं एवं चरणों से उत्पन्न हुए हैं।[1] *मनुस्मृति* में भी कहा गया है कि लोकवृद्धि के लिए ईश्वर ने मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उरू से वैश्य तथा पांवों से शूद्र की सृष्टि की है।[2]

ईश्वर को सर्वशक्तिशाली परमपुरुष माना गया है, और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व एवं शूद्र (जिन्हें आजकल 'दलित' कहा जाता है) उस परमपुरुष के शारीरिक अवयव हैं। यदि शरीर का एक भी अवयव शरीर से अलग रहे, तो शरीर विकलांग हो जाता है तथा शरीर की कार्यक्षमता घट जाती है। यही कारण है कि *ऋग्वेद* के ऋषियों ने परमपुरुष (ईश्वर) के चार अंगों को 'वर्ण' के रूप में स्वीकारा है ताकि समाज ईश्वर की भांति ही सर्वशक्तिशाली हो। अतएव वैदिक भारत में वर्णव्यवस्था की आवश्यकता सामाजिक अवस्था को संतुलित करने एवं शक्तिशाली और समृद्ध करने के लिए थी। डॉ. भीखनलाल आत्रेय ने कहा है कि ''प्राचीन भारतीय समाज को सुव्यवस्थित करने में इससे (अर्थात् वर्णव्यवस्था) विशेष सहायता मिली है। प्राचीन भारत के द्विजातियों, खासकर ब्राह्मणों, ने जितना ज्ञान–भंडार समाज के लिए संचित किया, उतना प्राचीन समय में शायद ही किसी देश में हुआ होगा।''[3]

प्राचीन भारत अपने इसी गौरव के कारण दुनिया का 'गुरु' कहलाता था। परन्तु कालान्तर में अनेक विदेशी आक्रमणों के कारण इसके 'गुरुत्व' को अपमानित

ही नहीं, नष्ट कर दिया गया; और इसे नष्ट करने में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का हाथ सर्वाधिक है। साथ ही, तथाकथित प्रगतिशील साम्यवादी विचारकों ने भी भारतीय समाज की वैदिक संतुलित व्यवस्था को विचार के स्तर पर विनष्ट करने में कोई कोर–कसर नहीं रखा। स्वतंत्र भारत के सत्तासीन राजनैतिक दलों के साथ–साथ अन्य राजनैतिक दलों ने भी भारतीय समाज की प्राचीन संतुलित एवं समरूप व्यवस्था को कलंकित करने में कोई कमी नहीं दिखलायी है। परन्तु ये ऐतिहासिक विवेचन के विषय हैं। मेरा संबंध मूलतः दलितों की प्राचीन और अर्वाचीन स्थितियों के आकलन से है।

दलित, जैसा कि ऊपर कहा गया है, वर्ण–व्यवस्था के चौथे पायदान पर माना गया है अर्थात् वह समाज का निम्न तबका है। शरीर का निम्न भाग पांव है। निम्न होते हुए भी पांव का महत्व मुख, भुजाओं और जंघाओं से कम नहीं है, बल्कि अधिक है। पांव ही सम्पूर्ण शरीर का भार–वाहन करता है, और शरीर को गतिशील बनाता है। समाज की गतिशीलता का कारक दलित है। दलित ही वह वर्ण है जिस पर सम्पूर्ण समाज आधारित है। वह समाज का नींव है। अतएव दलितों की मजबूती से ही समाज की मजबूती होती है। यही कारण है कि वैदिक ऋषियों ने दलितों का एकमात्र मुख्य कार्य सेवा (अन्य वर्णों की) बतलाया है। यदि दलित भी अन्य वर्णों की तरह कार्य करने लगे, तो सामाजिक व्यवस्था चरमरा जायेगी। अतएव उसके लिए 'सेवा' ही एकमात्र धर्म बतलाया गया। वर्तमान सदी में भारतीय समाज की अव्यवस्था और उसके बिखराव का कारण 'सेवा' का अभाव है। जहां वर्णव्यवस्था समाज को सुदृढ़ एवं विकसित करती थी, वहां आज वर्णव्यवस्था के अभाव में समाज के विकास में बाधा पहुंचायी है।

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत सेवा को परम कर्त्तव्य माना गया है। सेवा का तात्पर्य तीनों वर्णों की सेवा से लिया जाता है, परन्तु सेवा का तात्पर्य चौथे वर्ण की सेवा भी है। अतएव दलितों की सेवा करना अन्य तीन वर्णों का कार्य रहा है। दलितों द्वारा की गयी सेवा का रूप अन्य वर्णों द्वारा की जाने वाली सेवा से भिन्न है। वैश्य दलितों के जीवनयापन की व्यवस्था करता था, तो क्षत्रिय उसकी सुरक्षा करते थे और ब्राह्मण अपने आशीर्वचन से उसे नवाजता था। सभी वर्णों में एक सामंजस्य और संतुलन बना हुआ था। परन्तु कालान्तर में आकर यह संतुलन बिगड़ने लगा। ब्राह्मणों का आशीर्वचन अपशब्दों एवं अपव्यवहार का रूप ले लिया। क्षत्रियों और वैश्यों द्वारा दलित प्रताड़ित किये जाने लगे। सेवा–भावना की कमी ने यह सब किया। विदेशी हुकूमतों ने दलितों के मन में सवर्णों के विरोध में विद्रोह पैदा कर दी। उस विद्रोह ने सामाजिक संतुलन को केवल बिगाड़ा ही नहीं, वरन् पारस्परिक सौहार्द को समाप्त कर दिया। मंडल–आयोग की सिफारिशों के लागू होने पर तो भारतीय समाज लहूलुहान हो गया जिसकी भरपाई आज भी नहीं हो पायी है।

आज भारतीय समाज घृणा, द्वेष, असौहार्द, रक्तरंजितता आदि में गुजरते हुए टुकड़ों–टुकड़ों में बंटता जा रहा है। तथाकथित प्रगतिशील विचारकों की दृष्टि में इसके मूल में वर्णव्यवस्था है जिसने दलितों को समाज की मुख्य धारा से बहिष्कृत कर दिया; अर्थात् उनका सामाजिक बहिष्करण हुआ।

इक्कीसवीं सदी में सामाजिक बहिष्करण एक नयी अवधारणा बनकर उभरी। परन्तु सच्चाई यह है कि सामाजिक बहिष्करण दलित–अवधारणा का ही नया नाम है। दलित को वर्णव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है, जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में बतलाया गया है। वह समाज की नींव रहा है। उसका कार्य केवल सवर्णों की सेवा करना ही नहीं था, जैसा कि अधिकांश इतिहासकारों एवं समाजदार्शनिकों ने बतलाया है। *महाभारत* में कहा गया है कि ''आजीविका नहीं मिलने पर वाणिज्य और पशुपालन का कार्य भी शूद्र करते थे।''[4]

स्पष्ट है कि दलित वैश्य की श्रेणी में भी आ सकते थे। इतना ही नहीं, दलित क्षत्रिय भी होते थे, यदि उसे शस्त्र का ज्ञान हो जाय; और इसका अनुपम उदाहरण एकलव्य है। कहा जाता है कि द्रोणाचार्य ने दलित होने के कारण एकलव्य को धनुर्विद्या नहीं सिखायी। परन्तु एकलव्य ने द्रोणाचार्य को गुरु मानकर उनकी प्रतिमा बनायी और स्वयं धनुर्विद्या सीखना शुरू किया। वह सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी बन गया। गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता है, इस कथा से तो यह स्पष्ट हो जाता है। यदि गुरु के बिना ज्ञान होता, तो एकलव्य को द्रोणाचार्य की मूर्ति स्थापित कर साधना करने की जरूरत नहीं पड़ती। परोक्षतः उसने गुरु से ही शिक्षा ग्रहण की; और उसके एवज में उसने गुरुदक्षिणा भी दी– अपने दायें अंगूठे को काटकर। यह वीरता का द्योतक है। जो ज्ञानी होता है, वह विनम्र एवं अहंकारविहीन होता है। जो आसानी से दान देता है, जिसमें साहस होता है, वह सच्चा क्षत्रिय होता है। अतएव एकलव्य दलित होते हुए भी ब्राह्मण और क्षत्रिय की श्रेणी में आता है। इस कथानक से यह बात स्पष्ट होती है कि वर्णव्यवस्था संकुचित नहीं थी, उसमें उदारता पायी जाती है।

इस उदारता की पुष्टि *मनुस्मृति* से भी होती है। कहा गया है कि ''शूद्र को भी चाहिए की वह दान दे, बल्कि वैश्वदेव अथवा नमस्कार आदि अल्प यज्ञों का अनुष्ठान करे, पितृश्राद्ध आदि कर्म करे, अपने कुटुम्बियों के भरणपोषण के लिए द्रव्य संग्रह करे।''[5] *याज्ञवल्क्यस्मृति* में भी कहा गया है कि ''शूद्र केवल सेवा पर निर्भर नहीं, वरन् अपनी जीविका के लिए वह बढ़ई, चित्रकार, पंच्चीकार, रंगसाज, नृत्य, गायन, वादन आदि का कार्य भी करते थे।''[6] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि दलित का कार्य मात्र सेवा करना नहीं था, वरन् वे सभी कार्य थे जिन्हें द्विज (स) वर्ण किया करते थे। अतएव वर्णव्यवस्था के अंतर्गत दलित समाज की मुख्यधारा से जुड़ा हुआ था। इसलिए सामाजिक बहिष्कार की अवधारणा थोपी हुई और षड़यंत्रकारी अवधारणा है।

यह अवधारणा बतलाती है कि दलित प्राचीन काल से लेकर आज तक भारतीय समाज की मुख्य धारा से अलग रहा है, उसे उपेक्षित रखा गया है। वह ब्राह्मणों एवं अन्य सवर्णों के दुर्व्यवहार का शिकार होता रहा है। सच्चाई यह है कि दलितों के साथ दुर्व्यवहार का आरम्भ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समय ही हुआ है। वैदिक काल में दलितों को भी वही सम्मान मिलता था, जो अन्य वर्णों को। यदि ऐसा नहीं होता, तो वेदों और *महाभारत* के प्रणेता वेदव्यास ऋषियों की श्रेणी में नहीं आते, और सभी वर्णों के लिए सदैव सम्मानीय नहीं होते। आज भी व्यासजी का सम्मान समाज का हर वर्ग करता है, तथाकथित साम्यवादी विचारकों तथा अहंकारी दलितों को छोड़कर। वेदनिन्दक ये विचारक मुट्ठी भर ही हैं, और वेद की निन्दा करने का अर्थ है कि स्वयं व्यासजी को अपमानित करना। प्राचीन भारत में जिस व्यासजी को सम्मान दिया जाता था, उसी व्यासजी को अर्वाचीन भारत में दलितों एवं तथाकथित प्रगतिशील साम्यवादी विचारकों द्वारा ही अपमानित किया जा रहा है। व्यासजी दलित थे। स्पष्ट है कि आज दलित ही दलित को अपमानित कर रहा है। कतिपय दलित राजनेता, अधिकारी, शिक्षक आदि सामान्य दलितों की सदैव उपेक्षा करता रहा है। सच पूछिए तो आज के भारतीय समाज में दलित ही दलितों पर अत्याचार और उसका शोषण कर रहा है। अतः सामाजिक बहिष्करण वर्णव्यवस्था के मूल में नहीं है, वरन् दलित–चेतना की अत्याधुनिक अवधारणा में है। दलितों को बरगलाने का कार्य अंग्रेजी हुकूमतों एवं मिशनरियों ने किया। उसके बाद स्वतंत्र भारत में सत्तासीन राजनेताओं एवं अन्य राजनैतिक दलों के साथ–साथ छद्म इतिहासकारों ने की और अभी भी कर रहे हैं। ऐसे इतिहासकारों ने वर्ण को ही जाति समझ लिया, और यहीं से भ्रान्तियों की एक जमात बनती चली गयी तथा भारतीय संस्कृति और दर्शन को सड़ी–गली परम्परावादी विचारधारा का पर्याय माना जाने लगा। परन्तु तथाकथित प्रगतिशील चिन्तकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि उनकी विचारधारा एकांगी और अस्वीकृत है जबकि भारतीय संस्कृति और दर्शन सम्पूर्णतावादी एवं स्वीकृत है।

जाति का आधार जन्म माना जाता है, जबकि वर्ण का आधार गुण, कर्म और स्वभाव है। स्वयं ईश्वर ने कहा है कि ये चारों वर्ण मेरे द्वारा गुणकर्मस्वभाव द्वारा बनाए गए हैं।[7]

तात्पर्य यह है कि समाज के वे व्यक्ति जिनमें ज्ञान प्राप्त करने और ज्ञान प्रदान करने की क्षमता होती थी, उसे ब्राह्मण कहा जाता था। 'ब्राह्मण' शब्द का शाब्दिक अर्थ है ब्रह्म को जाननेवाला। ब्रह्म परमतत्व है जिस पर सम्पूर्ण विश्व आधारित है। जिसने ब्रह्म को जान लिया, उसने विश्व के सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। अतएव वह पूर्ण ज्ञानी कहलाने लगता है। अतः ब्राह्मण वही है जो सभी विषयों का तर्कसंगत एवं पूर्ण ज्ञान रखता हो। ऐसा व्यक्ति, यदि दलित वर्ण में भी

जन्म लेता है, तो ब्राह्मण कहलाता है। अतएव वर्णव्यवस्था के अंतर्गत सभी वर्णों का एक–दूसरे में समावेश होता था। परन्तु जाति के संदर्भ में यह असंभव था। इसलिए वर्णव्यवस्था उदारवारी एवं प्रगतिवादी व्यवस्था थी, जबकि जाति–व्यवस्था रूढ़िवादी एवं संकीर्णतावादी विचारधारा है। मनु ने भी वर्णव्यवथा को अपेक्षाकृत उचित माना है, और इसलिए विभिन्न वर्णों में परस्पर वैवाहिक संबंध का प्रावधान भी बतलाया है। विभिन्न वर्णों के परस्पर अन्तर्वर्णीय विवाह का परिणाम ही 'जाति' है। मनु के समक्ष समस्या आयी कि ब्राह्मण–शूद्र, क्षत्रिय–शूद्र, वैश्य–शूद्र ब्राह्मण–वैश्य, क्षत्रिय–वैश्य, ब्राह्मण–क्षत्रिय में परस्पर वैवाहिक संबंध होने से उनकी संतान को इन चार वर्णों में नहीं रखा जा सकता है। अतएव मनु ने व्यवस्था दी कि इन वर्णों की ये संतानें जिस तरह का कार्य करेंगी, उन्हें उसी श्रेणी में रखा जाना चाहिए। जो सोने का कार्य करने लगा, वह सुनार कहलाया। जिसने लोहे का काम किया, वह लुहार कहलाया। लकड़ी का काम करने वाला बढ़ई, मिठाई आदि बनाने वाला हलवाई इत्यादि। स्पष्ट है कि जाति का आधार भी कर्म है। लेकिन बाद में चलकर जाति का आधार जन्म मान लिया गया और यहीं से भारतीय समाज की व्यवस्था चरमराने लगी। यदि भारतीय समाज की एकता एवं समरसता को पुनर्जीवित करना है, तो 'वोट' की राजनीति करनी छोड़नी होगी, छद्म–इतिहासकारों के मिथ्या प्रचार को झुठलाना होगा, दलितों के लिए सामाजिक बहिष्करण– जैसे भ्रान्तियों को मिटाना होगा और दलित वर्ग के उन लोगों को सजा देनी होगी जिसने अपने ही लोगों का शोषण किया है और कर रहा है जिसमें "सामाजिक बहिष्करण" जैसी झूठी अवधारणा को प्रचारित–प्रसारित करने का ठेका ले लिया है, उन्हें भी कठोर–से–कठोर सजा मिलनी चाहिए। ये सारे लोग, चाहे राजनैतिक हों या साम्यवादी विचारक या दलित–चेतना के मुट्ठी भर संवाहक, "सामाजिक बहिष्करण" की मिथ्या अवधारणा द्वारा भारतीय संस्कृति एवं दर्शन को अपमानित कर रहे हैं। इन्हें तथ्यपरक विचार प्रस्तुत करना चाहिए। तथ्यपरक विचार यह है कि समाज के सभी व्यक्ति, चाहे वह किसी वर्ण या जाति का हो, किसी धर्म या प्रजाति से संबंध रखता है, एकसूत्र में बंधे हैं। उस एकसूत्रता का नाम है मानवता। वर्णव्यवस्था तो उसी मानवता का द्योतक है। अतएव इस व्यवस्था के अंतर्गत दलितों का कदापि शोषण नहीं हो सकता था। यह तो एकत्व एवं समावेशन का प्रबल एवं सर्वोत्तम उदाहरण है। परन्तु मेरे मित्र की तरह जब से विद्वानों ने वर्ण को जाति मान लिया, तभी से एकत्व और समावेशन बिखर गया। तात्पर्य यह है कि वर्णव्यवस्था नहीं, वरन् जाति–व्यवस्था ने भारतीय समाज को बिखेर दिया, उसके एकत्व को छिन्न–भिन्न कर दिया। इसलिए आवश्यकता ही नहीं अनिवार्यता है कि जातिव्यवस्था का समूल नष्ट कर दिया जाय और वर्णव्यवस्था को अर्वाचीन भारतीय समाज के अनुकूल ढाला जाय। गांधी, जे.पी. और लोहिया ने अपने–अपने ढंग से जातिविहीन भारतीय समाज की

स्थापना का प्रयास किया। परन्तु अम्बेदकर, नेहरू जैसे तत्कालीन राजनीतिज्ञों ने इस प्रयास को 'वोट' की राजनीति के लिए असफल बनाने में कोई कोर–कसर नहीं छोड़ी। वैज्ञानिक समाजवाद का स्वप्न देखनेवाला नेहरू स्वप्न ही देखता रहा एवं भारतीय जनमानस को स्वप्न ही दिखाता रहा। नतीजन, आज भारतीय जनमानस भय, अविश्वास, घृणा आदि विकारों से आक्रान्त है। ऐसी आक्रान्तता में सामाजिक बहिष्करण की अवधारणा तो पूरी तरह भारतीय समाज को विनष्ट कर देगी। कहा जाता है कि झूठ के पांव नहीं होते अर्थात् झूठ तेजी से फैलता है। इतिहासकारों और राजनेताओं का झूठ इतनी तेजी से फैला कि सामाजिक बहिष्करण जैसी मिथ्या अवधारणा ने जन्म ले लिया।

परन्तु आज तथ्यपरक एवं सत्य अवधारणा की आवश्कता है और भारतीय संस्कृति एवं दर्शन का सत्य तथा तथ्य इतना ही है कि भारतीय समाज पूर्णतः एकत्व एवं समावेशन के साथ मानवतावादी रहा है और है। "विविधताओं में एकता" यही तो भारतीय समाज का मूलमंत्र रहा है। इसी मूलमंत्र को अपनाने की आज अनिवार्यता है।

निष्कर्ष : भारतीय दर्शन में सामाजिक बहिष्करण की मिथ्या अवधारणा का अभाव है। यहां तो सामाजिक अन्तर्वेशी या समावेश तथा समरसता का संप्रत्यय पाया जाता है।

दर्शनशास्त्र विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

संदर्भ

1. *ऋग्वेद, 10.90.12*
2. *मनुस्मृति, 1–31.*
3. *भीखनलाल आत्रेय, भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृ. 79.*
4. *वाणिज्य पशुपाल्यं च तथा शिल्पोऽपजीवनम्।*
   शूद्रस्यापि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते। महाभारत, शान्तिपर्व, 295–4.
5. *मनुस्मृति, 3.8.34.*
6. *याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.120.*
7. *भगवत्गीता, 4.13.*

चेतना - एक जटिल प्रश्न

डॉ. रमारानी

दार्शनिक प्रत्ययों में चेतना से अधिक शायद ही कोई महत्वपूर्ण प्रत्यय है जिसे न केवल दर्शनशास्त्र बल्कि मनोविज्ञान, जीव भौतिकी, जीव औषधि, स्नायु विज्ञान, शारीरिक विज्ञान, व्यावहारिक विज्ञान, परामनोविज्ञान, धर्म और योगशास्त्र सभी विषय जानने का प्रयास करते है। आज जब सम्पूर्ण विश्व हिंसा, आतंकवाद, पारिस्थितिकी–असंतुलन जैसी समस्याओं से जूझ रहा है तो मानवीय स्वरूप का अध्ययन दार्शनिक, दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया है क्योंकि कहीं न कहीं उपभोक्तावादी प्रवृत्ति मनुष्य को उसके मूल स्वरूप से दूर ले जा रही है और उसका व्यक्ति असंतुलित हो रहा है। मानव मनस् विश्व का नियन्त्रणकर्त्ता है। जैसा कि *महाभारत* में कहा गया है, "मैं तुम्हे यह बताता हूं, ब्रह्म रहस्य (सार तत्व): मनुष्य से अधिक महान् और महत्वपूर्ण कुछ भी नहीं है।"[1] चेतना के अन्तर्गत संज्ञान, भावना और संकल्प सभी आ जाते हैं जो परस्पर असंबंधित नहीं हैं। प्रस्तुत लेख में मैंने चेतना की भौतिकवादी व्याख्याओं की कठिनाईयों को दिखाते हुए एक विकल्प के रूप में शुद्ध स्वतन्त्र चैतन्य के सिद्धान्त की व्याख्या की है जो संप्रत्ययात्मक रूप से संभव है। अनुभव की दृष्टि से यह समस्त व्यवहार, प्रत्यक्ष या परोक्ष, की निरनतरता का प्रत्यक्षदर्शी, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का साक्षी तत्व है। तत्वमीमांसीय दृष्टि से यह स्वतः प्रकाश है और प्रकाश की तरह वस्तुओं को स्वयं भी और मनस् तथा इन्द्रियों के माध्यम से प्रकाशित करता है। चाहे हम इसे आनुभविक दृष्टि से समझना चाहें, चाहे तत्वमीमांसीय दृष्टि से, चाहे ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से चाहें नैतिक दृष्टि से यह हमारी पकड़ के बाहर चलता ही जाता है और इस रहस्यमय चेतना को जानने का हमारा कौतूहल और भी बढ़ता जाता है। क्या अनुभवकर्ता या ज्ञाता सम्पूर्ण रूप से स्वयं को जान सकता है ?

चेतना के स्वरूप से सम्बन्धित हमें विभिन्न सिद्धान्त मिलते हैं। एक ओर चार्वाक दार्शनिक, अणुवादी, व्यवहारवादी, निराकरणवादी, तादात्म्यवादी एवं क्रियावादी दार्शनिक चेतना की भौतिक व्याख्या देते हैं तो दूसरी ओर अद्वैतवेदान्ती और प्रत्ययवादी चेतना की आध्यात्मिक व्याख्या देते हैं। भौतिकवादी और तार्किक

व्यवहारवादी मानसिक व्यवहार से सम्बन्धित पदों का रूपान्तरण शारीरिक व्यवहार से सम्बन्धित पदों में करते हैं तो प्रत्ययवादी दार्शनिक शारीरिक व्यवहार से सम्बन्धित पदों को मानसिक व्यवहार से संबंधित पदों में रूपान्तरित करते हैं। वास्तव में यह आवश्यक नहीं है कि समस्त विचार शरीर के अंगों द्वारा अभिव्यक्त हो। व्यवहारवादी मानवीय व्यवहार का सूक्ष्म स्थितियों का विश्लेषण करते हुए चेतना की विभिन्न स्थितियों को आन्तरिक घटनाएं न मानते हुए विशिष्ट प्रवृत्तियां मानते हैं जो विशिष्ट परिस्थितियों में व्यवहार में कार्यान्वित हो सकती हैं। पर व्यवहार की विशिष्ट प्रवृत्तियों द्वारा भी सभी मानसिक संप्रत्ययों की व्याख्या संभव नहीं है। इसी तरह तादात्म्यवादी सिद्धान्त की अनुभव एवं न्यूरो प्रक्रियाओं में सह–सम्बन्ध या तादात्म्य संबंध है संतोषजनक नहीं है। मानसिक क्रियाएं विषयापेक्षी हैं तो मस्तिष्क की क्रियाएं दैशिक। अधिकांश पाश्चात्य एवं भारतीय दार्शनिक चेतना को वास्तविक या काल्पनिक विषयों से सम्बन्धित मानते हैं। ब्रेन्तानो के अनुसार मानसिक घटनाएं विषय–परक या उद्‌देश्यपरक हैं, जैसे आशा करना, विश्वास करना, कल्पना करना इत्यादि जिन्हें भौतिक पदों में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता। पुनः, मानसिक व्यवहार बौद्धिक या अबौद्धिक हो सकता है और हमें हमका सीधा–सीधा अपरोक्ष ज्ञान होता है जबकि मस्तिष्क की घटनाएं केवल घटित होती हैं और परोक्ष रूप से ही जानी जाती हैं। यह सही है कि व्यक्ति स्वयं अपनी मानसिक घटनाओं का सीधा–सीधा ज्ञान और अनुभव प्राप्त करता है पर कभी–कभी हम यहां भी सुधार करते हैं जब हम कहते हैं कि दर्द मेरे कन्धे में नहीं, हाथ में है। कुछ भाषावादी शारीरिक और मानसिक व्यवहार में भेद का कारण हमारी भाषा की संरचना मानते हैं। उग्र भौतिकवादी तो मानसिक घटनाओं को ही स्वीकार नहीं करते और मानसिक शब्दों की जगह न्यूरोपकर शब्दों का प्रयोग मानते है। यहां यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि न्यूरो वैज्ञानिक मानसिक अवस्थाओं और मस्तिष्क की अवस्थाओं में केवल सह–सम्बन्ध दिखाते हैं अभेद सम्बन्ध नहीं। कॉगनिटिव साइंस के समर्थक भी मानसिक गुणों को पृथक् स्थान देने का समर्थन करते हैं।

चेतना के भौतिकवादी सिद्धान्तों का निराकरण करते हुए बहुत से दार्शनिक मनस् और शरीर को दो पृथक् द्रव्य मानते हैं। पाश्चात्य दर्शन में सर्वप्रथम प्लेटो ने मनस् और शरीर के गुणों में अन्तर स्पष्ट करते हुए मनस् का अस्तित्व मृत्यु के पश्चात् भी स्वीकार किया। इस विचार को सुसंगत रूप से डेकार्ट ने दो पृथक् द्रव्यों के रूप में प्रतिपादित किया और मनस् को समस्त चिन्तन, कल्पना, संकल्प इत्यादि का कारण माना। पर द्रव्य की धारणा को लॉक ने अस्पष्ट तो ह्यूम ने मात्र बन्डल या प्रत्यक्ष का समूह कहा जो तीव्र गति से आते–जाते रहते हैं और जिनमें मात्र निरन्तरता, साम्य और कारण सम्बन्ध है। यदि एक व्यक्ति के प्रत्यक्षों के समूह

की दूसरे व्यक्ति के प्रत्यक्षों के समूह के अन्तर का आधार स्मृति माना जाए तो उसके लिये भी मनस् या प्रत्यक्षकर्ता का होना अनिवार्य है जिसे ह्यूम नहीं समझ पाए। इसी तरह यदि मनस् को विलियम जेम्स की तरह चेतना का प्रवाह माना जाए तो अचेतन स्थितियों की व्याख्या किस प्रकार होगी? यदि चेतना को निरंतर प्रवाह न माना जाए तो प्रत्यक्षों के निरंतर समूह सिद्धान्त का खण्डन होता है। यदि मनस् की एकता शरीर के साथ मान लें तो मृत्यु के पश्चात् मनस् का अस्तित्व तर्कतः असंभव होगा। पुनः, मनस् को मात्र मानसिक घटनाओं का समूह माना जाए तो यह प्रश्न उठता है कि वह क्या है जो उन्हें एक सूत्र में बांधता है? अतः मानसिक घटनाएं जिनका हम सीधा–सीधा अनुभव करते हैं बिना स्वयं या प्रत्यक्षकर्त्ता या अनुभवकर्त्ता के संभव नहीं हैं और किसी भी भौतिक या शारीरिक व्यवहार के पदों में इसकी सम्पूर्ण व्याख्या संभव नहीं है।

भाषीय विश्लेषणवादियों में गिल्बर्ट राइल ऐसे मनस् को जो प्रत्यक्ष नहीं दिख सकता, जो आकाश में नहीं है, जो भौतिक नियमों से संचालित नहीं हो और जो मृत्यु के पश्चात् भी रहता है 'मशीन में प्रेत' कहते हैं। कोई रहस्यमय मनस् नहीं है और न ही ह्यूम के समान राइल मानसिक प्रत्यक्ष मानते हैं। जिसे हम आत्मतत्व कहते हैं वह वास्तविक या संभवित व्यवहार की एक प्रवृत्ति है जो अपने कथन और कार्य में अभिव्यक्त होता है और विशिष्ट तार्किक कोटि के अन्तर्गत आता है। आत्म–ज्ञान और अन्य–मनस् के ज्ञान में कोई सैद्धान्तिक भेद नहीं है। पारम्परिक सिद्धान्त कि चैतन्य प्रकाश के समान है उपयुक्त नहीं है क्योंकि 'जानना' 'देखना' नहीं है। यह ज्ञान का सुनिश्चित स्रोत नहीं है क्योंकि हम आत्मज्ञान में भी गलती करते हैं। हर स्वचेतन ज्ञान उच्च श्रेणी का ज्ञान है जो पूर्व कर्मों पर दिया जाता है। जिसे हम अन्तरअवलोकन कहते हैं वह वास्तव में पुनरावलोकन है। इसके विषय व्यक्तिगत होते हुए भी कोई प्रेतमय मानसिक जगत् नहीं हैं और न ही कोई विशेष सुविधा प्राप्त एकान्त। जैसे हम जोर से बोलते हैं वैसे ही मन में एकान्त में बोलते हैं। कभी–कभी दूसरा व्यक्ति मुझसे बेहतर मेरे बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेता है। पुनः 'मैं' और 'तुम' कोई रहस्यमय सत्ता नहीं बल्कि व्यक्ति विशेष को निर्दिष्ट करने वाले सूचक शब्द हैं। मैं कभी शरीर, कभी स्वयं तो कभी वस्तु के लिये भी प्रयुक्त हो सकता है, जैसे, ''मैं पिलर बाक्स से टकरा गया', ''मैं आग के सामने अपने को गर्म कर रहा हूं,'' ''मुझे दफना देना जब मैं मरूं'' इत्यादि। हम पहले दूसरे के कर्मों पर निर्णय देते हैं तब स्वयं के कर्मों के पर निर्णय देते हैं। जैसे हर समीक्षा की समीक्षा सम्भव है उसी प्रकार हर मूल्यांकन का मूल्यांकन संभव है। इस क्षण के मैं को उसी प्रकार नहीं समझाया सकता जैसे डायरी की आखिरी घटना लिखने के लिये शेष रह जाती है।

पाश्चात्य दार्शनिक लॉक के अनुसार चेतना एक तरह की आन्तरिक इन्द्रिय है जिसके द्वारा चिन्तन, तर्कणा, ज्ञान, संकल्प इत्यादि संभव है। इसे अन्तर अवलोकन कह सकते हैं और हर मनुष्य के लिए अपनी मानसिक स्थितियों के प्रति चेतन होना अनिवार्य है। लाइबनित्ज ने इस सिद्धान्त में अनवस्था दोष दिखलाते हुए कहा कि यदि हर मानसिक स्थिति के लिये आत्मज्ञान अनिवार्य है तो आत्मज्ञान स्वयं भी मानसिक स्थिति है और इसलिये यह श्रृंखला कभी समाप्त नहीं होगी। इसलिए लाइबनित्ज, फ्रायड, रसेल इत्यादि दार्शनिकों ने अचेतन को प्रथम श्रेणी मानसिक स्थिति को स्वीकार करते हुए यह माना है कि मनुष्य अपनी प्रेरणाओं, इच्छाओं और विश्वासों के प्रति भूल कर सकता है। अधिकांशतः तर्कणा करना और साथ ही उसका प्रत्यक्ष करना संभव नहीं है। बाह्य वस्तुओं के प्रत्यक्ष के लिए तो इन्द्रियां हैं पर अन्तर अवलोकन के लिये कोई इन्द्रिय नहीं है और मनस् जैसी अभौतिक इन्द्रिय जो आन्तरिक घटनाओं का प्रत्यक्ष करे व्यवहारवादियों और भौतिकवादियों को मान्य नहीं है। भारतीय दर्शन विशेष रूप में उपनिषदों के दर्शन में अन्तःकरण जैसी आन्तरिक इन्द्रिय को स्वीकार किया गया है। थॉमस रीड के अनुसार मानसिक घटनाओं का एक मात्र प्रमाण चेतना है। पुनरावलोकन के लिये भी मानसिक घटनाओं के प्रति चेतन होना अनिवार्य है। पर बहुत से दार्शनिक ऐसा नहीं मानते। स्टाउट के अनुसार चेतना केवल मानसिक स्थितियों के प्रति स्वचेतन होना नहीं बल्कि स्वयं ही वे स्थितियां हैं चाहे हम इनके प्रति चेतन हों या न हों। मूर के अनुसार चेतना ही किसी तथ्य को मानसिक बनाती है। नीले का संवेदन हरे के संवेदन से भिन्न है पर दोनों के संवेदन होने के कारण उनमें कुछ उभयनिष्ठ तत्व हैं और यह तत्व चेतना है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या चेतना का निराकरण संभव है। प्राइस लाचारी से कहते हैं, "यदि कोई कहता है कि वह नहीं समझ सकता कि मैं क्या कह रहा हूं– तो मैं नहीं जानता कि उसको मदद कैसे करूं?"[2] मिलर कहते हैं, "तुम एक क्षण के लिये भी बिना चेतना के शरीर से आत्मसात् नहीं कर सकते। तुम चेतन आत्म तत्व हो"।[3] चेतना ही वह स्तर है जिसमें आभास और यथार्थ मिल जाते हैं। सभी अनुभव 'अनुभूति' के अर्थ में चेतन हैं और पुनरावलोकन भी अन्तर अवलोकन के बिना संभव नहीं है क्योंकि इसमें स्मृति निहित है और स्मृति अपने अनुभवों का अन्तरअवलोकन है। इसी प्रकार मैं क्या सोच रहा हूं इसका मुझे सीधे–सीधे आभास है जबकि दूसरा मेरे बारे में केवल अनुमान लगा सकता है। स्वयं राइल भी स्वीकार करते हैं, "यदि तुम अपने शान्त चिन्तन और अन्य कल्पनाओं की विषय वस्तु नहीं बताते तो मेरे पास और कोई सही तरीका जानने का नहीं है कि तुम स्वयं से क्या कह रहे थे या काल्पनिक चित्र बना रहे थे"[4] संवेदनाओं, भावनाओं और अनुभूतियों का सम्पूर्ण विश्लेषण शारीरिक व्यवहार के पदों में नहीं किया जा सकता। एयर का

प्रश्न है, "तब इन मानसिक अवशेषों का हम क्या करें: शान्त कथन, चुभन..... स्वप्न और दिवा–स्वप्न, कल्पना की प्रक्रियाएं.... एक साथ मिलकर, क्या ये मजबूत आन्तरिक जीवन नहीं बनाते?"[5] विज्डम का विचार है, "आत्मा की विशिष्टता यह नहीं है कि वह किसी को नहीं दिखाई दे सकती बल्कि यह है कि यह एक को ही दिखाई देती है।"[6] मेस कहते हैं, "मशीन में प्रेत, हम कह सकते हैं, मशीन स्वयं है जैसी यह स्वयं को प्रतीत होती है, और यह स्वयं को अत्यधिक आध्यात्मिक प्रतीत हो सकती है– 'शरीर–रहित भी।"[7]

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चेतना एक अत्यन्त ही जटिल प्रत्यय है। कुछ दार्शनिक बौद्धिकता को चेतना मानते हैं तो कुछ मननात्मक बोध को, कुछ अमूर्तन और प्रतीकीकरण को मुख्य स्थान देते हैं तो कुछ चेतना और विषय अपेक्षा को अभिन्न मानते हैं। एक ओर चेतना की भौतिकवादी व्याख्याएं तो दूसरी ओर प्रत्ययवादी दार्शनिकों द्वारा दी गयी व्याख्याएं। कुछ दार्शनिक ज्ञाता को चेतन और विचार को चेतना मानते हैं तो कुछ दार्शनिक इसे ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध मानते हैं। इसके अतिरिक्त विषय की चेतना, विषय के चेतना की चेतना, आत्मचेतना, स्वप्नचेतना, सुषुप्ति–चेतना इत्यादि का भी अनुभव किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा भी चेतना की कई अवस्थाओं की व्याख्या मिलती है।

चेतना के भौतिकवादी सिद्धान्तों की कठिनाइयों को देखते हुए एक विकल्प के रूप में शुद्ध स्वतन्त्र चैतन्य जैसे अध्यात्मवादी सिद्धान्त को स्वीकार किया जा सकता है। परचित्तज्ञान, मानसिक विचारों और दृढ़ संकल्प–शक्ति का शरीर पर प्रभाव, परामनोविज्ञान द्वारा पुनर्जन्म पर किये गये शोध और योगियों के अनुभव इसका समर्थन करते हैं। वास्तव में मानसिक सम्प्रत्ययों के द्वारा ही हमारी नियामक एवं मूल्यात्मक क्रियाएं संभव होती हैं और ये सामाजिक अध्ययन के लिये अनिवार्य हैं। मनुष्य मूलरूप से एक चेतन और आध्यात्मिक व्यक्ति है जिसमें असीमित सृजनात्मक शक्ति है और यदि इस शक्ति को विकसित किया जाए तो वह समस्त विश्व को परिवर्तित कर सकता है। पी.टी. राजू के शब्दों में, "मेरा भौतिक मैं– जैसा यह शरीर – मैं है, भौतिक अनिवार्यता के नियमों से संचालित है। पर मेरे शरीर में जीवन, यह जीवन शक्ति– मैं (जीवन का सिद्धान्त) मेरे भौतिक शरीर को और इसके द्वारा, मेरे जगत् को नियंत्रित करता है।"[8] अद्वैतवेदान्त को चेतना के सूक्ष्म रूप का विवेचन करने का श्रेय दिया जा सकता है। 'चेतना' और 'अनुभूति' समानार्थक है। यह एक अविभाज्य, परम, निरपेक्ष और अविशेष्य है जो अपने समक्ष प्रस्तुत विषयों के कारण अनेक, भिन्न–भिन्न और विभाज्य प्रतीत होती है। यह तुरीय स्थिति है जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में अन्तर्हित भी है और उनकी सीमाओं से स्वतन्त्र और उनसे परे भी है। यह ब्रह्म,

अद्वैव, परम तत्व, निरपेक्ष, पारमर्थिक सत्ता है जिसकी केवल अपरोक्षानुभूति होती है और जो स्वयं कभी भी ज्ञान या अनुभव का विषय नहीं हो सकता। कान्ट भी आत्मतत्व को अज्ञेय कहते हैं जो सभी ज्ञान और अनुभव की पूर्व–मान्यता है। पी. टी. राजू इस पारमर्थिक आत्मतत्व को रहस्यमय नहीं मानते। उनके शब्दों में, "मेरा पारमर्थिक आत्म तत्व, मेरे अनुभव का नियन्ता, मेरे व्यक्तित्व का मूल है, और अपनी संरचना, चरित्र और व्यवहार का आधार है– 'मै' का हर उच्च स्तर अपने निम्न स्तर से परे है और अपने निम्नतम स्तर तक यह 'मैं' हर उस स्तर को क्रियान्वित करता है जिसमें यह प्रवेश करता है।"[9] सांख्य इसे पुरुष कहता है जो परम चैतन्य, साक्षी, निर्विकार, सर्वज्ञ, निष्क्रिय और भोक्ता है जो कैवल्य ज्ञान तक प्राप्त कर सकता है। यह परम तत्व अनुभवकर्ता है जो असीमित ज्ञान, शक्ति, विश्वास और शक्ति से विशिष्ट है। ह्यूम के संदेहवाद का उत्तर हमें बौद्धदर्शन में मिलता है कि आत्म–तत्व का प्रत्यक्ष इसलिये नहीं होता क्योंकि यह केवल भौतिक और मानसिक तत्वों का संघात है जो क्षणिक होते हुए पुनर्जन्म उत्पन्न कर सकता है और अपने कर्मों के लिये नैतिक रूप से उत्तरदायी है। पाश्चात्य दर्शन में डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनित्ज, कान्ट, हेगेल जैसे अनेक दार्शनिक चैतन्य तत्व का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। संकल्प शक्ति, नैतिक और सौन्दर्यपरक जैसे आध्यात्मिक मूल्यों के निरन्तर विकास के लिये हमें स्वयं को एक चैतन्य सत्ता मानना पड़ेगा। जिस तरह एक ठोस पदार्थ को मानते हुये वैज्ञानिक अव्यक्त जड़ तत्व तक पहुंच सकते हैं उसी तरह हम स्वयं को चैतन्य सत्ता मानते हुए अपने स्वरूप की अव्यक्त और आश्चर्यजनक विशेषताओं का अनुभव कर सकते हैं। सार्वभौम प्रेम, अमरता इत्यादि जैसे गुणों का अनुभव मानवीय व्यक्तित्व को परिपूर्ण और सामाजिक सौहार्द बनाने में निश्चय ही सहायक है। आज भौतिकवादी और उपभोक्तावादी विचारधाराओं के कारण ही व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का, वस्तुओं का और वातावरण का शोषण हो रहा है। व्यक्ति को व्यक्ति से भिन्न मानने वाले दर्शन और केवल अर्थ, शक्ति और भौतिक समृद्धि को परम मूल्य मानने वाले दर्शन अनन्त आत्मा के प्रत्यय का निराकरण करते हैं जिसके अनन्त पक्ष हैं और जिसमें असीमित सर्जनात्मक शक्ति है। आज जिस अन्धकार और भ्रम की ओर सम्पूर्ण विश्व अग्रसर है उसमें केवल एक चैतन्य का दर्शन ही मानवता को एक सूत्र में बांध सकता है और इसके आन्तरिक प्रकाश के द्वारा ही एक सुसंगत विश्व–समाज की कल्पना की जा सकती है।

रीडर एवं अध्यक्ष

दर्शनशास्त्र विभाग,

सी.एम.पी. कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

NOTES AND REFERENCES

1. *Mahabharata, XII, 288/20 : na manushat shreshthataram hi kinchit.*
2. *Price, H.H., 'Some Objections to Behaviorism', Dimensions of Mind ed. Sidney Hook, Collier Books, New York, p. 79.*
3. *Miller, D.S., "Descartes' Myth' and Ryle's Fallacy", Journal of Philosophy, Vol. XL VIII, 1951, April 26, p. 272.*
4. *Ryle, G., The Concept of Mind, Hutchinson of London, 1949, p. 61.*
5. *Ayer, A.J., 'An Honest Ghoste', Modern Studies in Philosophy, Ryle, ed. Wood and Ptcher, Macmillan, 1971, p. 59.*
6. *Wisdom, J., 'The Concept of Mind'. Reprinted in The Philosophy of Mind, ed. V.C. Chappel, Prentice Hall, Inc., 1962, p. 53.*
7. *Mace, C.A., 'Some Trends in the Philosophy of Mind', British Philosophy in the Mid-Century, London" George Allen and Unwin Ltd., 1957, pp. 109-10.*
8. *Raju, P.T. 'Spirit, Being and Self', South Asian Publishers, New Delhi, Madras, 1982, p. 271.*
9. *Ibid., p. 269.*

प्रो. संगमलाल पाण्डेय की दृष्टि में धर्म का दार्शनिक अर्थ

प्रो. मृदुला रविप्रकाश

जिस प्रकार तुलसीदास जी ने *रामचरित मानस* की रचना गुरु–पद वंदना से प्रारम्भ की है –

'बंदउँ गुरु–पद पदुम परागा
सुरुचि सुबास सरस अनुरागा'

मैं अपने व्याख्यान का प्रारम्भ परम श्रद्धेय गुरुवर प्रो. संगमलाल पाण्डेय की चरण–वंदना से करती हूं। तुलसी ने मंगलाचरण में गुरु को गुरुता प्रदान करने वाले तीन तत्वों का उल्लेख किया है– कृपालुता, प्रखरता एवं प्रकाशमयता। कृपालुता में व्यापक करुणा का अवस्थान होता है, प्रखरता में नवीन सृष्टि की क्षमता होती है तथा प्रकाश–सम्पन्नता में शिल्प की भौतिक दुर्बलताओं को विनष्ट करने की क्षमता होती है तथा उसमें ज्ञानात्मक प्रकाश विद्यमान रहाता है। गुरु संगमलाल पाण्डेय का व्यक्तित्व इन गुणों का अनूठा दार्शनिक संगम रहा है।

उपनिषदों ने संसार में दो वस्तुओं का उल्लेख किया है– श्रेय और प्रेय। जो शाश्वत, कल्याणकारी, शांतिदायक और आनन्ददायक हो उसकी प्राप्ति श्रेय है, जैसे आत्मनुभूति। सांसारिक सुख, जैसे, राज्य, वैभव, संतान, धन आदि से प्राप्त सुख को प्रेय कहा गया है। विषय–भोग कितने ही दिव्य क्यों न हों वे शरीर द्वारा ही, एक सीमा तक भोगे जा सकते हैं और शरीर का भी किसी मशीन की भांति क्षरण होता रहता है। भोग की परिणति दुःख–सन्ताप में होती है, वहीं योग का अभ्यास आनन्ददायक होता है। श्रेय और प्रेय के बीच सामंजस्य दर्शन की प्रमुख समस्या रही है जिसका समाधान प्रो. पाण्डेय ने अपनी दिव्य–दृष्टि द्वारा करने का प्रयास किया है। यह प्रयास उनका वैज्ञानिक मानवतावादी धर्म है जो कि सुन्दर, स्वस्थ समाज के निर्माण का दिशा–निर्देश है।

पाण्डेय जी ने अपने चिन्तन में सदैव इस प्रश्न को प्रमुखता दी थी कि किस प्रकार सुन्दर एवं स्वस्थ समाज का सृजन हो। व्यक्ति के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में किस प्रकार सामंजस्य बैठाया जाय? पाण्डेय जी इन प्रश्नों का उत्तर

वैदिक परम्परा की सकारात्मक दृष्टि के आधार पर देते हैं। उनके अनुसार भारतीय चिन्तन एवं दर्शन एक सतत प्रवाह है जो केवल मोक्ष या परमात्मा को ही पाने का प्रयत्न नहीं करता बल्कि जीवन की उलझनों को भी सुलझाने का विधिवत प्रयास करता है। यह प्रयास हमारी कालजयी संस्कृति एवं धर्म पर आधारित है। मनुष्य समाज के प्रारम्भ से ही मानव के मन में धर्म–तत्व की खोज चल रही है। धर्म मनुष्य के भीतर से ही उत्पन्न है, वह बाहर की वस्तु नहीं है। धर्म मनुष्य के पक्ष में प्रकृतिगत है। धर्म मानव के स्वभाव से ऐसे जुड़ा हुआ है कि जगत् के इतिहास में ऐसा समय कभी भी नहीं आया जब मनुष्य की युक्ति और मनुष्य की बुद्धि ने इस जगत् के पास की वस्तु के लिए अनुसंधान न किया हो या प्राणपण से प्रयत्न न किया हो।

संभवतः यही कारण है कि भारत के विज्ञजनों में धर्म हमेशा शोध का विषय रहा। किसी ने इसे जीवन–शैली कहा तो कोई समाज का नियामक। लेकिन विवाद कायम रहा। परिणाम यह हुआ कि धर्म के मूल में अवांछित कर्मकाण्डों एवं आडम्बरों का समावेश होता गया तथा धर्म का स्वरूप इन विकृतियों के मिलने से बड़ा ही विद्रूप हो गया। इसका सीधा प्रभाव सामाजिक विखंडन के रूप में पड़ा जिसकी परिणति देश की गुलामी के रूप में हुई। 18वीं सदी के दौरान देश में चल रहे धर्म–सुधार आन्दोलन के प्रमुख चिन्तकों ने इस बात को महसूस किया कि आज हमारी राजनीतिक परतंत्रता, सामाजिक पिछड़ेपन और फटेहाली का सीधा सम्बन्ध धार्मिक विसंगतियों से है। जब तक सारी समस्याओं की इस जननी को नहीं समाप्त किया जायेगा किसी भी तरह के सुधार की अपेक्षा बेकार है। संभवतः यही कारण था कि पाण्डेय जी ने धार्मिक आडंबरों को समाप्त करने तथा धर्म के मानवतावादी पक्ष को स्थापित करने का प्रयत्न किया। पाण्डेय जी समाजवादी चिन्तक राम मनोहर लोहिया जी से प्रभावित थे। उनके अनुसार धर्म का स्वरूप समाज के बहुत बड़े तबके का शोषण कर एक खास वर्ग को लाभ पहुंचाने तथा वर्ग और जाति के आधार पर लोगों को बांटने के कारण शोषक का हो गया था। इसलिए पाण्डेय जी धर्म के बहुजन हिताय वाली स्थिति में लाने के लिए उसके लोक–हितकारी स्वरूप का समर्थन करते थे। उनके अनुसार जब तक देश का एक भी व्यक्ति अपना पेट भरने को मोहताज है तथा चिथड़ों में लिपटा है तब तक किसी भी भारतीय को चैन नहीं लेना चाहिए। ऐसे में कहीं न कहीं से पाण्डेय जी की धर्म की अवधारणा वही मानी जा सकती है जो पुराणों और उपनिषदों में वर्णित है। यदि तुलसीदास के शब्दों में कहें तो 'पर हित सरिस धर्म नहीं भाई'।

पाण्डेय जी की आस्था *गीता* में भी थी। उनके अनुसार *गीता* विश्व को भारत के अनुपम योगदानों में से एक है। यह मानसिक सन्तुलन बनाए रखने और संकट की अवस्था में अविचलित भाव से उनका सामना करने की गतिविधियों के व्यवस्थित संचालन का ज्ञान देती है। मानवीय धर्म के धर्म–प्रबंधन के संचालन में

गीता पूर्ण रूपेण प्रासंगिक है और कालातीत है। *गीता* के कारण भारतीय समाज भौतिकवाद के साथ अध्यात्म को भी लेकर चला। *गीता* का मूलमंत्र निष्काम कर्म मानवीय धर्म की आधारशिला है। पाण्डेय जी के अनुसार किसी भी लक्ष्य–प्राप्ति में कार्य–संस्कृति का बड़ा योगदान होता है।

इस प्रकार पाण्डेय जी के अनुसार मानव–धर्म का सार –

चार वेद छह शास्त्र में बात मिली है दोय,
दु:ख दीन्हें दु:ख होय, सुख दीन्हें सुख होय।

अर्थात् लोकाराधन है। मानवता की आराधना ही ईश्वर की आराधना है। धर्म वह है जो व्यक्ति, समाज और जन–सामान्य को धारण करे। 'धर्म' शब्द के मुख्य तीन अर्थ हैं– (1) धारण करने वाला जीव, (2) पालन करने वाला ईश्वर (3) अवलम्बन देने वाला जगत्। मानव की संवेदनशीलता का विकास ही धर्म है। धर्म जीव के व्यक्तित्व के परिष्कार की एवं उस माध्यम से उसके सारे समाज पर पड़ने वाले प्रभाव की विद्या का नाम है। धर्म के तीन अंग हैं– (1) नीति ज्ञान अर्थात् नैतिकता पर आधारित ऐसा अनुशासन जो व्यक्ति की चेतना में संवेदना को जन्म दे सके। (2) आस्तिकता प्रधान तत्व–दर्शन अर्थात् मानव में पारस्परिक सामंजस्य एवं अनिवार्य घनिष्टता स्थापित करने वाला तर्क–सम्भव विवेचन (3) अनगढ़ मानव को मानव बनाने और उसे सही दिशा देने वाला गहन विज्ञान। पाण्डेय जी के अनुसार इस प्रकार का धर्म ही समाज में व्याप्त विषमताओं, घृणा, परस्पर द्वेष, भीषण गरीबी, दु:ख तथा अज्ञान आदि समस्याओं का हल निकालने की समग्र दृष्टि दे सकता है। यह सारी समस्याएं मनुष्य की प्रवृत्ति निज–स्वार्थ केन्द्रित होने के कारण ही हैं। व्यक्ति जब थोड़ा भी आध्यात्मिक होता है तो उसका स्व बढ़कर विराट की ओर बढ़ता है और तब उसे सब अपने लगने लगते हैं। वो सात्विक ऊर्जा तथा चेतना का केन्द्र होता है जो अपने सम्पर्क में आने वालों को ऊर्जावान एवं चेतना युक्त बना देता है। उसकी कार्य–संस्कृति दैवीय संपत्ति होती है जिसमें निर्भीकता, शुद्धता, आत्म–नियन्त्रण, त्याग एवं धर्म प्रमुख होते हैं।

पाण्डेय जी के अनुसार इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि धर्म सभी मूर्त और अमूर्त जरूरतों की पूर्ति चुटकी बजाते कर देने वाली जादू की पुड़िया है। धर्म की सत्ता से ही समाज, मानवता और देश तथा प्रकारांतर से विश्व–कल्याण की बात करते समय प्राय: यह कुतर्क किया जाता है कि धर्म के द्वारा क्या–क्या उपकार किया जा सकता है? वह क्या निर्धन का दु:ख दूर कर सकता है? यह ठीक उसी प्रकार की बात है जैसे कि एक ज्योतिषी के पास जाकर एक बच्चा बोले कि आप गणना कर यह बताएं कि आज मुझे मिठाई मिलेगी या नहीं और यदि ज्योतिषी ऐसा बताने में असफल रहे तो बच्चा पूरी ज्योतिष विद्या को ही गलत कहने लगे। लोग अज्ञान से घिरे होने के कारण कई बार बच्चों की तरह ही सोचने लगते हैं। धर्म

जगदातीत सत्ता का अनुसंधान होने के साथ–साथ मनुष्य तथा पशु में भेद बनाये रखता है। पाण्डेय जी के ये विचार बहुत ही प्रासंगिक हैं कि सभी प्राणियों में मात्र मानव ही ऐसा है जो ऊपर की ओर दृष्टि उठाकर देखता है। इसी ऊर्ध्व–दृष्टि अर्थात् ऊपर की ओर गमन और पूर्णत्व के अनुसंधान को ही परित्राण अथवा उद्धार कहते हैं। यह परित्राण अर्थ, वेषभूषा अथवा घर पर निर्भर नहीं करता। यह व्यक्ति के मस्तिष्क के भीतर ही आध्यात्मिक भाव के तारतम्य पर निर्भर करता है। उसमें ही मानव–जाति की उन्नति है, वही भौतिक और मानसिक उन्नति का मूल भी है। पाण्डेय जी का धर्म मानव–जीवन का सर्वांश है। यह त्रिकालिक है। यह केवल वर्तमान नहीं– भूत, भविष्य और वर्तमान सबसे इसका सम्बन्ध है।

प्रो. पाण्डेय जी की धर्म में अटूट श्रद्धा थी, क्योंकि उनके अनुसार धर्म की शक्ति महान् है और इससे भी अधिक महान् हैं वे लोग जो धर्म के वास्तविक मर्म को समझते हैं और उसके अनुरूप व्यवहार करते हैं। धर्म का वास्तविक अर्थ है कर्तव्य–परायणता। यह व्यक्ति या स्वयं के प्रति, परिवार के प्रति और मानव या प्राणिमात्र के प्रति कर्त्तव्य–शास्त्र है। यह सृष्टि का आधार है। यह मनुष्य की हर उस आवश्यकता को जो हर काल के मानव की स्वाभाविक आवश्यकता रही है, और रहेगी, को पूरा करता है क्योंकि धर्म मनुष्य–जीवन को धारण करने और उसे परिष्कृत करने की एक विधि है। उपनिषदों की भाषा में धर्म ईश्वरीय अर्थात् प्रकृति के नियमों का अनुपालन है और इससे विपरीत आचारण अधर्म है। इसी प्रकार संस्कृति वह है जो जीवन को परिमार्जित कर उसे एक अच्छी कृति का स्वरूप प्रदान कर सके। धर्म ही उन परम शक्ति का सृजन करने में सक्षम है जिससे सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् को सिद्ध किया जा सकता है। इसीलिए वैदिक साहित्य में धर्म को जीवन की पूर्ण इकाई माना है। चूंकि धर्म में संस्कृति और ईश्वर दोनों का सन्निवेश है इसलिए धर्म ही पूर्णरूपेण धारणीय है। पाण्डेय जी के अनुसार हमारी संस्कृति संस्कारों को भी समाहित करती है। हमारे सोलह संस्कार जीवन को पूर्ण करते हैं। चारों आश्रम और चारों पुरुषार्थ इन संस्कारों का आधार लेकर ही पूरे किये जा सकते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में धर्म ही मुख्य तत्व था जिससे सभी सुख प्राप्त किये जाते थे। वर्ण–धर्म, राज–धर्म, स्त्री–धर्म, पुत्र–धर्म, आश्रम–धर्म और समाज–धर्म समाज को संचालित करने वाली महत्वपूर्ण शक्तियां थीं और आज भी हैं। यह संस्कार और संस्कृति दोनों का रक्षक है। धर्म सत्य–झूठ, प्रेम–घृणा, अहिंसा–हिंसा, न्याय–अन्याय, मानवता–दानवता का भेद स्पष्ट कर अधर्म से बचाता भी है। यह मोक्ष व पुण्य–अर्जन का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। इसलिए धर्म तप है, धर्म ज्ञान है। धर्म ही शक्ति है, धर्म ही भक्ति है। यह जीवन–सोपान है। आज समाज में जो विकृति है वो धर्म–सोपान टूटने के कारण है जिसे बचाने की महती आवश्यकता है। जीवन में इसकी अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। धर्म केवल सिद्धान्त नहीं बल्कि जीवन–पद्धति

है इसलिए आचार–व्यवहार में इसका समावेश होना चाहिए। कर्म को पूजा समझ कर, उसे पूरा करने वाले व्यक्ति का प्रत्येक क्रिया–कलाप धर्म–सम्मत ही माना जाता है। अतः 'कर्त्तव्य परायणता' से युक्त व्यक्ति ही समाज की अपेक्षा सम्माननीय हैं, अभिनन्दनीय हैं। उन्हीं की यश–गाथा संसार में प्रसिद्ध होती है।

अपने भौतिक स्वरूप में यह धर्म आडम्बरों और समाज की कुरीतियों तथा विसंगतियों को दूर कर दरिद्रता के नाश की ओर उन्मुख, राष्ट्रीय स्वाभिमान के साथ–साथ विश्व–बंधुत्व को बढ़ाने वाला है। यह सर्वव्यापी है और सभी के हितों का साधन भी। अपने आध्यात्मिक पक्ष में पाण्डेय जी का मानव–धर्म अनन्त आत्मा और अनन्त ईश्वर के बीच अनन्त सम्बन्ध स्वरूप है जिसका अनित्य और क्षणिक मानव–जीवन के ऊपर कार्य देखकर मूल्यांकन करना अनुचित है। पाण्डेय जी के अनुसार भौतिक सुखों का अंतहीन भोग एवं इन्द्रिय सुख ही मानव–जीवन का लक्ष्य नहीं है। मानव अपनी बौद्धिक और एक हद तक आध्यात्मिक श्रेष्ठता के कारण ही प्रकृति के अन्य प्राणियों से अलग है। इसलिए प्रायः यह देखा जाता है कि मनुष्य इंद्रिय–सुख में जितनी संतुष्टि का अनुभव करता है, उससे अधिक सुख की अनुभूति वो अपनी बुद्धि–शक्ति के परिचालन में करता है।

ऐसे में धर्म का आध्यात्मिक पक्ष ही श्रेष्ठ है। इसके साथ ही हमें यह समझना होगा कि धर्म अपने विभिन्न स्वरूप में हमारे देश में हमेशा से चिन्तन–मनन का विषय रहा है, अतः इसके विषय में सभी कुछ लगभग जाना जा चुका है। जगत् के सभी धर्मों में उसके अवलम्बनकारी सदैव रहते हैं।

यद्यपि पाण्डेय जी ने अन्य चिन्तकों की भांति मानवमात्र को अस्तित्व–बोध कराया परन्तु व्यक्तिगत विकास की सलाह के साथ आस्था और अध्यात्म की वैज्ञानिक व्याख्या को महत्वपूर्ण माना है जिसने प्रो. पाण्डेय को महत्वपूर्ण अमिट स्मृति वाले दार्शनिकों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया। उनके उत्कृष्ट ज्ञान और विषय–ग्राह्यता को साधुवाद देना चाहिए। पाण्डेय जी ने प्राणिमात्र को महत्वपूर्ण बताने पर सदैव बल दिया "हर व्यक्ति की एक जैसी सत्ता है, एक–सी शुद्धता और सम्पूर्णता भी। संसार स्वतंत्रता, आश्रय और दासत्व का सम्मिश्रण है, लेकिन जीवन का प्रकाश है। स्व–बोध से सृजित प्रकाश, जो अनश्वर, शुद्ध और निर्दोष तथा पवित्र है वह स्वाधीन और अमिट है।" उनकी मान्यता का आधार यह बात है कि तमाम छुद्रताओं और कमियों के उपरान्त मनुष्य में स्व–सुधार का गुण है और जिसने समझने के बाद स्वयं को परिवर्तित कर लिया, उससे बड़ा, उससे बढ़िया और कौन हो सकता है ?

पाण्डेय जी परम सत्ता की प्राप्ति के लिए भक्ति की राह में भी विश्वास करते थे। उनका विश्वास था कि भक्ति का मार्ग सरलतम और प्राकृतिक मार्ग है उस ईश्वरीय सत्ता तक पहुंचने का, जहां तक हमारी निगाह नहीं जा पाती है। हां, बड़ी

हानि यह है कि इसके निम्न स्तर पर हम अक्सर डरावने धार्मिक हठ की ओर भटक जाते हैं। यह कोई सतही व्याख्या नहीं है। विभिन्न धर्मों और संप्रदायों के समर्थकों, श्रद्धालुओं के विवादों की समीक्षा कर पाण्डेय जी यह निष्कर्ष निकालते हैं। उनके अनुसार 'ज्यादातर जगह भक्ति के नाम पर आडंबर और सामान्य पूजा–पद्धति का चलन है, जो धार्मिक हठ का विस्तार मात्र है।' पाण्डेय जी मानते थे कि हर व्यक्ति की आवश्यकताएं और प्राथमिकताएं उसकी अपनी अनूठी 'मांग' से निर्धारित होती हैं, इसे समझने की जरूरत है। वे मनुष्य की संकुचित होती सोच को सही नहीं मानते थे, जिसमें खाने–पीने, जन्म लेने, पुनर्जन्म की आकांक्षा, मृत्यु के अनवरत क्रम का महत्वपूर्ण स्थान होता है। बावजूद इसके उन्होंने व्यक्ति की परिस्थति और परिवेश–जन्य जरूरतों और मांग को समझा और बताया कि इनके अलावा, कुछ और खास बातें हैं, जो आत्मा से जुड़ी हैं। उन्हें समझने की आवश्यकता है ताकि इस निस्सार जीवन को दिशा मिल सके और प्रभु की संतान होने की महानता हम महसूस कर सकें।

प्रो. पाण्डेय जी को बुद्ध बहुत प्रिय थे क्योंकि उन्होंने सामाजिक हित में स्वहित को कभी स्थान नहीं दिया। स्वयं की नश्वरता को नष्ट कर हम संसार को थोड़ा सा भी आधार दे सकें, तो इससे उत्तम कुछ और नहीं, यह गौतम बुद्ध का दार्शनिक सन्देश था जिससे प्रो. पाण्डेय प्रभावित थे और उन्होंने उनकी इसी दृष्टि का विस्तार किया। प्रो. पाण्डेय के अनुसार सम्पूर्णता की प्राप्ति के लिए जीवन का निवेश किया जा सकता है क्योंकि यह नश्वर है, सीमित है, इसलिए बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। पाण्डेय जी ने इस तथ्य को समझा और धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। आज आवश्यकता है कि हम प्रो. संगम लाल पाण्डेय के द्वारा दी गई व्याख्या को समझें और उस राह पर चलें जिस पर न पाखंड है न अंध–जड़ता; है तो बस परम सत्ता से साक्षात्कार का आनन्द। यह यात्रा –

असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय की है।

आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

योगानन्द के दर्शन में मानव-जीवन का लक्ष्य

डॉ. नितिश दुबे

परमहन्स योगानन्द आदिकाल से चली आ रही भारतीय ऋषि–परम्परा में एक महत्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने न केवल भारत वर्ष में अपितु अनेक देशों में सतत भ्रमण करते हुए भारतीय दर्शन एवं योग का प्रचार–प्रसार किया। बहुधा वैज्ञानिक–विवेचन को अधिक महत्त्व प्रदान करने वाले पाश्चात्य जगत् में उन्होंने भारतीय दर्शन तथा योग को आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर प्रतिपादित कर एक नवीन धार्मिक आन्दोलन को जन्म दिया। परमहन्स जी ने पाश्चात्य जगत् में अपने व्याख्यानों तथा साहित्य से जनमानस को भारतीय दर्शन की जटिल संकल्पनाओं से बचाते हुए, सामान्य जन की भाषा में तर्कपूर्ण तथा वैज्ञानिक शैली में धर्म तथा ईश्वर का व्यावहारिक एवं दैनिक जीवन में अपरिहार्य स्वरूप तो रखा ही, साथ ही ईश्वरोपलब्धि हेतु गृहस्थादि सभी आश्रमों तथा सभी आयु–वर्ग के लोगों के लिए सुगम साधना–विधि भी बताई। उन्होंने सभी इच्छुक साधकों को व्यवस्थित प्रशिक्षण देने के लिए कक्षायें चलाकर योग का प्रायोगिक प्रशिक्षण दिया। उन्होंने पाश्चात्य जगत् को भारतीय ऋषियों, मनीषियों द्वारा प्रतिपादित दर्शन, धर्म, एवं अध्यात्म द्वारा उद्गालित सत्य का दिग्दर्शन कराया। मैंने अपने इस पत्र में योगानन्द जी द्वारा प्रतिपादित किये गये मानव–जीवन के लक्ष्य का एक विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

मानव में चिन्तन–शक्ति के विकास के साथ ही उसके मन में सृष्टि एवं स्वयं के सम्बन्ध में अनेकानेक प्रश्न उठते रहे हैं। यह सृष्टि कैसे हुई? इसकी रचना किसने की? इसका कोई स्रष्टा है या नहीं? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है? साकार अथवा निराकार? वह कहां रहता है? इत्यादि प्रश्न एक के बाद एक उसके समक्ष आते रहे। इन्हीं प्रश्नों में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी सामने आता है कि मानव–जीवन का उद्देश्य क्या है? मानव–जीवन का आदर्श क्या होना चाहिए? जिसे पाने के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहे तथा उसे पाने के बाद परम सन्तुष्टि का अनुभव कर सके। सृष्टिकर्ता ने मनुष्य को इस जगत् में नानाविध दुःख भोगने के लिए क्यों जन्म दिया, तथा उसे इन दुःखों से मुक्ति किस मार्ग पर चलने से प्राप्त हो सकती है? मनुष्य शाश्वत सुख की प्राप्ति किस प्रकार करे ?

भारत के प्राचीन ऋषियों, मुनियों तथा मनीषियों ने इन प्रश्नों के उत्तर वैज्ञानिक रूप से खोजे। जैसे भौतिक–पदार्थ सम्बन्धी अन्वेषणों हेतु भौतिक पदार्थों के साथ प्रयोग एवं परीक्षण करने की आवश्यकता होती है, वैसे ही उन महान् ऋषियों ने बुद्धि और आत्मा से सम्बन्धित सत्य के अन्वेषण हेतु मनन की प्रणाली अपनायी एवं आत्मानुभूति द्वारा सत्य का ज्ञान प्राप्त किया। भारतीय दर्शन, वेद तथा अन्य प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ उन महान् ऋषियों के तत्व सम्बन्धी अन्वेषण एवं परीक्षण के परिणाम हैं। उन्होंने मानव–मात्र को आध्यात्मिक मार्ग दिखाया तथा उसे जगन्नियन्ता का साक्षात्कार करने की प्रेरणा दी। उसे बताया कि उसके जीवन का ध्येय परमात्मा से सायुज्य एवं सारूप्य लाभ करना है।

परमहन्स योगानन्द के अनुसार समस्त जड़–चेतन सृष्टि में चैतन्य व्याप्त है। विश्व–प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र वसु ने योगानन्द जी को बताया था कि धातु, वृक्ष एवं प्राणी प्रभृति, सभी एक ही सामान्य नियम के आधीन हैं। ये सभी मूलतः एक ही प्रकार से क्लान्ति तथा अवसाद का अनुभव करते हैं– आरोग्य लाभ या आनन्द–सिहरन के अथवा मरण का भी, एक ही प्रकार का स्थिर निस्पंद–भाव इनमें दिखाई देता है।[1] उन्होंने योगानन्द जी को केस्कोग्राफ की सहायता से कुछ पौधों, धातु के टुकड़ों पर प्रयोग कर यह प्रदर्शित भी किया कि इन पदार्थों के अन्दर की प्राण–शक्ति बाहरी उत्तेजना पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रियायें प्रकट करती हैं।[2]

परमहन्स जी की दृष्टि में सृष्टि के सृजन का उद्देश्य है कि उसमें व्याप्त चेतन उत्तरोत्तर उच्च अवस्था प्राप्त करने हेतु सर्वदा विकासशील रहे, जब तक वह अपने सृष्टिकर्ता विश्व–चैतन्य में पुनः विलीन होकर अक्षय आनन्द न प्राप्त कर ले। उन्होंने अपने एक व्याख्यान में सृष्टि–रचना क्रम का वर्णन करते हुए कहा है कि "ईश्वर नहीं चाहता था कि पदार्थ कुछ उससे भिन्न बन जाये, अतः उसने पदार्थ को स्वप्नवत् सत् से आवेशित कर दिया, जो विकास की प्रक्रिया द्वारा शनैः–शनैः जाग्रत होकर अनुभव करेगा कि पदार्थ और ईश्वर के विचारों का स्पन्दन एक ही तत्त्व है। जड़ सृष्टि में व्याप्त सत् की अभिव्यक्ति प्रथम द्वार है जिससे होकर जड़ सृष्टि माया से मुक्त होकर पुनः विश्व–चैतन्य की स्वतन्त्रता का लाभ करता है। तत्वों व खनिजों में व्याप्त यह चेतन सुप्तावस्था में रहता है। अतः उसे और अधिक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति प्रदान करने हेतु वनस्पति जीवन का प्रादुर्भाव हुआ।

परमहन्स जी के उपर्युक्त विचारों से सहजता पूर्वक यह समझा जा सकता है कि सृष्टि के अवयवों में स्वाभाविक विकासोन्मुख प्रवृत्ति है। वनस्पति में व्याप्त चेतन ने विकास कर प्राणी–जगत् को जन्म दिया। प्राणी–जगत् में भी विकास का यह क्रम सतत कार्यशील रहा, जिसके फलस्वरूप सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट कृति मानव है। मानव में भी अपने स्रष्टा अथवा स्वयं के ज्ञान की आकांक्षा विद्यमान है जो उसे अपने सत्, चित्, आनन्द स्वरूप की ओर लगातार खींच रही है। उस सत्, चित्,

आनन्द की प्राप्ति ही मानव–जीवन का उद्देश्य है। उन्होंने अपने एक व्याख्यान में कहा है कि "समस्त सृष्टि का उद्देश्य तुम्हें निर्भ्रान्त करने तथा इस प्रकार अपने पास बुलाने का है"।[3]

"एक दिन आयेगा जब इच्छा–शक्ति द्वारा सब कुछ प्राप्त करना सम्भव होगा। तुम जो कुछ प्राप्त करना चाहोगे, प्राप्त करोगे। मैंने अपने जीवन में बार–बार यह प्रदर्शित किया है। ईश्वर–प्राप्ति के दैव प्रेरित–उद्देश्य से दैव–प्रदत्त इच्छा–शक्ति का विकास, मानव–जीवन का एक मात्र उद्देश्य है। तुममें से प्रत्येक को उसने बनाया है तथा वह तुम सब में स्पन्दित हो रहा है। वह तुम्हारी चेतना में प्रवेश करने को बेचैन है, जिससे वह तुम्हें मुक्त कर सके।"[4]

एक अन्य व्याख्यान में परमहन्स जी ने आत्म–साक्षात्कार को इस जीवन का उद्देश्य बताया है। उनके मत से आत्मज्ञान ही इस जीवन का उद्देश्य है। "अपने को जानो, अपने हृदय में ईश्वर की उपस्थिति के सागर का अनुभव करो।[5] उन्होंने उद्घोष किया, "हम ईश्वर के पास से आये हैं और हमें उसी के पास जाना है।"[6]

परमहन्स जी ने एक अन्य प्रकार से भी मनुष्य के जीवन का एकमात्र उद्देश्य परमसत्ता की प्राप्ति प्रतिपादित किया है। बोस्टन के धर्म–सम्मेलन में दिये गये व्याख्यान में उन्होंने इस विषय पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला, जो बाद में *"साइंस आफ रिलीजन"* नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। उन्होंने कहा कि मानव के प्रत्येक कार्य के पीछे एक उद्देश्य होता है। मानव विभिन्न प्रकार के कार्य करता है। स्वाभाविक है उनके विभिन्न प्रकार के उद्देश्य भी होंगे। यदि मानव के विभिन्न प्रकार के कार्यों के पीछे एक सर्वनिष्ठ उद्देश्य खोजा जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि दुःख का परिहार व सुख की प्राप्ति ही मानव के समस्त कार्यों का एक सर्वनिष्ठ उद्देश्य है। पतंजलि योग–दर्शन में भी आने वाले दुःख को हेय बताया गया है:–

"हेयं दुःखमनागतम्"[7]

तात्पर्य यह है कि जो दुःख अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं, भविष्य में होने वाले हैं, उनका नाश–उपाय द्वारा अवश्य कर्तव्य है। इसलिए उन्हीं को हेय बताया गया है।

मनुष्य द्वारा दान, परसेवा, राष्ट्रसेवा, सत्ता की चाह, ज्ञान–प्राप्ति, विद्या–अध्ययन, कला साधनादि कार्यों का कारण उसकी इच्छा–पूर्ति की कामना है। यह कामना पूर्ण होने पर सुख और पूर्ण न होने पर दुःख होता है। किसी आवश्यकता अथवा इच्छा की पूर्ति जो सुख प्रदान करती है, वह अल्पकालिक ही होती है, यह सभी का अनुभव है। मानव ऐसा क्षण–भंगुर सुख नहीं चाहता। वह शाश्वत सुख अथवा आनन्द चाहता है। परमहन्स जी ने कहा है कि "हमारा लक्ष्य आनन्द प्राप्त करना है परन्तु त्रुटिवश सुख और प्रसन्नता को हम आनन्द समझ लेते हैं। वास्तव में सुख तथा आनन्द एक नहीं है।"[8]

योगानन्द जी ने सुख तथा आनन्द का अन्तर स्पष्ट करने के लिए पहले दुःख के कारण पर प्रकाश डाला है। उन्होंने *बाइबिल* के वचन, तुम जानो कि तुम ईश्वर के मन्दिर हो और तुममे ईश्वर निवास करता है,[9] की व्याख्या करते हुए कहा है कि "हम सब व्यक्ति के रूप में आनन्दमय सत्– ईश्वर – के परावर्तित रूप हैं। जैसे जल से भरे प्रत्येक पात्र में सूर्य की प्रतिमूर्ति दिखाई देती है, इसी प्रकार मनुष्य विभिन्न शरीर व मन रूपी वाहन धारण कर बहुत से जीवों के रूप में विभक्त तथा विश्वात्मा से भिन्न दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में मनुष्य व ईश्वर एक ही है तथा अलगाव अवास्तविक है।"[10]

जब मनुष्य ईश्वर की ही प्रतिकृति है तो वह दुःख व कष्ट से पीड़ित क्यों होता है। इसका उत्तर देते हुए परमहन्स जी कहते हैं कि आत्मा व शरीर की इस तादात्म्य–अनुभूति के कारण आत्मा में कुछ भौतिक व मानसिक प्रवृत्तियां प्रतीत होती हैं। इन प्रवृत्तियों को पूरा करने की इच्छा आवश्यकताओं को जन्म देती है, आवश्यकतायें दुःख को। इच्छा किसी प्रकार की हो, वह कष्टकारक ही होती है। इच्छा को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं, "इच्छा उत्तेजना की एक नई दशा है जो मन धारण कर लेता है।"[11]

इच्छा–पूर्ति न होने पर तो दुःख होता ही है, इच्छा पूर्ण हो जाने पर प्राप्त सुख भी अस्थाई ही होता है और शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। केवल उन पदार्थों की स्मृति रह जाती है जिनमें सुख प्राप्त हुआ था। अतः उन पदार्थों को पुनः प्राप्त करने की इच्छा होती है। चूंकि मन ही आवश्यकता उत्पन्न करता है और उसे पूरी भी करता है अतः सुख मन की सृष्टि है। कोई वस्तु या पदार्थ सुखदायक नहीं है। अस्तु, इच्छायें ही दुःख का कारण हैं व इच्छाओं के दमन का उपाय आत्माभिमान नष्ट करना है। जब भौतिक शरीर और आत्मा का भेद नष्ट हो जायेगा, आनन्द स्वतः प्रस्फुटित होगा।

सुख और आनन्द का अन्तर स्पष्ट करते हुए परमहन्स जी कहते हैं, "आनन्द में उत्तेजना नहीं है। यह पूर्ण शान्ति की अनुभूति है। अब दुःख नहीं है, ऐसी अनुभूति के प्रदूषण से मुक्त आनन्द ही हमारी शान्त प्रकृति की अनुभूति है। "आनन्दानुभूति के दो पक्ष हैं एक तो सुख–दुःख की अनुपस्थिति, द्वितीय परम शान्ति की श्रेष्ठ स्थिति। इसकी भी कोटि है। एक साधक उसका थोड़ा स्वाद पाता है जबकि एक सिद्ध पुरुष उससे प्लावित होता है।

आनन्द की प्राप्ति की सार्वभौमिक आवश्यकता इससे भी प्रमाणित है कि मानव सुख के किसी एक साधन से सन्तुष्ट नहीं होता। वह एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर भागता रहता है, और दुःख भोगता रहता है। अस्तु, मानव आनन्द ही चाहता है, सुख नहीं और वह आनन्द कुछ काल के लिए नहीं चाहता, प्रत्युत शाश्वत आनन्द चाहता है और ऐसा आनन्द यदि उसे सुप्तावस्था में प्राप्त हो तो

उसके लिए व्यर्थ होगा। वह ऐसा आनन्द नहीं चाहता। परमहन्स जी के शब्दों में "हम शाश्वत आनन्दमय चेतनावस्थित अस्तित्व चाहते हैं। सत्–चित्–आनन्द। हिन्दू इसी को परमेश्वर कहते हैं।[12] अस्तु, परमहन्स योगानन्द जी के अनुसार मानव–जीवन का एकमात्र उद्देश्य ईश्वर–प्राप्ति या आत्म–साक्षात्कार है। पतंजलि *योग सूत्र* में भी कहा गया है– "चित्त वृत्तियों के निरोध से द्रष्टा की अपने स्वयं में स्थिति हो जाती है। अर्थात् वह कैवल्यावस्था को प्राप्त हो जाता है।"[13]

स्पष्ट है कि परमहन्स योगानन्द जी के अनुसार आत्मसाक्षात्कार ही मानव–जीवन का मूल उद्देश्य है। यदि संसार का कोई कार्य मनुष्य का ध्यान ईश्वर से दूर करता है तो वह अनावश्यक (त्याज्य) है। उन्होंने *बाइबिल* की निम्नलिखित वाणी उद्धृत की है : "यदि तुम्हारी आंख तुम्हारा अहित करती है तो उसे निकाल कर फेंक दो। तुम्हारा समस्त शरीर नर्क में झोंक दे, इससे अच्छा है कि तुम्हारा एक अंग नष्ट हो जाये।" योगानन्द जी ने इसकी व्यवस्था की है कि इस वचन का तात्पर्य है कि जीवन में ईश्वर के ज्ञान से अधिक आवश्यक कोई वस्तु नहीं है, शरीर भी नहीं। जब तक अनुचित इच्छायें इन्द्रियों को पथभ्रष्ट करती रहेंगी, हम ईश्वर के प्रति विस्मरणशील रहेंगे।[14] मनुष्य माया के जाल में फंसकर सांसारिक पदार्थों में उलझ जाता है और ईश्वर को भूल जाता है।

उपाचार्य
स्नातकोत्तर अध्ययन एवं शोध विभाग दर्शनशास्त्र,
डी.ए.वी. (पी.जी.) कालेज, कानपुर

संदर्भ

1. *योगी कथामृत, पृष्ठ–99*
2. *वही, पृष्ठ–103–104*
3. *मैन्स इटरनल क्वेस्ट, पृष्ठ–46*
4. *वही, पृष्ठ–46–47*
5. *वही, पृष्ठ–398*
6. *वही, पृष्ठ–13*
7. *पातंजल योग–सूत्र, 2/16*
8. *साइंस ऑफ रिलीजन, पृष्ठ–8*
9. *वही, पृष्ठ–19*
10. *वही, पृष्ठ–19–20*
11. *वही, पृष्ठ–20*
12. *वही, पृष्ठ–35*
13. *योग–सूत्र– 1/3*
14. *मैन्स इटरनल क्वेस्ट, पृष्ठ–458*

किर्केगार्ड के दर्शन में सत्य का विषयिता स्वरूप

डॉ. द्वारका नाथ

विषयिता का प्रसंग किर्केगार्ड के लेखन में निरन्तर परिलक्षित होता है। किर्केगार्ड के पूर्व हेगेलवादी दर्शन को सामान्य तौर पर स्वीकृति प्राप्त थी। हेगेलवादी दर्शन ने वस्तुनिष्ठ चिन्तन के मूलभूत महत्व पर जोर दिया और राज्य के धर्म (डेनमार्क का राज्य चर्च : Danish state church) ने लीक पर बंधी–बधाई ईसाईयत की भावना को विकसित किया। हेगेलवादी दर्शन का स्पष्ट मत था कि दार्शनिक परिकल्पनाएं धार्मिक घोषणाओं से उच्चतर हैं। दार्शनिक परिकल्पनाएं जो वास्तविक को समझने की वस्तुपरकता की ओर ले जाती थीं, यह मानकर चलती थीं कि बुद्धि की इस पूरी प्रक्रिया से वैयक्तिक पक्षधरता (Personal involvement) समाप्त हो जाए, एक तरह की अनासक्ति, निर्लिप्तता प्रभावी रहे। बुद्धि, समझ के विषयिपरक तत्व इस प्रकार दबा दिये जायें जिससे वस्तुपरक बुद्धि द्वारा अपेक्षित चिन्तन प्राप्त हो सके। हेगेलवादी दर्शन ने इस प्रकार परिकल्पना की भावना विकसित की। इसी को किर्केगार्ड 'वस्तुनिष्ठता' (objectivity) शब्द से सम्बोधित करता है। अस्तित्ववादी शब्दावली में 'विषयनिष्ठता' एक निन्दा का शब्द बनकर रह गया।

हेगेलवादी दर्शन के उत्तर में किर्केगार्ड ने अपने अस्तित्व की दशा पर व्यक्ति के प्रतिबिम्बन पर बल दिया। किर्केगार्ड ने ईसाईयत के सिद्धांतो के आधार पर जीवन जीने पर बल दिया। हेगेलवादी दर्शन और ईसाई जगत् दोनों ने ही किर्केगार्ड के मत से वस्तुनिष्ठता को विकसित किया। वह सोचता था कि इस प्रवृत्ति को निश्चय ही रोका जाना चाहिये यदि डेनमार्क़ के ईसाईयों के जीवन को नवीनीकृत करना है।

हेगेलवादियों द्वारा वस्तुनिष्ठता पर दिये गये बल के विपरीत किर्केगार्ड ने विषयिता पर जोर दिया और इस प्रकार विषयिता बहुत से अस्तित्ववादियों के लेखन में चिरप्रतिष्ठित उत्कृष्ट सिद्धांत के रूप में व्यक्त हुई। ईसाईयत की शब्दावली में किर्केगार्ड ने बल देकर कहा कि विषयिता की समस्या सत्य में खोज की समस्या (Inquiry into the truth)[1] है।

किर्केगार्ड विषयिता पर बल देता है। पारम्परिक ढंग से यदि कहा जाय तो हम कह सकते हैं कि यह विश्वास के बजाय विश्वास किये जाने (Believingin)

की समस्या है। यह इस अर्थ में विषयनिष्ठ है कि यह व्यक्ति की चेतना की दशा को स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है। व्यक्ति को अपने ईसाई होने की दशा की जानकारी होनी चाहिए और ईसाईयत के सिद्धांतो के कठिन अनुशासन को नित्य प्रति अपने ऊपर लागू करना चाहिए। यहीं प्रतिबद्धता का प्रवेश होता है। प्रतिबद्धता विश्वास के बजाय विश्वास किये जाने की स्थिति है। इस स्थिति में सक्रिय भागीदारी, आसक्ति बनी रहती है।

हेगेलवाद और ईसाई जगत् दोनों की विषयनिष्ठता के प्रत्युत्तर में किर्केगार्ड व्यक्ति के जीवन में ईसाई सिद्धांतो की चेतना पर बल देता है और इसी के साथ यह भी चाहता है कि इन सिद्धांतों को कार्यरूप में परिणत किया जाय। व्यक्ति का ईसाई सिद्धांतो से व्यक्तिगत अस्तित्ववादी संबंध 19वीं शताब्दी की बुराईयों के खिलाफ किर्केगार्ड के जवाब के लिये निर्णायक रूप से महत्वपूर्ण है। किर्केगार्ड के मत से विषयिता आस्तिक के जीवन में ईसाईयत के सिद्धांतों का समावेशीकरण, विनियोग है।[2]

किर्केगार्ड के दर्शन में विषयिता की अवधारणा की कुछ विशिष्ट विशेषताएं निम्नलिखित हैं, जो इसके महत्व को उजागर करने में सहायक हैं।

विषयिता ईसाईयत के सिद्धांतो का विनियोजन (appropriation) और समावेशीकरण (assimilation) है। किर्केगार्ड ने हेगेलवादियों के विषयनिष्ठ चिन्तन के खिलाफ अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। इस तरह के चिन्तन का उसके लिये अर्थ था– बिना किसी अनुराग (passion) या मानवीय जुड़ाव के वस्तुनिष्ठ सत्य की खोज करना। वस्तुनिष्ठता में व्यक्तिगत जुड़ाव का पूर्ण अभाव था, लेकिन किर्केगार्ड के अनुसार ईसाईयत मूलतः एक जीवन–पद्धति (Way of life) है। इसके सिद्धांतो को दैनिक जीवन के कार्यों में शामिल किया जा सकता है। वे अमूर्त तरीके से चिन्तन किये जाने वाले सिद्धांत नहीं हैं।

विषयिता इस बात का निरन्तर अहसास है कि मनुष्य एक अस्तित्ववान व्यक्ति है। किर्केगार्ड इस बात पर बल देता है कि हमें मूर्त की अपेक्षा अमूर्त पर अनावश्यक बल नहीं देना चाहिये। जीवन एक स्थिर चीज नहीं है बल्कि एक सतत प्रक्रिया है और इसके लिये सतत प्रयास जारी रहना चाहिए; पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास करना जैसा कि ईसाईयत के सिद्धांतो द्वारा अपेक्षित है। यह उम्मीद करता है कि व्यक्ति को इसका अहसास होना चाहिये कि वह कैसे जीवन व्यतीत कर रहा है और कैसे उसने ईसाईयत के संदेशों को अपने जीवनचर्या में शामिल किया है।

विषयिता ही नैतिक है। नैतिकता का सारांश है– अपनी मान्यताओं को व्यवहार में परिणत करना। बिना कार्य के चिन्तन करना नैतिक के साथ सम्बद्ध होना नहीं है। अन्य शब्दों में, नीतिपरकता करना है, सोचना नहीं। (ethical is a doing, not a thinking)। इस प्रकार कार्य (action) और प्रतिबद्धता (commitment) विषयनिष्ठता के महत्वपूर्ण पक्ष हैं।

विषयिता निर्णय (Descision), चुनाव (choice) और अनुराग (passion) है। नैतिक जीवन जीने के लिये व्यक्ति को नैतिक निर्णय लेने पड़ते हैं। हम लोगों के जीवन का नैतिक आयाम यह उम्मीद करता है कि हम लोग विकल्पों में चुनाव करें। हम बिना भावनात्मक रूप से जुड़े नैतिक चुनाव कर ही नहीं सकते। इसी को किर्केगार्ड अनुराग (passion) की संज्ञा देता है। एक नैतिक निर्णय वही है जिसमें हम अपनी सम्पूर्णता में संलग्न होते हैं। यही भावनात्मक जुड़ाव है, प्रतिबद्धता है, अनुरागात्मक निर्णय है। जब तक विषयिता नैतिक से जुड़ी हुई है विषयिता यह मांग करती है कि निर्णय लिये जायें क्योंकि बिना नैतिक निर्णय लिए हुए कोई व्यक्ति नैतिक जीवन नहीं व्यतीत कर सकता, उसमें संलग्न नहीं हो सकता।

विषयिता नैराश्य (despair), भय और विषाद (Fear and trembling) है। यदि कोई व्यक्ति नैतिक निर्णय लेने में भावनात्मक रूप से शामिल है तब कोई बिना भय और निराशा अनुभव किये कैसे भावनात्मक जीवन व्यतीत कर सकता है? हमारे पास क्या गारंटी है कि हमारे निर्णय सही हैं ? गणित के प्रमेय की तरह की निश्चितता नैतिक निर्णय लेने की कार्यवाई में नहीं हो सकती। इस प्रकार नैतिक निर्णय लेने की कारवाई के अपने खतरे हैं। इसमें सफलता की कोई गारंटी नहीं है। इस प्रकार किर्केगार्ड मानता है कि अस्तित्वपरक चुनाव के साथ खतरा उठाना सहज रूप से जुड़ा है। इसके साथ भय और विषाद भी संलग्न हैं क्योंकि ऐसा कौन व्यक्ति है जो एक वास्तविक खतरे की स्थिति में हो और भय तथा विषाद न महसूस करे? नैतिक निर्णय लेने की कार्यवाई में भय और विषाद न अनुभव करना किर्केगार्ड के मत से एक अस्तित्वकीय नैतिक स्थिति में ही न होना है।

विषयिता के विश्लेषण में ईसाई जगत् के डेनमार्क के नागरिकों की आराम–तलब प्रकृति उल्लेखनीय है। जहाँ तक ईसाईयत एक दिनचर्या या रिवाजी, प्रथागत रूप में थी तब तक स्थिति को कोई खतरा नहीं था। तथापि किर्केगार्ड का मत है कि ईसाई संदेशों के एक सच्चे अनुगामी को आवश्यक रूप से एक विषयिपरक व्यक्ति होना चाहिये और विषयिता मानव–दशा का एक सरल, सहज पक्ष नहीं है। विषयिता के साथ ईसाईयत के सिद्धांतो का पालन करते हुये जीवन व्यतीत करना एक दुष्कर पक्ष है जिस पर किर्केगार्ड बल देता है। विषयिता एक वास्तविक, सच्चे ईसाई जीवन जीने की आवश्यक शर्त है।

किर्केगार्ड का सिद्धांत है कि विषयिता सत्य है। किर्केगार्ड ने सत्य को विषयिता के माध्यम से परिभाषित किया है।[3] इसका तात्पर्य यह है कि जब तक कोई प्रतिज्ञप्ति हमारे जीवन में चरितार्थ न हो जाय या उसे अपने जीवन में आत्मसात् न कर लिया जाय तब तक उसे सत्य की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती। किर्केगार्ड की दृष्टि में सत्य वही है जिसके प्रति किसी व्यक्ति के हृदय में पूर्ण प्रतिबद्धता हो, जिससे उसका जीवन निरन्तर आलोकित और रूपान्तरित हो, जो उसकी सम्पूर्ण जीवन–शैली में निःशेष रूप से अनुदित हो सके।

प्लेटो के समय से ही पश्चिम में सत्य को विषयनिष्ठता के माध्यम से परिभाषित करने की चेष्टा की गयी। किर्केगार्ड ने इस बात का खंडन किया और बताया कि सत्य का वास्तविक स्वरूप विषयिनिष्ठ चिन्तन–पद्धति से ही जाना जा सकता है। इस प्रकार किर्केगार्ड ने बहिर्मुखी चिन्तन पद्धति को बदल कर अन्तर्मुखी बना दिया और सत्य को विषयिनिष्ठ (Subjective) सिद्ध करने का प्रयास किया।

प्रायः विषयि या उद्देश्य पद का प्रयोग जो दर्शन में हम करते हैं वह ज्ञाता के अर्थ में है। जिसे किसी वस्तु का ज्ञान होता है वह ज्ञाता है और विषयिता इस दृष्टि से ज्ञाता की मानसिक अवस्था को कहते हैं । लेकिन वर्तमान संदर्भ में अस्तित्ववाद में विषयिता चेतना की अमूर्त अवस्था या स्वभाव नहीं है बल्कि एक आत्मचेतन अस्तित्ववान मूर्त विषयि या व्यक्ति **(Self Consciously existing Concrete Subject the Individual)** है।[4] यानी मूर्तमान विशेष। उसी की सत्ता या उसके अस्तित्व को विषयिता कहते हैं । यानी विषयिता का अर्थ स्वयं–चेतन व्यक्ति का स्थूल अस्तित्व है। आत्म–अस्तित्व का तात्पर्य व्यक्ति विशेष का पूर्ण अस्तित्व है।

यहाॅ यह उल्लेखनीय है कि यह विषयिनिष्ठ सत्ता मनोविज्ञान की अन्तर्निरीक्षण (Introspection) की प्रक्रिया से प्राप्त नहीं है क्योंकि मनोविज्ञान में भी अन्तर्निरीक्षण की प्रक्रिया एक प्रत्यक्ष के समान है जिसमें वस्तुनिष्ठ प्रवृत्ति विद्यमान है। सिर्फ थोड़ा अन्तर यह है कि यहाँ विषय जिनका कि हमें ज्ञान करना है, वे बाह्य से हटकर आन्तरिक हो जाते हैं। अन्य शब्दो में, किर्केगार्ड जिस विषयिता की बात करते हैं वह गहरी और गत्यात्मक है क्योंकि यहाँ वस्तुगत दृष्टि का पूर्णरूप से अभाव है। यह आत्म–चेतना को तीव्र करने की, उस पर मनन करने की सतत प्रक्रिया है जिससे मनुष्य की आत्मगत चेतना अपने विविध पक्षों में क्रियाशील होती है। इस प्रकार यहाँ यह स्पष्ट है कि किर्केगार्ड के लिये विषयि एक बौद्धिक विषयि की अपेक्षा एक नैतिक विषयि है क्योंकि उसे दो विकल्पों में हमेशा वरण करना है।

किर्केगार्ड का प्रमुख सिद्धांत है "विषयिता सत्य है, विषयिता यथार्थ है"। यहाँ सत्य या यथार्थ को वस्तुनिष्ठ ढंग से नहीं देखा गया है क्योंकि किर्केगार्ड अपनी पुस्तक *Concluding Unscientific Post-script* में कहता है कि आपका सत्य वही है जो आपका नैतिक उत्थान करे। सत्य आन्तरिकता है, लेकिन आन्तरिक होने के बावजूद यह मनोवैज्ञानिक आन्तरिकता नहीं है बल्कि अस्तित्वपरक आन्तरिकता है, जो नैतिक है।[5] यानि सत्य वह नहीं है जिसे व्यक्ति सभाओं में भाषण देता है, उसकी बौद्धिक मीमांसा करता है, बल्कि सत्य वह है जिसे मैं जीता हूँ, जो मेरे विविध क्रियाकलापों, व्यवहारों में अभिव्यक्त होता है। सत्य तो आन्तरिक अनुभव की वस्तु है। जो सत्य बुद्धि को नहीं वरन् मुझे सन्तुष्ट करे, वही यथार्थ सत्य है। केवल बौद्धिक संतोष से न सत्य जाना जा सकता है और न जीवन के मूल्य। सत्य वह नहीं है जो बुद्धि को सन्तुष्ट करे, उसका तो साक्षात्कार किया जाता है। किर्केगार्ड

के अनुसार सत्य आन्तरिक प्रतिबद्धता है, जिसको वस्तुनिष्ठ ढंग से सत्यापित नहीं किया जा सकता। यह एक अस्तित्वान व्यक्ति ही प्राप्त करता है। किर्केगार्ड कहता है कि सत्य आत्मगतता में निहित है। सत्य आत्मानुभव की वस्तु है। किर्केगार्ड कहता है कि मनुष्य स्वयं सत्य का निर्माण करता है।

किर्केगार्ड के अनुसार सत्य आन्तरिक अनुभव की वस्तु है । विचारों के माध्यम से सत्य का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। वास्तविक सत्य की अवधारणा नहीं की जाती, उन्हें जीया जाता है, आत्मसात् करना होता है या जीवन में चरितार्थ करना होता है। किर्केगार्ड कहते हैं, "मैं सत्य को तब तक नहीं जान सकता, जब तक वह मुझमें जीवन्त न हो जाये"।[6] यदि सत्य ऐसा है तो इसका अर्थ है कि सत्य "आन्तरिकता" है। यह एक प्रकार की आन्तरिक अनुभूति है। सत्य हम पर बाहर से थोपा हुआ नहीं होता, यह किसी बाह्य क्षेत्र से एकाएक हमारी चेतना के प्रकाश में नहीं आ जाता। यह अन्तर (भीतर) में जागता है, इसी कारण यह आन्तरिकता है। इसी कारण किर्केगार्ड ने इसे आन्तरिकता के माध्यम से व्यक्त किया है।

किर्केगार्ड ने स्पष्ट कहा है "सत्य वह है, जो कि तुम्हे ऊँचा उठाता है"।[7] "सत्य आन्तरिकता है । यहाँ पर अस्तित्वमय आन्तरिकता नैतिकता से विशेषणयुक्त है"।[8] इस प्रकार सत्य और सत् दोनों ही आन्तरिक अनुभूति का विषय है। किर्केगार्ड के अनुसार सत् आन्तरिक और आत्मकेन्द्रित है। इसी प्रकार उन्होंने सत्य को भी आत्मगत और आन्तरिक माना है। किर्केगार्ड लिखते हैं "केवल आत्मगतता में ही निश्चितता है, वस्तुगतता की खोज का अर्थ भूल में फंसे रहना है"।[9] सत् को उसकी अन्तरंगता में जब तक जानने की कोशिश नहीं की जायेगी, तब तक उसके असली स्वरूप को जाना ही नहीं जा सकता। सत् को जानने के लिये व्यक्ति को अन्तर्मुखी होना पड़ेगा और स्वयं अपने अस्तित्व में पैठकर ही वह सत् का अनुभव कर सकेगा तथा यही एक ऐसा अनुभव है जिसका खंडन किसी भी तर्क के द्वारा नहीं किया जा सकता। अस्तु, किर्केगार्ड के अनुसार किसी भी मानव के लिये प्राप्त किये जाने योग्य सर्वोच्च सत्य अन्तर्मुखता की गहनतम अनुभूति की प्रक्रिया है।

किर्केगार्ड कहते हैं "आत्मगतता अन्तर्मुखता के तत्व में ही सत्य है, इस मान्यता में सुकरात की बुद्धिमत्ता का ज्ञान होता है जिसका शाश्वत महत्व अस्तित्व की मूल महत्ता के प्रति जागरूक होने में था, इस तथ्य में था कि ज्ञाता एक अस्तित्वमय व्यक्ति है"।[10] सुकरात के समान ही वह आत्म–ज्ञान को मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य मानता था। उसने स्पष्ट कहा था " मेरा कार्य एक सुकरातीय कार्य है"।[11]

किर्केगार्ड का मत है कि मेरा कार्य सुकरात के कार्य के समान है। सुकरात ने अपनी शिक्षाओं को एक ही आधार–वाक्य में समझाना चाहा था, वह है 'स्वयं को जानो (Know thyself)। इसका तात्पर्य यह है कि सुकरात हमारा ध्यान बाह्य संसार से हटाकर हमारे आन्तरिक जीवन की ओर लाना चाहता था। किर्केगार्ड ने भी उसी

का समर्थन किया और कहा कि आत्मगत आन्तरिक अस्तित्व ही परम सत्य है। यही कारण था कि किर्केगार्ड कहते हैं "मेरे सादृश्य की खोज यदि कहीं है तो वह सुकरात ही है (My only analogy is Socrates)।"[12] सुकरात ने एथेन्सवासियों की बहिर्मुखी दृष्टि को अन्तर्मुखी किया। उसका लक्ष्य था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आन्तरिकता का ज्ञान हो सके, वह स्वयं ही अस्तित्वपरक विभिन्न प्रश्नों का समुचित उत्तर दे सके। उसने कहा था "स्वयं को जानो" (Know thyself)। किर्केगार्ड ने कहा था "स्वयं का वरण करो" (Choose thyself)।[13] उनके अनुसार आत्मगत आन्तरिक अस्तित्व ही परम सत्य है।

किर्केगार्ड की मान्यता है कि सत्य की उपलब्धि वैचारिक चिन्तन से नहीं अपितु आन्तरिक अनुभूति से होती है। सत्य का साक्षात्कार आत्मा के अन्तःप्रदेशों में होता है। इसी प्रदेश में मानव ईश्वर का साक्षात्कार करता है और उसे उससे अपने संबंधो का ज्ञान होता है। ईश्वर के ज्ञान के संदर्भ में उन्होंने साक्षात्कार की प्रक्रिया को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। यदि हम ईश्वर को वस्तुनिष्ठ ढंग से जानने की चेष्टा करते हैं, तर्क देते हैं, युक्तियाँ बनाते हैं तथा समर्थन में साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं तो इस वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया से वस्तुतः ईश्वर की अनुभूति नहीं होती, ईश्वर प्राप्त नहीं होता, बल्कि उसके सम्बन्ध में कुछ अनिश्चिततायें अवश्य प्राप्त हो जाती हैं। वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया द्वारा हमें ईश्वर का केवल सम्भाव्य ज्ञान ही प्राप्त हो पाता है। इस प्रकार की अनिश्चियता के कारण मन में एक आन्तरिक व्याकुलता उत्पन्न होती है। यदि यह व्याकुलता प्रबल रूप में भावनात्मक हो जाय तो संभाव्यता के सम्यक् विनियोग से व्याकुलता आस्था के रूप में प्रकट होती है। यही भावनात्मक सशक्त आस्था ईश्वर सत्य है। इस प्रकार का सत्य किसी वस्तुनिष्ठ तत्व की प्राप्ति नहीं है वरन् आन्तरिकता में ईश्वर का साक्षात्कार है। किर्केगार्ड का यह विचार था कि यद्यपि उसके समकालीन दार्शनिक और वैज्ञानिक धर्मनिष्ठ ईसाई थे तथापि उनकी ईश्वर की धारणा विकृत थी । वे ईश्वर का चिन्तन निरपेक्ष रूप या विषयभूत विचार के रूप में करते थे।

सत्य के विषयगत सिद्धांत में उसकी कसौटी पर–संतोष है, न कि आत्म संतोष। किर्केगार्ड के सिद्धांत में सत्य की कसौटी आत्म–संतोष है। पूर्व प्रचलित धारणा का विरोध करते हुये उन्होंने कहा कि दूसरे लोग, समाज, समुदाय या मानवता को सत्य का निर्णायक मानना ही निराधार है। अन्य लोगों के विचार कभी एकमत नहीं हो सकते हैं। किर्केगार्ड सत्य को वस्तुगत, समाजगत, समुदायगत मानने की धारणा को आध्यात्मिक आत्महत्या कहता है क्योंकि इसमें मेरे अपने जीवन का लक्ष्य, मेरा श्रेय अन्य लोगों के द्वारा तथाकथित विषयगत कसौटियों से समाज और समुदाय के द्वारा निर्धारित किया जाता है। जीवन में हमें क्या करना चाहिए, कैसे सोचना, अनुभव करना चाहिए, इन प्रश्नों का उत्तर विषयगत मापदंड से नहीं मापा जा सकता।

किर्केगार्ड के अनुसार सत्य आन्तरिक प्रतिबद्धता है, जिसको विषयनिष्ठ ढंग से सत्यापित नहीं किया जा सकता। वह हेगेल, देकार्त एवं अन्य बुद्धिवादी दार्शनिकों की आलोचना इसीलिए करता है कि वे विषयगत चिन्तन करते हैं और सत्य को एक ऐसी चीज समझते हैं जो बाहर कहीं स्थित है। किर्केगार्ड के अनुसार सत्य को जानने के लिये इच्छा, अन्तर्ज्ञान, संवेदना, कर्म और बुद्धि इन सबकी आवश्यकता होती है। किर्केगार्ड कहता है कि सत्य आत्मगतता में निहित है। व्यवहारवादी दार्शनिक विलियम जेम्स के समान वह भी मानता है कि सत्य का निर्माण होता है। एक अस्तित्व रखने वाला, चुनाव और निर्णय करने वाला व्यक्ति स्वयं सत्य का निर्माण करता है। सत्य आत्मानुभव की वस्तु है। दूसरे लोग, भीड़, समाज आदि किसे सत्य कहते हैं, यह जानने से व्यक्ति का कार्य नहीं चल सकता। उसे स्वयं अपने जीवन के नाटक में भाग लेकर सत्य जानना चाहिए।

किर्केगार्ड कहते हैं कि मुझे उस सत्य की खोज करनी चाहिए जो केवल मेरे लिये सत्य हो, जिसके लिये मैं जी सकूँ और मर सकूँ । ऐसे सत्य को ढूंढ़ने से क्या लाभ जिसे खोजने में हम अपनी सारी योग्यता और शक्ति चुका दें पर जो हमारे जीवन को लेशमात्र भी प्रभावित न कर सके। जो किसी भी सत्य के विषय में सही है, वह जीवन के जीवंत सत्यों, यथा नैतिक एवं धार्मिक सत्यों के विषय में भी सही है। मैं यदि किसी भी धर्म में, किसी भी ईश्वर में आस्था रखता हूँ तो मेरी यह आस्था शुद्ध बौद्धिक विश्वास न हो बल्कि उस विश्वास के द्वारा मेरा सम्पूर्ण व्यक्तित्व इस प्रकार अनुप्राणित हो कि कहीं पर भी मेरा जीवन इस विश्वास के विपरीत दिशा में बढ़ने वाला न दिखाई दे।[14]

किर्केगार्ड के अनुसार अपने व्यक्तित्व का यथार्थ स्वरूप विचार के सामान्य प्रत्ययों द्वारा ग्राह्य नहीं है। किर्केगार्ड का कथन है कि "मै स्पष्ट रूप से जानना चाहता हूँ कि मैं क्या करूँ। मुझे इस बात की चिन्ता नहीं कि मुझे क्या करना चाहिये। मैं केवल ज्ञानमय जीवन की बजाय पूर्ण मानव जीवन–यापन की क्षमता चाहता हूँ।[15] किर्केगार्ड कहते हैं कि "धन्य है वह व्यक्ति जो बुद्धि के प्रयोगों का परित्याग कर हृदय की सम्पूर्ण सरलता एवं प्रतिबद्धता से जीवन व्यतीत करने का संकल्प लेता है। ऐसे ही जीवन में निश्चितता है, भटकाव नहीं।[16] किर्केगार्ड स्वीकार करते हैं कि आज के युग की यह महत्वपूर्ण विशेषता है कि व्यक्ति कहता कुछ है और करता कुछ और ही है। जिन आस्थाओं को वह घोषित करता है उसके ठीक विपरीत आचरण करता है। अस्तु "सत्य " वह है, जो किसी व्यक्ति विशेष द्वारा मात्र सिद्धांत रूप में ही प्रतिपादित न हो बल्कि जिसे उसने हृदय की पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ स्वीकार किया हो और जो उसके जीवन के सभी संकल्पो के माध्यम से सदैव मुखर होता रहे। अस्तु, चेतना के नैतिक धार्मिक आयामों के संदर्भ के जीवन को स्वीकार करना और अपने संकल्पों के माध्यम से उसे यथार्थ करना ही किर्केगार्ड की दृष्टि से मनुष्य जीवन का परम श्रेयस् है, इसी में उसका कल्याण भी है।

इस प्रकार किर्केगार्ड का लक्ष्य बौद्धिक विवेचन और तर्क के आधार पर सत्य की खोज नहीं है। वह मानव व्यक्तित्व के आन्तरिक स्वरूप को महत्व देता है। उन्होंने सत्य को आत्मगत और आन्तरिक माना है। जैसा कि नीतिशास्त्र के क्षेत्र में वैसा ही ज्ञानशास्त्र के क्षेत्र में भी समस्त चिन्तन को आत्मगत बनाकर और वस्तुगत दिशा से मोड़कर किर्केगार्ड ने जो क्रान्ति उत्पन्न की है उसे डॉ0 स्वेन्सन ने सत्य ही, ''कापरनिकस की क्रान्ति''[18] कहा है।

रीडर, दर्शन शास्त्र विभाग
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर (उ.प्र.)

संदर्भ

1. *नील्स थल्सट्रप : किर्केगार्ड्स रिलेशन टू हेगल 127*
2. *सोरेन किर्केगार्ड : अटैक आन क्राइस्चेंडम अनुवाद वाल्टर लोरी, पृ.110*
3. *डा0उ0के0सिन्हा : समकालीन दर्शन, हरियाणा हिन्दी ग्रंथ अकादमी*
4. *डी0एम0दत्त : चीफ करेन्ट्स आफ कन्टम्परी फिलासफी, पृ. 505*
5. *सोरेन किर्केगार्ड : कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्ट–स्क्रिप्ट, पृ. 227*
6. *सोरेन किर्केगार्ड : ट्रेनिंग इन क्रिस्चियनिटी, पृ. 47*
7. *सोरेन किर्केगार्ड : कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्ट–स्क्रिप्ट, पृ. 226*
8.. *सोरेन किर्केगार्ड : कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्ट–स्क्रिप्ट, पृ. 227*
9. *सोरेन किर्केगार्ड : कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्ट–स्क्रिप्ट, पृ. 230*
10. *सोरेन किर्केगार्ड : कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्ट–स्क्रिप्ट, पृ. 182*
11. *डी0एम0दत्त : चीफ करेन्ट्स आफ कन्टमपररी फिलासफी, पृ. 118*
12. *डी0एम0दत्त : चीफ करेन्ट्स आफ कन्टमपररी फिलासफी, पृ. 520*
13. *एम0जे0ब्लेखम : सिक्स एक्जिस्टेंशियलिस्ट थिंकर्स, पृ. 110*
14. *जर्नल्स अगस्त 1, 1835 ब्रेटल (Bretall) ए किर्केगार्ड एन्थोलाजी प्रिन्सटन, 1969, पृ. 5*
15. *डी0एम0दत्त : चीफ करेन्ट्स आफ कन्टमपररी फिलासफी, पृ. 1120*
16. *डा0लक्ष्मी सक्सेना : समकालीन भारतीय दर्शन, पृ. 146*
17. *डा0स्वेन्सन ने 'आईदर आर, फिलासाफिकल फ्रेगमेन्ट्स, कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्ट–स्क्रिप्ट' इन तीनों ग्रंथो का अंग्रेजी में अनुवाद किया है और वे प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित किये गये हैं।*
18. *ज्ञानशास्त्र में किर्केगार्ड ने सत्य को वस्तुगत मानने की धारण के विरुद्ध यह स्थापित किया कि ''सत्य विषयिगत है''। 'डा0स्वेन्सन ने इसे ''कापरनिकसीय क्रान्ति'' कहा है।*

समकालीन पर्यावरणीय चुनौती एवं व्यावहारिक वेदान्त

डॉ. विजय कान्त दुबे

आज जब इक्कीसवीं शताब्दी क्रान्तिकारी विकास के लिए हमारे सम्मुख खड़ी है, तब भी हम जीवन की अन्यान्य मौलिक समस्याओं से घिरे हुए हैं। आज एक ओर मनुष्य इस संघर्षशील युग में भौतिक सुख–सुविधाओं से अपने को सुसज्जित पा रहा है, अथवा पाने का प्रयास कर रहा है, तो दूसरी ओर अनेक व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्यायें उसके विकास में बाधक बनी हुई हैं। आज उसके सामने स्वयं अपने अस्तित्व का संकट है, तो कहीं नैतिकता और अलगाववाद की समस्या भी। आज जीवन के मूल्यों में गिरावट अनुभव की जा रही है, तो स्वयं उसके आस्था एवं विश्वास, जो उसके जीवन के आधार हैं, पर उसे भरोसा नहीं है। धार्मिक भेद–भाव, अलगाववाद एवं अप–संस्कृति जैसे संकट तो आज के मानव के समक्ष यक्ष–प्रश्न बनकर खड़े हैं। आज के विज्ञान ने मनुष्य को यांत्रिक जीव (रोबोट) बना दिया है, परन्तु उसके अंदर की आत्मा को स्वीकृति नहीं मिल पा रही है। परन्तु इन सबसे इतर एक अन्य महत्वपूर्ण समस्या, जिसकी आज अनदेखी नहीं की जा सकती, वह है पर्यावरणीय समस्या जो, मानव–अस्तित्व के लिए अत्यंत गंभीर है।

आज जब विभिन्न स्तरों पर इस गंभीर समस्या का समाधान खोजा जा रहा है, तो इस सन्दर्भ में दार्शनिकों का भी योगदान महत्त्वपूर्ण है। हमें यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि समय–समय पर दार्शनिक चिन्तन के माध्यम से हमें यह मार्ग–दर्शन मिलता रहा है। वेदों से वेदान्त तक में यत्र–तत्र यह समाधान विद्यमान है, जिसका प्रस्फुटन आवश्यक है। विशेषकर व्यावहारिक वेदान्त तो मानव–जीवन की इस प्रकार समस्याओं को व्यावहारिक रूप से सुलझाने का अप्रतिम प्रयास है। कहना न होगा कि स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त को व्यावहारिक बनाते हुए कहा कि वेदान्त के उच्च आदर्श को यथार्थ (व्यवहार) में परिणत करना चाहिए। इतना ही नहीं, उन्होंने कहा, ''आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक जीवन के बीच जो एक काल्पनिक भेद हैं, उसे भी मिट जाना चाहिए।''[1]

जहां तक उपर्युक्त समस्याओं का प्रश्न है स्वामी विवेकानन्द के व्यावहारिक वेदान्त में इनका समाधान खोजा जा सकता है। वे वेदान्त को व्यावहारिक जीवन में उतारना चाहते थे। उन्होंने कहा, "वेदान्त दर्शन केवल वन में ध्यान द्वारा ही नहीं जाना गया, किन्तु उसका सर्वोत्कृष्ट भिन्न–भिन्न अंश सांसारिक कर्मों में व्यस्त मनीषी लोगों द्वारा चिन्तित तथा प्रभावित किया गया।"[2] स्वामीजी का व्यावहारिक वेदान्त सत् को मात्र पारमर्थिक रूप में ही न देखकर व्यावहारिक रूप में भी देखता है। वह ब्रह्म को निर्गुण तथा सगुण रूप में– मनुष्य, प्रकृति, वनस्पतियों और सब पदार्थों के रूप में देखता है, क्योंकि वेदान्त कहता है कि एक ही प्राण सर्वत्र विद्यमान है। इस प्रकार द्वित्व कहीं नहीं है; दो प्रकार का जीवन और जगत् नहीं है। एकमात्र जीवन है, एकमात्र जगत् है, एकमात्र सत् है, सब कुछ वही एक सत्ता मात्र है, भेद केवल परिमाण का है, प्रकार का नहीं।[3] एतदर्थ, वे सभी तत्वों, पदार्थों, जीवों, चाहे वह मनुष्य हों या पशु, या वनस्पतियां अथवा भौतक पदार्थ हों, में एक ही तत्व का दर्शन करते हैं। वे ब्रह्म की चेतना को ही सूर्य, चन्द्र, विद्युत, अग्नि, पृथ्वी सभी के अंदर स्वीकार करते हैं। इसे ही विवेकानन्द वेदान्त का सच्चा व्यावहारिक पक्ष मानते हैं।

जहां तक पर्यावरणीय समस्या का प्रश्न है, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि आज वह केवल भारत के लिए ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के समक्ष एक गंभीर चुनौती बना हुआ है। पर्यावरण एक परिवृत्ति है, जो मानव को चारों ओर से घेरे हुए हैं तथा मानव के जीवन और क्रियाओं पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। यहां पर्यावरण का सम्बन्ध केवल बाह्य ही नहीं, अपितु आन्तरिक भी है, क्योंकि बाह्य पर्यावरण को प्रदूषण–मुक्त करना है तो आन्तरिक वृत्ति या विचार के सन्दर्भ में भी देखना होगा और आन्तरिक विचार ही हमें बाह्य परिवेश को सुधारने का निर्देश देते हैं, क्योंकि विवेकानन्द ने कहा है, "बाह्य प्रकृति अन्तःप्रकृति का विशाल आलेख है।"[4] आन्तरिक एवं बाह्य प्रकृति, मन और जड़ द्रव्य देश–काल में हैं और ये दोनों (अर्थात् मनस् और बाह्य प्रकृति) प्राकृतिक नियम से संचालित और नियंत्रित होते हैं। विवेकानन्द कहते हैं : "यह प्रकृति बाह्य और आन्तरिक दोनों है। इस प्रकृति के भीतर केवल वे ही नियम नहीं हैं, जिनसे हमारे शरीर के, उसके बाहर के परमाणु नियंत्रित होते हैं, वरन ऐसे सूक्ष्म नियम हैं, जो वस्तुतः बाह्य प्रकृति को संचालित करने वाली अंतस्थ प्रकृति का नियमन करते हैं।"[5]

अतः स्पष्ट है कि पर्यावरण में भौतिक तथा जैविक दोनों तत्व सम्मिलित हैं। एक तरफ भौतिक पर्यावरण में मृदा, जल, वायु, प्रकाश और ताप है, तो दूसरी तरफ जैविक पर्यावरण में समस्त पेड़–पौधे, वनस्पतियां और जीव–जगत् है तथा जीव–जगत् के अन्तर्गत पशु–पक्षी तथा मानव–जगत्। ये सब पर्यावरण के ही भाग हैं, यद्यपि इन्हें भोग्य एवं भोक्ता के रूप में विभाजित किया जाता है। इतना अवश्य

है कि प्रकृति के सभी भागों में पर्यावरणीय शुद्धता आवश्यक है, क्योंकि वेदों में कहा गया है कि जहां पर्यावरण शुद्ध रहता है, वहां मनुष्य, पशु–पक्षी आदि सभी सुखपूर्वक जीवित रहते हैं। अर्थववेद में कहा गया है–

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुष पशुः।
यवेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनायकम्।।[6]

इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए दार्शनिक साहित्य में पर्यावरणीय संरक्षण को महत्वपूर्ण माना गया है। वेदों में तो जल, वायु, औषधि सभी के संरक्षण की आवश्यकता को स्वीकार किया गया– आपो वातः औषधयः। यहां पर्यावरणीय संतुलन स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि हम प्रकृति के प्रत्येक भागों का अपने न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए प्रयोग करें। अपने क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति के लिए हम उसका दुरुपयोग न करें। तात्पर्य यह है कि मानव–जीवन को प्राकृतिक निधि प्रदान की गयी है। उसे चाहिए कि वह अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए उनका अतिरिक्त दोहन न करे अन्यथा प्राकृतिक संतुलन बाधित हो जाएगा और परिणामस्वरूप अवर्षण, बाढ़, भूकम्प आदि भयावह स्थितियां उत्पन्न हो जाएंगी। विश्व में समय–समय पर आने वाली सुनामी, रीटा, कैटरीना जैसी विषम स्थितियां और अभी हाल में ही आया भारत के उत्तरी भागों तथा पाकिस्तान में भूकम्प आदि इसी के परिणाम हैं।

जहां तक व्यावहारिक वेदान्त का प्रश्न है, विवेकानन्द ने हमें पर्यावरणीय समस्या के बाह्य तथा आन्तरिक दोनों स्थितियों से अवगत कराया है। बाह्य स्वरूप में पर्यावरण के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत है कि प्रकृति हमें अन्यान्य वस्तुओं का दाता है। हम उसका शोषण करके उसे धोखा दें, यह हमारे लिए न तो उचित ही है और न संभव ही। वे कहते हैं, "पागलों की तरह हम सोचते हैं कि प्रकृति को हम धोखा दे सकते हैं, हम लोग अत्यन्त अल्पदर्शी हैं। हम समझते हैं कि स्वार्थ–साधना ही जीवन का परम उद्‌देश्य है।"[7] हमारी यह स्वार्थवादी प्रवृत्ति हमारे जीवन में असंतुलन पैदा कर सकती है और प्रकृति में भी। एतदर्थ, आवश्यक है कि प्राकृतिक असंतुलन से बचने के लिए सदैव निःस्वार्थमय, सद्‌गुणमय एवं नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों पर चलते हुए जीवन में आगे बढ़ें। विवेकानन्द ने कहा, "विद्या, बुद्धि, धन, जन, बल, वीर्य जो कुछ प्रकृति हम लोगों के पास एकत्र करती है, फिर बांटने के लिए है। हमें यह बात स्मरण नहीं रहती, सौंपे हुए धन में आत्म–वृद्धि हो जाती है। बस इसी प्रकार विनाश का सूत्रपात होता है।"[8] इसका तात्पर्य यह है कि प्रकृति–दत्त सम्पदा में हम केवल अपने अंश तक ही सीमित रहें और प्रकृति के अन्य जीवों के अंश एवं अधिकार का प्रयोग स्वयं न करें। इतना ही नहीं, उनका यह भी मन्तव्य है कि प्रकृति से जितना हम लें, उसके बदले हम उसे दें भी, ताकि शोषण से बचा जा सके।

परन्तु इस बाह्य प्रकृति के संतुलन के लिए हमें आन्तरिक प्रकृति को शुद्ध रखना होगा क्योंकि ये दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि वर्तमान जीवन की अन्यान्य समस्याओं का कारण है, हमारा आन्तरिक प्रदूषण अर्थात् हमारा स्वार्थी–जीवन, राग–द्वेष, संकीर्णता आदि का विचार अथवा इसकी ओर हमारा झुकाव। परन्तु यह हमारा आदर्श कभी न था। भारतीय चिंतन तो सदैव आत्म–त्याग, अनासक्ति, निःस्वार्थपूर्ण जीवन का है, जो प्रेम, सहयोग सद्भाव, सहानुभूति, धर्म–परायणता, न्याय, समानता एवं भ्रातृत्व का पाठ पढ़ाता है।

स्वामी विवेकानन्द भारतीय आध्यात्मिक चिंतन के सच्चे प्रतिनिधि हैं। उन्होंने सदैव त्याग एवं अनासक्ति का पाठ पढ़ाया और उसे ही आन्तरिक शुद्धता एवं पवित्रता हेतु आवश्यक माना है। इस हेतु चित्त की व्यापकता आवश्यक है और यह सम्भव है, सम्पूर्ण जगत् में एक ही आत्मा का दर्शन करने से, क्योंकि हम सबके अंदर एक ही आत्मा है– समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। हम केवल 'स्व' तक ही सीमित न रहें, हम इससे ऊपर उठें; हमारे अन्दर त्याग की भावना हो। यदि हम सम्पूर्ण शक्ति को अपने तक ही संचय करते हैं, तो वह हमें स्वयं नष्ट कर देगा। विवेकानन्द कहते हैं, "शक्ति–संचय जितना आवश्यक है, शक्ति–प्रसार भी उतना ही, या उससे भी अधिक आवश्यक है। हृत्पिण्ड में रक्त का एकत्र होना तो आवश्यक है ही, पर उसका यदि सारे शरीर में संचालन न हुआ, तो मृत्यु निश्चित है। समाज के कल्याण के लिए कुल तथा जाति–विशेष में विद्या और शक्ति का एकत्र होना कुछ समय के लिए परम आवश्यक है, परन्तु वह शक्ति सर्वत्र फैलाने के लिए एकत्र हुई है। यदि ऐसा न हुआ तो समाज–शरीर अवश्य तुरन्त नष्ट हो जाएगा।"[9] स्वार्थ से ऊपर उठकर ही हृदय की घोर संकीर्णता, अनुदारता, ईर्ष्या आदि से उत्पन्न असहिष्णुता रूपी विषैले फल से बचा जा सकता है। विवेकानन्द निःस्वार्थ बनाने का व्यावहारिक पथ–प्रदर्शित करते हुए कहते हैं, "जो कार्य हमारे सामने आएं, उन्हें हम हाथ में लें और शनैः–शनैः हम अपने को प्रतिदिन निःस्वार्थ बनाने का प्रयास करें। धीरे–धीरे अध्यवसाय से यह स्वार्थपरायणता नष्ट हो जाएगी और अन्त में वह समय आएगा जब हम वास्तव में स्वार्थ से रहित होकर कार्य करने के योग्य हो सकेंगे"।[10] यही हमें 'व्यष्टि' से 'समष्टि' की ओर ले जाता है, क्योंकि उनके अनुसार समष्टि के जीवन में ही व्यष्टि का जीवन है; समष्टि के सुख में ही व्यष्टि का सुख, न कि इसके विपरीत।

व्यावहारिक वेदान्त सदैव 'त्याग' की शिक्षा देता है, जो मन, विचार और आत्मा की शुद्धि में सहायक है। बिना त्याग या वैराग्य के धर्म और नैतिकता का उदय हो भी नहीं सकता और यह त्याग काम, क्रोध, लोभ और मोह का होना चाहिए, तभी यह शक्ति बनता है; मानव की आन्तरिक शक्ति, जो उसे उच्च आदर्शों तक

पहुंचाता है। वेद में भी 'त्याग–करो', 'त्याग–करो' कहा गया है। इसके अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं है– न प्रजया धनेन न चेज्यया त्यागेनेकेन अमृतत्वमानशुः– अर्थात् मुक्ति न संतानों से, न धन से, न यज्ञ से अपितु यह अमृतत्व केवल त्याग से मिलता है। त्याग की यह प्रवृत्ति भौतिकता की चाहत से हमें दूर रखता है। दूसरे शब्दों में, भोग तो हो, परन्तु त्याग की भावना के साथ– तेन त्यक्तेन भुंजीथा। *ईशावास्योपनिषद्* इसका समर्थ करता है। इस प्रकार से व्यक्ति अपने आवश्यकता– नुकूल मात्र ही वस्तुओं (प्राकृतिक सम्पदाओं) का उपभोग करे, तो वह प्राकृतिक दोहन से बचेगा और इस प्रकार पर्यावरण संतुलन बना रहेगा। इस संदर्भ में विवेकानन्द कहते हैं, "यदि संसार की उत्पत्ति हमारे लिए हुई है, तो हम भी संसार के लिए ही पैदा किए गए हैं। यह बड़ी कुत्सित धारणा है कि यह संसार हमारे भोग के लिए ही बनाया गया है, और इसी भयानक धारणा से हम बद्ध रहते हैं।"[11] विवेकानन्द इसी हेतु "त्याग का सूत्र" देते हैं। ऐसा न करने से ही पुरुषत्व का लोप करने वाली विलासिता विश्व में अपना स्थान बना चुकी है। उसी विलासिता के स्थान पर त्याग का आदर्श अपनाना है और इसी से मानव–जाति की रक्षा हो सकती है।

इस पर्यावरणीय समस्या के निदान हेतु विवेकानन्द एक अन्य तथ्य जो महत्वपूर्ण मानते हैं वह है विकास, विनाश नहीं। विनाश तो ईर्ष्या–द्वेष का प्रतिफल है, जबकि विकास शान्ति का। इसलिए वर्जन से ग्रहण (acceptance) अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि ग्रहण प्रेम है और वर्जन दुराव या विद्वेष। घृणा और विद्वेष की अपेक्षा प्रेम स्थायित्व प्रदान करता है। वे कहते हैं, "सावधान! विकास ही जीवन है और संकीर्णता ही मृत्यु, प्रेम ही विकास है और स्वार्थपरता ही संकीर्णता। अतः प्रेम ही जीवन का एक मात्र नियम है।"[12] इसीलिए वे प्रेम की शिक्षा देते हैं। यह उनकी सर्वव्यापकता एवं समता रूपी वेदान्त के सिद्धान्त पर आधारित है– 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' इसी विचार के आधार पर वे मनुष्य–मनुष्य, मनुष्य और अन्य जीव तथा मनुष्य और प्रकृति के मध्य प्रेम, सहयोग और सौहार्द्र स्थापित करना चाहते थे, जिसका लक्ष्य विकास है, विनाश नहीं, समन्वय और शान्ति है, संघर्ष नहीं। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सभी स्त्री–पुरुषों के अन्दर आत्म–विश्वास की प्रेरणा को वे आवश्यक मानते हैं। विवेकानन्द कहते हैं कि मनुष्य–मनुष्य के बीच जो भेद–भाव है, वह केवल आत्म–विश्वास के अभाव के कारण है। उनका मत है कि नूतन धर्म तो उसे नास्तिक मानता है, जिसमें केवल आत्मविश्वास का अभाव है। एतदर्थ आवश्यक है कि आत्मविश्वास को दृढ़ किया जाय, क्योंकि "इस विश्वास का अर्थ है सबके प्रति विश्वास, क्योंकि तुम सभी एक हो। अपने प्रति प्रेम का अर्थ है, सब प्राणियों से प्रेम, पशु–पक्षियों से प्रेम, सब वस्तुओं से प्रेम, क्योंकि तुम सब एक हो। यही महान् विश्वास जगत् को अधिक अच्छा बना सकेगा। यही मेरा विश्वास है।"[13]

परन्तु पर्यावरणीय समस्या के संदर्भ में व्यावहारिक वेदान्त द्वारा दिये गये समाधान को लेकर कुछ आलोचक यह प्रश्न कर सकते हैं कि विवेकानन्द का यह विचार कहां तक व्यावहारिक है? क्या यह वास्तव में व्यावहारिक है, या मात्र आदर्श? वस्तुतः विवेकानन्द का यह आदर्श तो विभिन्न धर्मों का विषय रहा है। यह तो स्वयं वेदान्त का भी आदर्श है। परन्तु उन्होंने इसे व्यावहारिक बनाया। उन्होंने स्वयं कहा, "वेदान्त यदि धर्म के स्थान पर आरूढ़ होना चाहता है तो उसे सम्पूर्ण रूप से व्यावहारिक होना चाहिए। हमें अपने जीवन की सभी अवस्थाओं में उसे कार्य रूप में परिणत कर सकना चाहिए।"[14] यहां विवेकानंद के आदर्शों का प्रभाव देखा जा सकता हैं। यह भी सत्य है कि आदर्श यथार्थ की अपेक्षा अधिक उच्च होता है, ऐसा विवेकानन्द ने स्वीकार किया हैं। परन्तु हमें अपने जीवन को आदर्शों के अनुसार उच्च बनाना चाहिए, अर्थात् आदर्शों का क्रियान्वयन भी होना चाहिए। इसके लिए हमें दृढ़ संकल्प एवं आत्मबल, जो मनुष्य में पहले से ही अनुस्यूत हैं, को जगाने की आवश्यकता हैं। अपने आत्मा को उच्चत्तर भाव में प्रकाशित करने पर ही यह सम्भव हैं। तभी वेदान्त हमारे व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में परिणत किया जा सकता है। यहां यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि विवेकानंद का आदर्श मात्र आदर्श नहीं, यह व्यवहार में भी उतारा जा रहा है। आज सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाएं न केवल प्राकृतिक पर्यावरण की सुरक्षा और संरक्षा में लगे हुए हैं, अपितु अनेकानेक संस्थायें मानव का मानव, अन्य जीव, यहां तक कि वनस्पतियों के लिये भी प्रेम, सेवा, त्याग, आदि की वृद्धि हेतु अनेक कार्यक्रम चला रही हैं। आज जहां एक ओर वृक्ष को काटने से रोका जा रहा हैं, तो दूसरी ओर वृक्षारोपण भी किया जा रहा है।

इसी प्रकार आन्तरिक प्रदूषण से भी बचाने के लिए एक तरफ सेवा–भाव का विस्तार किया जा रहा है, तो लोग एक दूसरे की सहायता एवं सहयोग करने में भी पीछे नहीं हैं। यद्यपि यह सत्य है कि अभी इस कार्य में अपेक्षित क्रियान्वयन नहीं हो पाया है, क्योंकि अभी भी व्यावहारिक आचरण की अल्पता है, सहानुभूति एवं सहयोग का अभाव है। परन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं है कि हम आदर्श का पाठ ही भूल जांय। इस हेतु आध्यात्मिकता का एक ऐसा वातावरण तैयार करना होगा, ताकि इस सामाजिक यज्ञ में अधिकांश जनों की सहभागिता हो सके और और लोग सुख, शान्ति, सन्तोष एवं प्रेममय जीवन जी सकें।

रीडर एवं अध्यक्ष,

दर्शन शास्त्र विभाग

काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर

संदर्भ

1. *विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 8, पृ. 3.*
2. *स्वामी विवेकानन्द, व्यावहारिक जीवन में वेदान्त, पृ. 2.*
3. *विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 8, पृ. 8.*
4. *विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 10, पृ. 8.*
5. *विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 2, पृ. 197.*
6. *अर्थववेद 8/2/25.*
7. *विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 9, पृ. 216.*
8. *विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 9, पृ. 216–217.*
9. *विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 9, पृ. 213.*
10. *विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 3, पृ. 10.*
11. *विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 3, पृ. 63.*
12. *स्वामी विवेकानन्द, जाति, संस्कृति और समाजवाद, पृ. 65.*
13. *स्वामी विवेकानन्द, व्यावहारिक जीवन में वेदान्त, पृ. 3.*

निजी और सार्वजनिक : संदर्भ-शंकर और विट्गन्स्टाइन के भाषा एवं जगत् संबंधी विचार

डॉ. रवीन्द्र के.एस. चौधरी

आचार्य शंकर जब स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं के बीच अंतर करते हैं तो उसके साथ–साथ एक महत्वपूर्ण विभेद उभरकर सामने आता है। वह है 'निजी' और 'सार्वजनिक' का विभेद। अर्थात् स्वप्न निजी होते हैं, जबकि जाग्रत अवस्था का जगत् सार्वजनिक।[1] समकालीन पाश्चात्य दर्शन में विट्गेन्स्टाइन के *फिलॉसोफिकल इंवेस्टिगेशन्स* में भी निजी बनाम सार्वजनिक का गहन विश्लेषण मिलता है। इस विषय में शंकर और विट्गेन्स्टाइन के विचार कई मायनों में तुलनीय हैं। ऐसी तुलना से अद्वैत वेदान्त की पुरातन परंपरा में कुछ नये परिप्रेक्ष्य जुड़ सकते हैं।[2] मौजूदा लेख में हमारा मुख्य मकसद निजी और सार्वजनिक के मुद्दे पर शंकर और विट्गेन्स्टाइन के भाषा एवं जगत् संबंधी विचारों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करना है।

संसार की प्रायः सभी पुरानी संस्कृतियों में जगत् को स्वप्न के समान समझने की प्रवृत्तियां मौजूद रही हैं। प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है कि अद्वैत वेदांत में भी यह प्रवृत्ति सहज ही प्राप्य है।[3] शंकर से पूर्व गौड़पाद ने जाग्रत् और स्वप्न की अवस्थाओं के बीच कोई गुणात्मक अंतर नहीं माना था। उन्होंने तो बौद्ध विज्ञानवादियों की तरह जगत् के बाह्य पदार्थों को स्वप्न पदार्थों के समान मिथ्या माना।[4]

लेकिन इस मामले में शंकर की स्थिति अपने पूर्ववर्ती से भिन्न है। उनके अनुसार जाग्रत् अवस्था के हमारे अनुभव समष्टिमूलक होते हैं। उनमें इंद्रिय और बहिरर्थ के सन्निकर्ष पर आधारित वास्तविक ज्ञान मिलता है। अतः ऐसे अनुभवों का अवश्य ही कोई–न–कोई आलंबन या सामान्य आधार होता है। दूसरी ओर स्वप्नावस्था में अंतःकरण अकेला काम करता है और कल्पना के बल पर वह मानस पदार्थों की रचना कर लेता है। हमारा मन बड़ा ही जटिल और विविधतापूर्ण स्वप्नलोक की सृष्टि कर सकता है। तब फिर स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं के बीच क्या अंतर रह जाता है ? यह अंतर सार्वजनीन होने को लेकर है। स्वप्न–जगत्

की तुलना में जाग्रत अवस्था का जगत् सार्वजनीन होता है। दो या अधिक व्यक्तियों के स्वप्न–जगतों का कोई सामान्य आधार नहीं होता। इसलिये स्वप्न–पदार्थ जाग्रत अवस्था के हमारे अनुभवों से बाधित हो जाते हैं। लेकिन इसका विलोम सत्य नहीं है।

यहां शंकर के विरुद्ध एक चिरपरिचित आपत्ति की जाती है कि वे जगत् की केवल तदर्थ सत्ता स्वीकारते हैं। जिस तरह स्वप्न–जगत् जाग्रत अनुभव से बाधित हो जाता है उसी तरह व्यावहारिक जगत् भी पारमार्थिक स्तर पर बाधित हो जाता है। ऐसी धारणा वास्तव में स्थिति के अति सरलीकरण पर आधारित है। अद्वैत वेदांत उच्चतम सिद्धांत की ओर उन्मुख एक दर्शन है परंतु उनमें निम्नतर स्तरों की भी अपनी सत्ता और महत्ता है। यहां तक कि सपनों की सच्चाई जानने के लिये भी पहले जागना पड़ता है। जागे हुए लोगों की ही एक साझी दुनिया होती है।

अतएव शंकर के जगत्–विचार को सही संदर्भों में देखना आवश्यक है। जैसा कि फ्रेडरिक कोपल्स्टन ने भी माना है– "दैनिक जीवन की जरूरतों की दृष्टि से शंकर का इरादा नानारूपात्मक जगत् को नकारने का नहीं है। जाग्रत अनुभवों का जगत्, अनेक व्यक्तियों और वस्तुओं का जगत् तथा उनके अंतर्संबंधों का जगत् एक सार्वजनिक जगत् है। स्वप्न जगत् की तुलना में वह वास्तविक जगत् है। शंकर का यह कहना भी बिल्कुल सही है कि सपनों के निजी जगत् से जागने पर हमारा सामना वास्तविकता से होता है।"[5]

दरअसल शंकर के अनुसार व्यावहारिक जगत् देश, काल, कारणता आदि के अधीन है।[6] लेकिन स्वप्न–पदार्थ इन नियमों की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। कोई चीज सत्य है या मिथ्या, यह सत्यता की उस कसौटी पर निर्भर करता है जिसे हम सामान्यतया स्वीकारते हैं। शंकर के लिये अबाध या अविरोध का भाव ही सत्यता की कसौटी है। लेकिन हमें यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि ये सब कसौटियां भी सांसारिक ही हैं।[7] परमार्थ के स्तर पर चूंकि एक ही तत्व ब्रह्म की सत्ता है अतः किसी दूसरी चीज से उसके विरोध की स्थिति पैदा नहीं होती। फिर भी जहां तक लौकिक जगत् का सवाल है तो उसमें कुछ नियमों का सार्वजनिक रूप से पालन किया जाता है। उनके अनुपालन में ही लोक–व्यवहार की सार्थकता निहित है।

विट्गेन्स्टाइन के सबसे पुराने भारतीय शिष्य जी.एन. मठरानी का मत है कि अद्वैती भी उसी कसौटी को लागू करते हैं जिसे लोग व्यापक रूप से स्वीकार करते हैं।[8] शंकर इस बात के कायल हैं कि लोक–व्यवहार कुछ नियमों से शासित होता है। विट्गेन्स्टाइन के अनुसार किसी नियम का पालन करना एक व्यवहार (प्रैक्टिस) है।[9] और, व्यवहार वह है जिसमें एकाधिक लोग भागीदारी करते हैं। अतः बी.के. मतिलाल ने ठीक ही बतलाया है कि संस्कृत के दार्शनिक साहित्य में 'व्यवहार' का प्रयोग बहुधा उसी अर्थ में हुआ है जैसा कि विट्गेन्स्टाइन ने 'प्रैक्टिस' को समझा।[10]

विट्गेन्स्टाइन के अनुसार केवल सोचने से ही नियम का पालन नहीं होता। ''नियम–पालन'' (रूल–फॉलोविंग) का मतलब यह भी नहीं है कि कोई एक व्यक्ति कभी–कभार किसी नियम का पालन कर लेता है। इसका अभिप्राय तो एक सामाजिक परिवेश में प्रथा (कस्टम) के रूप में नियम के अनुपालन से है। इसी अर्थ में नियमों के पालन से हमें कुछ कसौटियां (क्राइटैरिया) मिलती हैं।[11] ऐसी कसौटियों से ही भाषायी व्यवहार की सार्थकता निर्धारित होती है। विट्गेन्स्टाइन के ये विचार अद्वैत वेदांत के व्यावहारिक स्तर से मेल खाते हैं। लोक–व्यवहार और साधारण भाषा में बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है। साधारण भाषा में ही लोक–व्यवहार साकार होता है। फिर हमारी अभिव्यक्तियों के अर्थवान होने के लिये एक सार्वजनिक परिवेश का होना भी अत्यंत आवश्यक है। इस बात से शंकर का कोई विरोध नहीं है।

विट्गेन्स्टाइन ने निजी भाषा की धारणा का प्रत्याख्यान प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार मानव–जीवन में अलग–अलग अवसरों पर भाषा तरह–तरह से प्रयुक्त होती है। ऐसे भाषायी प्रयोगों को वे ''भाषा खेल'' (लैंग्वेज गेम) कहते हैं। भाषा–खेल हमारे ''जीवन के रूपों'' (फॉर्म्स ऑफ लाइफ) से गहरे जुड़े होते हैं। सामाजिक तौर–तरीकों और प्रथा–परंपराओं से भाषा–खेल का गहरा नाता है। निजी भाषा ऐसी मांगें पूरी नहीं कर सकती। भाषा को सार्वजनिक व्यवहार से अलगाकर नहीं समझा जा सकता। निजी भाषा का विचार तो कल्पना में भी संगत नहीं है।

शंकर भी निजी भाषा की धारणा का अपने तरीके से खंडन करते हैं। यह बात उनके द्वारा बौद्ध विज्ञानवाद के विरुद्ध दिये गये तर्कों से स्पष्ट है। हालांकि हिरियन्ना ने 'निजी' और 'सार्वजनिक' को प्रातिभासिक और व्यावहारिक स्तरों से जोड़कर एक सूक्ष्म अंतर किया है। उनके अनुसार प्रातिभासिक वस्तुएं जिन्हें निजी कहा जाता है वे प्रत्यय मात्र यानी मनस्तन्त्र नहीं हैं। इस दृष्टि से प्रतिभास के रूप में किसी व्यक्ति विशेष को जो निजी अवबोध होता है उसमें भी ज्ञान और वस्तु का भेद विद्यमान रहता है। लेकिन विज्ञानवादी के अनुसार तो ज्ञान के बाहर वस्तु की कोई सत्ता नहीं है।[12] एक तरह से देखा जाये तो मनस्तंत्रवाद निजी भाषा के विचार से भी कहीं अधिक उत्कट सिद्धांत है। इसका मतलब है कि भारतीय दर्शन में निजी भाषा की धारणा का कोई करीबी हो सकता है तो वह विज्ञानवादी ही होगा।

विज्ञानवादी सभी वस्तुओं की विषयिनिष्ठ व्याख्या करने की कोशिश करते हैं। उनकी मुख्य युक्ति स्वप्नानुभवों से सादृश्य पर आधारित है। सपनों में जिस तरह मन की आंतरिक अवस्थाएं ही बाह्य वस्तुओं के रूप में प्रतीत होती हैं उसी तरह जाग्रतावस्था में हमारे मानसिक विचार ही बाहरी वस्तुओं के रूप में प्रतीत होते हैं। अतः विज्ञानवादियों के अनुसार ''जो अंतर्ज्ञेयरूप है, वही बहिर्वत् अवभासित होता है।''[13] इसके विरुद्ध शंकर का तर्क है कि यदि बाह्य पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता नहीं हो तो विज्ञान आखिर कहां से उनका आकार ग्रहण कर सकेगा। सत्ता के बिना

सादृश्य की बात बेमानी है। वैसी स्थिति में यह कथन अर्थहीन होगा कि विज्ञान "बहिर्वत्" अवभासित होता है। फिर भी यदि ऐसा कहा जाय तो वह वैसी ही निरर्थक बात होगी जैसा कि यह कहना कि "विष्णुमित्र बंध्यापुत्रवत् प्रतीत होता है।"[14]

शंकर का उपर्युक्त तर्क हमारे मौजूदा प्रसंग में दो बातों को लेकर महत्वपूर्ण है। एक तो इसके मूल में कसौटी का विचार निहित है। ऐसी कसौटी की अर्थवत्ता सार्वजनिक संदर्भों में ही संभव है, न कि निजी अनुभव के स्तर पर। विज्ञानवाद जब सारी चीजों की व्याख्या मनोगत दशाओं के रूप में करने की कोशिश करता है तो वह प्रकारान्तर से निजी भाषा के विचार का ही पोषण करता है। इसलिये वह सार्थकता की कोई सार्वजनिक कसौटी नहीं दे पाता।

दूसरे, शंकर ने यहां भाषा–विशेषण के औजार का बखूबी इस्तेमाल किया है। उन्होंने लौकिक भाषा के आधार पर विज्ञानवादियों के "बहिर्वत्" की धारणा की निरर्थकता को उजागर किया है। यह ठीक है कि शंकर का दर्शन मूलतः श्रुति पर आधारित है परंतु उसमें तर्क और विश्लेषण की उपेक्षा नहीं हुई है। फिर श्रुति का भी व्यावहारिक दृष्टि से ही महत्व है क्योंकि वह अपरा विद्या का ही प्रतिनिधितव करती है।[15] पारमार्थिक दृष्टि से उनका महत्व लक्ष्य तक पहुंचने के लिये सीढ़ी की तरह है जैसा कि विट्गेन्स्टाइन ने *ट्रैक्टेटस* के अंत में अपने दर्शन के विषय में बताया है।

अद्वैत वेदांत का चरम लक्ष्य ब्रह्मानुभव है और उसके लिये श्रुति की भूमिका महत्वपूर्ण है। लेकिन श्रुति–वाक्यों का अर्थ भी बहुधा भाषा–विश्लेषण के बाद ही स्पष्ट हो पाता है। एक जगह शंकर स्पष्टतया स्वीकारते हैं कि ब्रह्मावगति के लिये "वाक्यार्थविचारणा" आवश्यक है।[16] इसलिये उन्होंने विभिन्न प्रकार के भाषीय प्रयोगों पर भी विचार किया है। ऐसे प्रयोगों में एक तरफ "तत्त्वमसि" जैसे महावाक्यों की महत्ता सर्वविदित है, तो दूसरी तरफ "सोऽयम् देवदतः" जैसे साधारण लौकिक प्रयोगों पर भी ध्यान दिया गया है।

समापन में एक शंकासमाधान आवश्यक जान पड़ता है। विट्गेन्स्टाइन के दार्शनिक अन्वेषण का संदर्भ स्पष्टतया भाषायी है। उन्होंने भाषा को "मानवजाति के प्राकृतिक इतिहास" के अंग के रूप में समझा है। इसलिये उनके कई अनुयायियों ने भाषा की व्यवहारवादी और मानव शास्त्रीय व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। इस दृष्टि से विट्गेन्स्टाइन के भाषा–विश्लेषण का क्षेत्र व्यवहार तक सीमित है; परमार्थ उनके लिये निषिद्ध क्षेत्र के समान है। इसके उलट अद्वैत वेदांत में हमारे विविध स्तरीय अनुभवों और अभिव्यक्तियों का जो विश्लेषण मिलता है वह अंततः पारमार्थिक उद्देश्य के लिये ही है। शंकर के लिये भाषा की गति व्यवहार तक सीमित है और विश्लेषण का लक्ष्य उससे पार जाना है। इस तरह जब दोनों दर्शनों में अंतिम लक्ष्य को लेकर इतना अंतर है तो उनके बीच कोई कारगर तुलना कैसे संभव है?

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि विट्गेन्सटाइन का दर्शन पारमार्थिक संदर्भों से रहित नहीं है। उन्होंने कई स्थलों पर इसका संकेत भी दिया है।[17] खासकर जब–जब उन्होंने भाषा के अभिव्यक्ति–सामर्थ्य पर समग्रता से विचार करने की कोशिश की है तो एक पारमार्थिक परिप्रेक्ष्य उभरकर सामने आया है। भाषा की प्रतिरूपण–प्रणाली का मूलाधार क्या है? उसकी सम्मोहनकारी शक्ति आखिरकार कहां से आती है, ये कुछ ऐसे सवाल हैं जिनके समक्ष व्यवहारवादी और मानवशास्त्री व्याख्याएं टिक नहीं पातीं। फलतः विट्गेन्स्टाइन के दर्शन में एक तरह का सतत तनाव महसूस किया जा सकता है। कुछ लोगों का तो यहां तक मानना है कि उनके दर्शन में भाषा की भूमिका बहुत कुछ उसी तरह की है जैसा कि अद्वैत वेदांत में माया की है।[18]

वास्तव में तत्वमीमांसीय विषयों को विट्गेन्स्टाइन ने खण्डन–मण्डन से परे परंतु महत्वपूर्ण माना है। ऐसे विषय ही हमारे जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। इसलिए तार्किक प्रत्यक्षवादियों के विपरीत, उन्होंने कभी तत्वमीमांसा का निराकरण नहीं किया। इस मामले में उनका दृष्टिकोण कांट के समकक्ष रहा है।[19] दरअसल विट्गेन्स्टाइन के समूचे दर्शन में कांट और शॉपेनहॉवर की परंपरा से प्रेरित एक अंतर्धारा प्रवाहित रही है। अद्वैत वेदांत में निरूपित व्यावहारिक और पारमार्थिक के समानान्तर कांट के दर्शन में ''फेनोमेना'' और ''न्यूमेना'' का विभेद मिलता है। शॉपेनहॉवर ने इसे कांट की बड़ी देन माना है। उपनिषद् के प्रति शॉपेनहावर का प्रेम भी प्रसिद्ध है। विट्गेन्स्टाइन खुद उनसे बड़े प्रभावित रहे हैं। अतएव शंकर और विट्गेन्स्टाइन की तुलना उपादेय है। ऐसी तुलना से कतिपय नवीन परिप्रेक्ष्य उभरकर सामने आते हैं।

स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग,
विनोबा भावे विश्वविद्यालय,
हजारीबाग, झारखंड

टिप्पणियां

1. *"Dreams are private; waking life is public". vide, C.D. Sharma, A Ciritical Survey of Indian Philosophy, Motilal Banarsidass, Delhi, 1987, p. 268.*
2. *विस्तार के लिए देखें, Ravindra K.S. Choudhary, Wittgensteinian Philosophy and Advaita Vedanta: A Survey of the Parallels, D.K. Printworld, N. Delhi, 2007, pp. 126-34.*
3. *Arvind Sharma, The World as Dream, D.K. Printworld, N. Delhi, 2006.*
4. *गौड़पाद–कारिका, 2.5 तुलनीय, बृह. उप., VI. iii. 10.*
5. *cf. Copleston, Religion and The One, Search Press, London, 1982, p. 72.*

6. ब्रह्मसूत्र भाष्य, 3.2.3.
7. एस. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1989, भाग 2, पृ. 433.
8. G.N. Mathrani, *Studies in Wittgensteinian Philosophy*, Darshan Peeth, Allahabad, 1989, pp. 57.
9. Ludwig Wittgenstein, *Philosophical Investigations*, Basil Blackwell, Oxford, 1953, Sec. 202.
10. B.K. Matilal, *The Word and the World : India's Contribution to the Study of Language*, Oxfort University Press, 1990, p. 145.
11. देखें, लु. विट्गेन्स्टाइन, वही, 199, 202 तथा 258.
12. एम. हिरियान्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, नं. दिल्ली, 1965, पृ. 348–49.
13. आलंबनपरीक्षा, का. 6.
14. ब्रह्मसूत्र–भाष्य, 2.2.28.
15. मुण्डक उप., I.i.5
16. ब्रह्मसूत्र–भाष्य, 1.1.2 द्रष्टव्य, G.C. Nayak, "Does Sankara Advocate Enlightenment through Analysis?" in *Perspectives on Vedanta*, ed. S.S. Rama Rao Pappu, E.J. Brills, 1988.
17. विस्तार के लिए देखें, मेरी पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ. 80–87 और 113–21. साथ ही देखिए, मेरा लेख "Wittgenstien and Tagore", *Indian Philosophical Quarterly*, Vol. XXXIII, No. 3-4, Jul.-Oct. 2006, pp. 231-42.
18. P.J. Saher, *Eastern Wisdom and Western Thought*, George Allen & Unwin Ltd., London, 1969, p. 219.
19. A.J. Ayer, *Wittgenstien*, Weidenfeld and Nicolson, London, 1985, pp. 30-31.

क्या सृष्टिमूलक तर्क काल की अवधारणा से रहित हो सकता है ?

डॉ. विष्णुदत्त पाण्डेय

उत्तर है—नहीं। विश्व—ब्रह्माण्ड की स्थिति से उसके परमकारण का अनुमान कारणता—श्रृंखला पर निर्भर है। विश्व एक कार्य है, ईश्वर उसका कारण। चूंकि ईश्वर का स्वयं का कोई कारण नहीं अतः वह परम—कारण है। कार्य—कारण सम्बन्ध समय की धारणा पर आधारित है, पूर्वापर संबंध पर, अतः भले ही ईश्वर को परम—कारण क्यों ने माना जाय वह इस श्रृंखला का अंग (भले ही अंतिम कड़ी) क्यों न हो, वह स्वयं भी समय की धारणा में आ जाता है यानि अमुक समय से वह विश्व—कार्य उत्पन्न करने लगा। जिस अनवस्था दोष से बचने के लिये परम कारण (ईश्वर) को लाया गया, बुद्धि तर्कतः उसके भी कारण की मांग करती है। जो भी अस्तित्वान् है वह किसी काल और देश में होगा ही। बिना टाइम—स्पेस के न तो कोई अस्तित्व हो सकता है और न ही बुद्धि सोच सकती है। ब्रह्माण्ड देश—काल से परिच्छिन्न है, जो भी इससे सम्बन्धित होगा वह भी देश—काल की सीमा में आ जायेगा।

परमकारण के आर्गूमेंट की यह खामी दूर करने के ख्याल से नियो—थामिस्ट्स 'समय' की धारणा को निकाल कर विश्व की समय—विशेष में 'being' पर न जोर देकर उसकी बोधगम्यता पर जोर देते हैं। किन्तु यह इस विकल्पक अनुमान, कि या तो विश्व—ब्रह्माण्ड बोधगम्य है या अ—बोधगम्य है, के दूसरे विकल्प का निरास किए बगैर वैध नहीं होता। फिर भी इस नये संस्करण के अनुसार विश्व—ब्रह्माण्ड की सभी वस्तुएं contingent हैं यानि अपनी व्याख्याा के लिये दूसरे वस्तु पर निर्भर हैं। चूंकि universe की सभी वस्तुएं contingent हैं अतः यूनिवर्स के बाहर का जो तत्व होगा वह Not-contingent होगा, इस तर्क से ईश्वर को यूनिवर्स से परे मान कर, उसे Not-contingent या self-explanatory principle मानकर स्वीकार करते हैं जो विश्व—ब्रह्माण्ड की व्याख्या कर देता है।

लेकिन यह नया संस्करण भी क्या अनवस्था दोष से बच पाता है? नहीं। क्यों ? दो कारण हैं— प्रथम तो यह कि यह समय की धारणा को भले निकाल

दे, space की धारणा को जाने–अनजाने स्वीकार करता हैं। टाइम और स्पेश आधुनिक मान्यता के अनुसार दो नहीं एक ही धारणा से निःसृत होते हैं। हां–जहां स्पेस है वहां–वहां टाइम है और जहां भी टाइम का concept है वहां–वहां स्पेस भी होगा। आधुनिक युग में आइंस्टाइन ने दोनों की इस सापेक्षता को अपने Four dimentional specio-time concept में सिद्ध किया है। दूसरे, यदि हम विश्व से ईश्वर को परे मानें तो दोनों के सम्बन्ध के लिये एक तीसरे middle term की जरूरत पड़ेगी। फिर उसे जोड़ने के लिये चौथे और इसी प्रकार हम अनन्त तक क्रिया करते रहेंगे, यह भी अनवस्था दोष ही है। चाहे वह first cause हो चाहे वह first principle हो, श्रृंखला से सम्बद्ध होने पर वह भी time-space के लिमिटेशन में आ ही जायेगा।

इस समस्या को ही टालने के ख्याल से हेगेल जैसे कुछ तार्किकों ने विश्व ब्रह्माण्ड को first principle (ईश्वर) से ऐसे निगमित किया जैसे आधार–वाक्यों से निष्कर्ष। इसमें दोनों के सम्बन्ध temporal नहीं बल्कि तार्किक हैं अतः वहां न तो देश–काल की बात उठती है न ही परमकारण के भी कारण की मांग। First principle यूनिवर्स का 'Reason' है न कि 'cause' और, Reason के Reason की मांग करना बेतुका हो जाता है, अतः वह self-explanatory principle मान लिया गया है। लेकिन इस तरह के प्रयास की अपनी कठिनाइयां हैं और वे ठीक वैसी ही हैं जैसी कि विचार से वस्तु निगमित करने में आती हैं। Reason से उसका consequence तो निगमित हो सकता है किन्तु उससे यह पेन, वह वृक्ष या particular existent निगमित नहीं किये जा सकते।

मेरे मत से इस पाश्चात्य आर्गूमेंट का दोष यह है कि या तो वह ईश्वर को सर्वव्याप्त (immanent) मान लेता है जैसा कि pantheism में यानि 'world is nothing but God' या 'universe = God and God = world'। ऐसे में, जब universe है तो God नहीं है और जब God है तो वह universe नहीं है, यह संभावना बुद्धि में आती है। या तो फिर वह गॉड को एकदम transcendent मान बैठता है जैसा कि Neo-Thomist करते हैं। ऐसे यूनिवर्स और गॉड का संबंध बैठाना कठिन हो जाता है। Cosmological argument के ख्याल से (यदि वस्तुतः इसे cosmological argument माना जाय), भारतीय विचारधारा निर्दोष लगती है जो God को यूनिवर्स में immanent और साथ ही साथ transcendent भी मानती है। लेकिन यह धारणा पाश्चात्य विचारकों को अपरिचित लगती है और गले नहीं उतरती। यदि हम *भगवद्गीता* के विचार को लें तो यह अति सुन्दर ढंग से समाधान करती है। यूनिवर्स और कुछ नहीं गॉड ही है (Pantheism but in a special form, वह यह कि universe ईश्वर में include है)। लेकिन ईश्वर इससे अधिक यानी transcendent भी है। यह जगत् उसके एक part में है। वह पर भाग

चूंकि उसी का शेष अंश है जो यूनिवर्स में है अतः वह कोई एकदम अलग सत्ता नहीं है जिसे जोड़ने के लिये middle-term की जरूरत पड़े और अनवस्था दोष आये।

जहां तक इसमें time-space का सवाल है वह वहां तक उसी में समाहित है जहां तक यह दृश्य विश्व–ब्रह्माण्ड का विस्तार और परिवर्तन है। उसके बाहर का ईश्वर का भाग चूंकि अपरिवर्तनीय है अतः वह 'टाइम' से परे भी है। चूंकि टाहम से परे है अतः स्पेस के concept से भी परे है। इस प्रकार केवल भारतीय–विचारधारा के cosmological argument में टाइम और स्पेस की समस्या नहीं आती, इसकी गति universe तक ही है। परम सत्ता के स्वरूप–निर्धारण में जगत् के बाहर वाले भाग में उसकी जरूरत नहीं पड़ती। लेकिन निष्कर्षतः जिस प्रकार का cosmological argument पाश्चात्य विचारक प्रस्तुत करते हैं, उसमें काल (या देश) की धारणा से अलग हटकर विचार करने की गुंजाइश नहीं है।

उपाचार्य, दर्शन विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

मंडन मिश्र का स्फोट सिद्धान्त

डॉ. आभा सिंह

स्फोट सिद्धि में मण्डन मिश्र स्फोट सिद्धांत का समर्थन करते हैं। स्फोट सिद्धान्त वैयाकरणों का है, जिसकी पहली बार विस्तार से भर्तृहरि (5वीं सदी) व्याख्या करते हैं। स्फोटवाद के सर्वप्रमुख विरोधी मीमांसक हैं और उनके प्रमुख प्रतिनिधि हैं कुमारिल भट्ट (6वीं सदी) जिन्होंने *'श्लोकवार्तिक'* में इसका खंडन किया है। मण्डन मिश्र इन दोनों के बाद हुए। *स्फोटसिद्धि* में वे कुमारिल के दिए गए खंडन तर्कों का या वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में मीमांसकों के खंडन तर्कों का अपनी भाषा में उल्लेख करते हैं और फिर स्फोट के समर्थन में भर्तृहरि के दिए तर्कों को अपनी भाषा में लिखते हैं। *स्फोट सिद्धि* स्फोट के खिलाफ मीमांसकों के तर्कों का उत्तर है।

स्फोटवाद की मूल भावना है कि शब्द मुख्यतया एक वाक्य के रूप में और गौणतया एक स्वतंत्र शब्द के रूप में– ध्वनि से परे और ऊपर की सत्ता है और ध्वनियों का संकलन मात्र नहीं है– और यही वह सत्ता है जो अर्थ धारण करती है। यह एक अविभाज्य सत्ता है जो हर व्यक्ति में रहती है। वक्ता ध्वनियों का उच्चारण करके इसको व्यक्त करता है। श्रोता जब इन ध्वनियों को सुनता है तो वह अविभाज्य तत्व (स्फोट) जो उसमें है वह उदबुद्ध हो जाता है और वह उस अर्थ को समझ जाता है जो वक्ता बतलाना चाहता है और जो उदबुद्ध हुए शब्द के साथ अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। यह तत्व जो ध्वनियों से परे और ऊपर है वह स्फोट है, मुख्यतः वाक्य–स्फोट और गौणतः शब्द–स्फोट और वर्णस्फोट। इसके विपरीत मीमांसक मानते हैं कि वर्णों के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं है। स्वतंत्र शब्द या वाक्य वर्णों के समुदाय के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं तथा वर्णों के इस समुदाय से ही अर्थ जुड़ा रहता है।

वैयाकरणों के अनुसार ध्वनियों से परे की यह सत्ता जो अर्थ से जुड़ी है उसकी जड़ें आत्मा की गहराई में हैं। यह मनुष्य के वर्तमान जन्म की आत्मा से ही नहीं बल्कि जन्म–जन्मान्तर से आत्मा से जुड़ा हुआ है। यह हमारे व्यक्तित्व का एक अंश है जो हमने पूर्ववर्ती जन्मों से पाया है। मण्डन मिश्र स्फोट के इस पक्ष को *'स्फोटसिद्धि'* में नहीं छूते हैं। बहरहाल *स्फोटसिद्धि* में खण्डन का मुख्य विषय

यह है कि शब्द जो अर्थ व्यक्त करता है वह ध्वनियों और वर्णों से वास्तव में ऊपर और परे है, उनका उत्तर है– हां ऐसा ही है और ध्वनियों से अलग उसकी सत्ता उन्होंने सिद्ध की है इसीलिए ग्रन्थ का नाम भी दिया *'स्फोटसिद्धि'*। भर्तृहरि के अनुसार स्फोट वस्तुतः 'वाक्य स्फोट' के रूप में रहता है यद्यपि उन्होंने पद–स्फोट और वर्ण–स्फोट की भी सत्ता स्वीकार की है। मण्डन मिश्र भर्तृहरि और मीमांसक दोनों से विपरीत पदस्फोट को प्रमुखतः स्थापित करते हैं। मीमांसक वर्ण को ही मूल मानते हैं और उनके लिए शब्द मात्र वर्ण समुदाय है।

शाबरभाष्य में मीमांसकों का मत इस प्रकार उल्लिखित है–

"अथ गौरित्त्रज कः शब्दः? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः।"[1]

'गौ' इसमें शब्द क्या है? भगवान उपवर्ष के अनुसार 'ग्' 'औ' तथा विसर्ग 'गौ' शब्द बनाते हैं। यहां एक शंका है– ये वर्ण क्षणिक हैं फलतः इनकी एकसाथ उपस्थिति नहीं हो सकती। पर–वर्ण के उच्चरित होने पर पूर्ववर्ती वर्ण नष्ट हो जाता है। अतएव इससे अर्थ–बोध संभव नहीं। इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया–

"पूर्ववर्णजनित संस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायक इत्यदोषः।"[2]

इस मत में दोष नहीं है क्योंकि अन्तिम वर्ण पूर्ववर्ती वर्णों के संस्कार की सहायता से अर्थ व्यक्त करता है। अर्थबोध की ऐसी व्याख्या से वर्णों के अतिरिक्त एक सत्ता को मानना आवश्यक हो जाता है। अतएव 'ग' कार आदि वर्णों के अतिरिक्त 'गौ' कोई शब्द है जिससे अर्थ प्रतीति होती है। शबर इस मत का खंडन करते हैं। उनके अनुसार अर्थ–बोध वर्णों से ही होता है– पूर्ववर्ती वर्णों के संस्कार के सहयोग से परवर्ती वर्ण अर्थ व्यक्त करते हैं।

शबर के मत को कुमारिल ने *श्लोकवार्तिक* में विस्तारपूर्वक लिखा है और कुमारिल के मत को अपने शब्दों में मण्डन मिश्र *'स्फोटसिद्धि'* में लिखते हैं। मीमांसकों के मत को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

मीमांसक और वैयाकरण दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि उच्चरित ध्वनियां क्षणस्थायी होती हैं और उनका कार्य होता है वास्तविक शब्द को व्यक्त करना जो अर्थबोध करवाता है। वह वास्तविक शब्द क्या है– इस पर दोनों का मतभेद है। मीमांसकों के अनुसार ध्वनियों से व्यक्त होने वाला अर्थ बोध कराने वाली वह सत्ता है जो नित्य और सर्वव्यापी है। भर्तृहरि के अनुसार ध्वनियों से व्यक्त और अर्थबोध कराने वाली वह सत्ता है स्फोट– मुख्यतया वाक्यस्फोट और गौणतया पर एवं वर्ण स्फोट। मीमांसक कहते हैं कि जब 'गौ' का उच्चारण किया जाता है तब वह व्यक्ति 'ग्' 'औ' तथा 'विसर्ग' वर्णों का क्रमशः उच्चारण करता है। जब वक्ता इसे सुनता है तो उसे इन वर्णों का बोध होता है। स्फोटवादी भी यह मानते हैं कि ज्ञान में वर्णों का भी बोध होता है। परन्तु ये इसकी भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। मीमांसक कहते हैं कि अंतिम वर्ण यथा 'विसर्ग' (गौः) जब सुनते हैं तब पूर्व–पूर्व

वर्णों का संस्कार उदित होता है और तब उस शब्द का अर्थबोध होता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि क्षणिक घटनाएं जो एक क्रम में उत्पन्न होती हैं एक ही सामान्य प्रभाव को उत्पन्न कर सकती हैं। गमन क्रिया के परस्पर भिन्न–भिन्न क्षण एक क्रम में उत्पन्न होते हैं और फिर भी एक सामान्य फल–लक्ष्यप्राप्ति को उत्पन्न करते हैं।

"गमनक्षणाश्चाणुपरिमाणदेशातिक्रमक्रमेण समीहितदेशाधिगतये प्रभवन्ति।"

स्फोट सिद्धि, कारिका 5 वृत्ति–

मीमांसक इस बात को जानते थे कि उच्चरित वर्ण क्षणिक है जबकि वर्ण को अपने मूल स्वरूप में वे नित्य मानते हैं। जब तक किसी भी तरह दोनों (नित्य और क्षणिक) वर्ण, कुछ क्षणों के लिए ही सही पर, ज्ञान में साथ न रहें तो दोनों अर्थ को व्यक्त करने में सहयोग नहीं कर सकते। यहां मीमांसक शबर को उद्धृत करते हैं –

"पूर्ववर्णजनितसंज्ञकारसहितोऽन्यो वर्ण–प्रत्याचक इत्यदोषः।"[3]

अंतिम वर्ण पूर्व–पूर्व वर्णों के संस्कारों को उद्‌बुद्ध करता है। इस प्रकार सारे वर्णों की एक साथ उपस्थिति होती है जिससे अर्थ–बोध होता है। जिसने सिर्फ अंतिम वर्ण सुना उसे अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। 'ग्' तथा 'औ' के संस्कार इन दो वर्णों के ज्ञान को पुनः उद्‌बुद्ध करते हैं। और यही संस्कार 'गौ' शब्द का अर्थ बताते हैं। उनका मानना है कि ज्ञात वस्तु में ही नयी शक्ति को मानना ज्यादा अच्छा है बजाए इसके कि एक नयी वस्तु 'स्फोट' को मानें –

अंतिम वर्ण को सुनने के बाद पूर्व वर्णों का उद्‌बुद्ध हुआ संस्कार सीधे अर्थ को नहीं बताता है। उद्‌बुद्ध होने के पश्चात् ये पूरे वर्णों का एक सम्मिलित ज्ञान करवाते हैं। यह ज्ञान कुछ विद्वानों के अनुसार जटिल होता है क्योंकि इसमें अंतिम वर्ण का प्रत्यक्ष और पूर्व वर्णों का स्मरण होता है।

तीनों वर्णों (ग्, औ तथा :) का यह जटिल मिश्रित ज्ञान अर्थबोध करवाता है। दूसरे विद्वानों के अनुसार यह ज्ञान मिश्रित रूप में नहीं बल्कि सरल रूप में होता है। अंतिम वर्ण के उच्चरित होने के पश्चात् उसके (संस्कार) स्मरण के साथ पूर्ववर्ती वर्णों का स्मरण होता है और तब अर्थबोध होता है– (*स्फो.सि.* का 7.पृ. 20)। मीमांसकों के अनुसार शाब्दबोध चाहे मिश्रित जटिल तरीके से हो या सरल तरीके से वर्णों का क्रम नहीं होता क्योंकि वो नित्य हैं। वक्ता के बोलने और श्रोता के सुनने में इसका क्रम दिखता है पर यह बोलने और सुनने की विशेषता है, वर्ण अक्रम ही रहते हैं।

यहां एक समस्या उत्पन्न होती है। 'नदी' और 'दीन' इन शब्दों से भिन्न अर्थ क्यों व्यक्त होते हैं जबकि दोनों में एक प्रकार के वर्णों का प्रयोग है, मात्र उनके क्रम में अन्तर है। मीमांसक इसका उत्तर निम्न प्रकार से देते हैं– वर्ण का उच्चारण

होने के बाद उनका संस्कार पीछे छूट जाता है। अंतिम वर्ण के उच्चारण के बाद पूर्ववर्णों के संस्कार का स्मरण होता है। संस्कार और स्मरण परस्पर भिन्न हैं और दो चीजें हैं। वर्ण का स्मरण उसके एक धर्म को बताता है जो स्मरण नामक वस्तु से भी भिन्न है। यथासमय ग् औ विसर्ग का उच्चारण किया गया। ग् और कहने के बाद इसका संस्कार मात्र बच गया। विसर्ग कहते ही उस बचे हुए संस्कार का स्मरण हुआ, अब पूरे गौ का स्मरण अर्थ को बताता है। संस्कार, स्मरण और अर्थ ये तीनों परस्पर भिन्न हैं और 'अपूर्व' की तरह हैं। अपूर्व एक निश्चित क्रम में निश्चित प्रकार के लोगों द्वारा निश्चित वैदिक क्रिया करवाने के पश्चात् उत्पन्न होता है और अपने कारण से बिल्कुल भिन्न फल– स्वर्ग–दिलवाता है। इसी प्रकार निश्चित क्रम में कहे जाने पर ही वर्ण निश्चित अर्थ बताते हैं। परन्तु वास्तव में वो अक्रम हैं। वर्णों के संस्कार वर्णों के 'व्यापार' या 'इतिकर्त्तव्यता' के रूप में कार्य करते हैं। सभी कारक अपने फल के लिए 'इतिकर्त्तव्यता' पर निर्भर रहते हैं लेकिन इससे उनके कारकत्व का हरण नहीं होता–

''न हीतिकर्तव्यतापेक्षित्वं..... । पूर्वेऽपि च वर्णाः.... मोपधानि सर्वत्र।''[4]

इस प्रकार स्फोट को बीच में लाए बिना मीमांसक शाब्दबोध की अपनी प्रक्रिया बताते हैं।

किन्तु मण्डन मिश्र को शाब्दबोध का यह सिद्धान्त सन्तुष्ट नहीं करता। वे इसका खंडन करते हैं– (1) सर्वप्रथम यह कि मीमांसकों का यह मत गलत है कि संस्कारों का स्मरण होता है तो वो अर्थबोध करवाते हैं। संस्कार का जब स्मरण होगा तो वह संस्कार को ही अपने कारण को याद करवाएगा न कि एक भिन्न वस्तु– अर्थ– का बोध करवाएगा। (2) यह भी स्पष्ट नहीं है कि मीमांसकों का यह मत क्यों है कि एक ही वक्ता एक निश्चित क्रम में ध्वनियों का उच्चारण करेगा तभी अर्थ–बोध होगा। अगर एकाधिक व्यक्तियों द्वारा भिन्न क्रम में इन्हीं ध्वनियों का उच्चारण हो तो भी उच्चरित होने के बाद उनका संस्कार तो एक ही जैसा होगा। मीमांसकों के मत में अर्थबोध तो सीधे–सीधे संस्कार से नहीं होता, संस्कार से पूर्व उच्चरित वर्णों का एक साथ ही स्मरण होता है और तब अर्थ–बोध होता है। अंतिम रूप से ज्ञान में चूंकि वर्णों का एक साथ स्मरण होता है, उसमें क्रम नहीं होता इसलिए 'नदी' कहा गया तो या 'दीन' उससे एक ही अर्थ निर्गत होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। (3) अगर एकाधिक वक्ता हों तो भी अर्थ का ज्ञान होता है यदि उनके उच्चारण में बाधा न पड़े और उनका स्वर एक जैसा हो–

'संभवति हि स्वरसादृश्ये .... क्षमः।
न च ध्वनिमात्रश्रवणं .... बुद्धावुपारोहात्।''[5]

(4) वर्णों के उच्चारण के बाद बचा हुआ उनका संस्कार (शब्द के अंतिम वर्ण के उच्चारण के बाद उत्पन्न हुए) इन वर्णों की स्मृति (जो शब्द का अर्थ–बोध करवाती है) से भिन्न होता है और 'अपूर्व' (जो किसी धार्मिक उत्सव के

आनुषंगिक कार्यों से उत्पन्न होता है) के समान होता है। मीमांसकों का यह मत भी आलोचना के योग्य है। इस मत को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं है कि एक निश्चित प्रकार के क्रम में उच्चारण करने पर वे 'अपूर्व' के समान संस्कार छोड़ जाते हैं लेकिन उनका यदि भिन्न क्रम में उच्चारण किया जाए तो वे मात्र स्मृति–जनक चिन्ह छोड़ते हैं। एक ही वर्ण का भिन्न क्रम में उच्चारण करने से इनका अवशिष्ट संस्कार दो प्रकार का नहीं हो सकता है।

(5) अंतिम ज्ञान में उपस्थित सारे वर्ण एक अर्थ का बोध करवाते हैं यह तथ्य शब्द की एकता को प्रदर्शित करता है। मीमांसकों के इस मत में अन्योन्याश्रय दोष है। उनके अनुसार वर्णों की एकता (शब्द) का बोध जब तक नहीं होता है तब तक अर्थ की एकता (शब्दार्थ) का बोध भी नहीं हो सकता और जब तक एक अर्थ का बोध नहीं होता तब तक वर्णों की एकता का ज्ञान संभव नहीं। यह एक असंतोषजनक स्थिति है।

स्फोट सिद्धान्त उपर्युक्त समस्याओं का समाधान करता है और अर्थबोध की एक बेहतर व्याख्या प्रस्तुत करता है। मण्डन मिश्र के तर्क *वाक्यपदीय* (ब्रह्मकाण्ड) से लिए गए हैं।

मण्डन मिश्र स्फोट सिद्धान्त के समर्थन हैं। उनके अनुसार स्फोट वर्णों से भिन्न वस्तु है। यह वर्णों का समूह मात्र नहीं है जो अर्थ को बतलाता है। ध्वनियां वक्ता एवं श्रोता में विद्यमान स्फोट को व्यक्त करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करती हैं। एक बार व्यक्त होने पर स्फोट अर्थ बताता है। शब्द और अर्थ के बीच वाच्य–वाचक भाव सम्बन्ध होता है तथा ध्वनि और स्फोट के बीच 'व्यंग्य–व्यंजक भाव। स्फोट मात्र एक शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है अपितु इसकी सत्ता व्यावहारिक दृष्टि से भी सिद्ध है।

मण्डन मिश्र के अनुसार शब्द की प्रत्येक ध्वनि स्फोट को व्यक्त करती है। प्रथम ध्वनि धुंधले रूप से स्फोट को प्रकाशित करती है, दूसरी ध्वनि अपेक्षाकृत स्पष्ट तरीके से और अंतिम ध्वनि पूर्ववर्ती ध्वनियों के अवशिष्ट संस्कारों की सहायता से उसे बिल्कुल स्पष्टतः प्रकट करती है। मण्डन मिश्र कुशल रात्निक का उदाहरण देते हैं। रत्न की परीक्षा करते समय रात्निक रत्न को लगातार कुछ काल तक देखता रहता है। प्रथम क्षण में उसे अस्पष्ट प्रतीति होती है, दूसरे क्षण में अपेक्षाकृत स्पष्टतर और अंत में पूर्ण स्पष्ट ज्ञान होता है। प्रथम क्षण के ज्ञान और अंतिम क्षण के ज्ञान में अंतर यह है कि अंतिम क्षण में पूर्ववर्ती ध्वनियों के ज्ञान का अवशिष्ट संस्कार भी रहता है। अर्थात् स्पष्ट ज्ञान के लिए अवशिष्ट संस्कारों का स्थान महत्वपूर्ण है।

स्फोट वक्ता के मस्तिष्क में सदैव रहता है। ध्वनियों के द्वारा उसको व्यक्त किया जाता है। जिस स्फोट को व्यक्त करने की इच्छा होती है उसमें परिवर्तन

के साथ ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। 'नदी' को व्यक्त करने का श्रम 'दीन' को व्यक्त करने के श्रम से भिन्न है। यही नहीं, 'नदी' का 'न' 'दीन' के 'न' से भी भिन्न है। फलतः उनसे व्यक्त स्फोट भिन्न–भिन्न हो जाता है जिस कारण उससे अधिगत अर्थ भी भिन्न होता है।

अर्थज्ञान के लिए मीमांसक एक नवीन और भिन्न वस्तु 'अपूर्व' का सहारा लेते हैं। स्फोटवाद के अनुसार प्रत्येक ध्वनि संपूर्ण स्फोट को व्यक्त करती है, स्पष्ट रूप से या फिर अस्पष्ट रूप से। स्फोट का पहले अस्पष्ट ज्ञान, उच्चरित वर्णों का अवशिष्ट संस्कार और अंतिम वर्ण का ज्ञान ये सब एक ही वस्तु है– स्फोट। यह निश्चित रूप से संतोषजनक व्याख्या है।

प्रत्येक ध्वनि संपूर्ण स्फोट का बोध करवाती है फलतः स्फोट ध्वनि object की वस्तु है। इसीलिए स्फोट अपने को व्यक्त करने वाली ध्वनि की सारी विशेषताओं–उच्चारण, लय, काल, स्वरभेद इत्यादि को धारण करता हुआ प्रतीत होता है। जब भी ज्ञान का वस्तु एक और उसका स्वरूप दूसरे तरह का होता है वहां दोष होता है। जब भी अंधकारवश हम रस्सी को सर्प के रूप में देखते हैं तब सर्प हमारे दोष का विषय (object) होता है। परन्तु उस दोष के भ्रम का स्वरूप होता है रस्सी। वस्तुतः यहां विषय है रस्सी न कि सर्प क्योंकि इन्द्रिय से संयोग रस्सी का होता है न कि सर्प का। इसी प्रकार प्रत्येक ध्वनि से उत्पन्न ज्ञान का विषय है स्फोट, किन्तु वह ध्वनि में रूप में प्रत्यक्ष हुआ दिखता है। दूसरे शब्दों में, अंततः जब हमें स्फोट का स्पष्ट ज्ञान होता है तो वह दोष या भ्रम के एक लम्बे क्रम के द्वारा ही होता है। मण्डन मिश्र *वाक्यपदीप* से एक उदाहरण अपने मत की सम्पुष्टि के लिए उद्धृत करते हैं। दूरी के कारण वृक्ष हाथी की तरह दिखता है। बाद में ध्यानपूर्वक देखने पर सत्य का प्रत्यक्ष होता है। इस मिथ्या के द्वारा हम सत्य तक पहुंचते हैं। चक्षु इन्द्रिय का वृक्ष से संयोग होता है, हाथी से नहीं। यहां भ्रम का विषय है– वृक्ष और स्वरूप है– हाथी। किन्तु बाद में अंतिम सत्य के ज्ञान के समय विषय और अन्यथा स्वरूप एक ही हो जाते हैं जैसे यहां वृक्ष। हमें ध्वनि के रूप में स्फोट का ज्ञान होता है, भ्रम के इस लम्बे क्रम के बाद अंततः मात्र स्फोट ज्ञान अवशिष्ट रह जाता है।

इस भ्रम की कुछ विशेषताएं हैं जो ध्यातव्य हैं। न केवल स्फोट ध्वनि या वर्ण के रूप में उपस्थित होता है बल्कि ध्वनि या वर्ण भी अविभाज्य स्फोट के अंग के रूप में उपस्थित होते हैं। इसे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है। सिर्फ वर्ण 'ग्' का उच्चारण प्रयत्न शब्द गौः में उच्चरित प्रयत्न 'ग्' से भिन्न होता है और यह वाक्य 'गामानय' में उच्चरित प्रयत्न 'ग' से भिन्न है। चूंकि प्रयत्नों में भिन्नता है फलतः उत्पन्न ध्वनियों में भी भिन्नता हो जाती है। पर इन प्रयत्नों को भ्रमवश एक जैसा ही मान लिया जाता है। तीनों ही स्थलों पर उच्चरित 'ग्' के उच्चारण–स्थान

आदि में अन्तर नहीं आता फलतः वो सब भ्रमवश एक समान ही प्रतीत होते हैं। इस दोषयुक्त प्रतीति के कारण उनकी शक्तियों के सम्बन्ध में भी भ्रम हो जाता है। वर्ण को व्यक्त करने वाले स्फोट की ध्वनि शब्द को व्यक्त करने वाले स्फोट की ध्वनि और वाक्य में इसी वर्ण को व्यक्त करने वाले स्फोट की ध्वनि अपने कारण और प्रभाव के आधार पर परस्पर भिन्न होती है। उनके कारण भिन्न–भिन्न हैं क्योंकि वे भिन्न–भिन्न उद्देश्य तथा प्रयत्न के फल हैं। उनके प्रभाव भी परस्पर भिन्न होते हैं क्योंकि वे भिन्न–भिन्न स्फोट को व्यक्त करते हैं। चूंकि उनके प्रभावों में भिन्नता होती है फलतः वे एक दूसरे से भिन्न होते हैं किन्तु गलती से उन्हें एक ही मान लिया जाता है। इस संदर्भ में दो उदाहरण दिए गए हैं। *वाक्यपदीय* 188 की वृत्ति में घूमने की क्रिया उठाने की क्रिया से भिन्न है। दोनों क्रियाओं में भिन्न–भिन्न जातियां हैं। परन्तु दो भिन्न क्षणों में हुए दो भिन्न कार्यों में लगातार क्रम के कारण अन्तर नहीं प्रतीत होता है। इसी प्रकार ध्वनियां भी परस्पर भिन्न होती हैं। 'क' और 'ख' तो परस्पर भिन्न हैं ही, 'कीट' और 'कीलक' स्थित 'क' भी परस्पर भिन्न है। और 'कीलक' स्थित दोनों 'क' भी परस्पर भिन्न हैं क्योंकि प्रत्येक बार इनके उच्चारण के लिए पृथक्–पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है। ध्वनियों की व्यंजकशक्तियां अपनी श्रवणीय समता और व्यंजक समता के कारण इतनी घुली–मिली होती हैं कि इनकी वास्तविक भिन्नता को जानते हुए भी भिन्न–भिन्न मान लेना कठिन हो जाता है। वर्ण (ग्) पद (गौः) और वाक्य (गामानय) को अभिव्यक्त करने वाली व्यंजक ध्वनियां परस्पर भिन्न होती हैं परन्तु संकीर्ण दिखाई देती हैं।

ध्वनियों की विशेषताओं को स्फोट की विशेषताएं मान लिया जाता है। जैसे ध्वनि के ह्रस्व–दीर्घ, लम्बा–छोटा इत्यादि होने पर उसे स्फोट का ह्रस्व–दीर्घ होना मान लिया जाता है जबकि स्फोट मूलतः एक अविभाज्य सत्ता है और ये विशेषताएं उसकी नहीं हैं। एक मुख का मणि कृपाण और दर्पण में अलग–अलग प्रतिबिम्बित होता है परन्तु तीन प्रतिबिम्बों में भी 'एक ही मुख है' ऐसा पहचाना जा सकता है।

जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो सर्वप्रथम उसके सम्पूर्ण रूप का दर्शन होता है, तत्पश्चात् उसके विविध अंगों पर ध्यान जाता है। किन्तु अंततः उस वस्तु की संपूर्णता का ही बोध होता है। उदाहरणस्वरूप किसी चित्र को देखते समय सर्वप्रथम उसको एक चित्र के रूप में देखा जाता है तत्पश्चात् उसकी विविध आकृतियों, प्रयुक्त भिन्न–भिन्न रंगों, इत्यादि पर ध्यान जाता है किन्तु अंततः यह चित्र अपनी संपूर्णता का ही बोध करवाता है। एक चित्र अपने विविध अंग–प्रत्यंगों से ऊपर और उनसे भिन्न होता है। यदि संपूर्ण चित्र अपने अंगों से भिन्न एक पृथक् सत्तावाला नहीं होता तब उसका दर्शन ही असंभव हो जाता।

भर्तृहरि भी इस संदर्भ में चित्र का उदाहरण देते हैं। उनकी दृष्टि में चित्रकार जब चित्रांकन करता है तब वह तीन चरणों से गुजरता है– (1) वह चित्र

के अंगों को अलग–अलग रूप में देखता है (2) उसके मन में सम्पूर्ण चित्र की परिकल्पना होती है जिसे वह रंगना चाहता है तथा (3) वह एक–एक अंग बनाता हुआ ही सम्पूर्ण चित्र बनाता है। इसी प्रकार श्रोता के रूप में व्यक्ति वर्णों में बंटे शब्द को सुनता है। सारे शब्द उस व्यक्ति में मिलकर एक हो जाते हैं। पुनः वक्ता की तरह बोलते हुए वह वर्णों में विभाजित शब्द को ही बोलता है।

एक अविभाज्य शब्द के ज्ञान के पूर्व उसके अंगों (वर्णों) का बोध होना दोष है किन्तु यह अन्य दोषों से भिन्न है। यह दोष अंततः सत्य ज्ञान की ओर ले जाता है। यह दोष सार्वभौम है तथा इसका स्वरूप और क्रम सर्वत्र एक समान ही होता है। ये विशेषताएं अन्य दोषों की नहीं होती हैं। एक व्यक्ति को रस्सी सर्प लग सकती है तो दूसरे को पानी का पतला नाला। सामान्य दोष का स्वरूप भिन्न–भिन्न व्यक्ति के लिए भिन्न–भिन्न होता है। इसका क्रम भी सबके लिए नियत नहीं होता। किसी को रस्सी पहले सर्प फिर पानी का नाला दिख सकती है तो किसी को पहले पानी का नाला फिर सर्प दिख सकती है। किन्तु ध्वनियों के रूप में व्यक्त होते हुए स्फोट से सम्बन्धित उपर्युक्त दोष सार्वभौम दोष है। व्यक्ति स्फोट 'गौः' ग् औ तथा विसर्ग के रूप में सब जगह और सारे लोगों के लिए एक ही क्रम में उपस्थित होता है।

इस दोष में ऐसा अजूबा क्यों है यह *स्फोटसिद्धि* की 21वीं कारिका में स्पष्ट किया गया है–

उपायत्वाच्च नियमः परदर्शितदर्शिनाम्।
ज्ञानस्येव च वाचोऽयं लोके ध्रुव उपप्लवः।।[6]

यह दोष सबके लिए (एक ही क्रम में) उपस्थित होता है क्योंकि इसी दोष के माध्यम से सत्य तक पहुंचा जा सकता है। यह ऊपर दर्शाया जा चुका है कि स्फोट के अंग के रूप में ध्वनि और वर्ण का झूठा ज्ञान अंततः इस सत्य तक ले जाता है कि स्फोट मात्र की ही सत्ता वास्तविक है। मण्डनमिश्र कारिका 21वीं वृत्ति में *वाक्यपदीय* (ब्रह्मकाण्ड) की पांच कारिकाओं को उद्धृत करते हैं। स्फोटकाल में मध्यवर्ती ध्वनियां नहीं रहतीं, वे तो केवल स्फोटोपलब्धि की उपाय होती हैं। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त है– किसी बालक को एक–एक आम हम देते गए। वह क्रमशः गिनता जाएगा।– एक, दो, तीन........। अन्त में पूछने पर कि तुम्हारे पास कितने आम हैं वह कहेगा– दस। इससे स्पष्ट है कि किसी बड़ी संख्या के बोध के लिए एक, दो, तीन आदि प्राथमिक संख्याओं की गणना की जाती है। यह गणना उस बड़ी संख्या के ज्ञान का उपाय मात्र है। स्फोट से पूर्व ध्वनियों का उच्चारण और श्रवण स्फोटोपलब्धि का उपायमात्र है।

स्फोटाभिव्यक्ति से सम्बन्धित मुख्य तथ्य यह है कि इसकी अभिव्यक्ति से पूर्व कुछ वर्णों एवं ध्वनियों का ज्ञान होता है जो मिथ्या होते हैं और स्फोट का अंग प्रतीत होते हैं। साधारण व्यक्तियों को क्रम में श्रूयमाण ध्वनियां ही सत्य प्रतीत होती

हैं। हम लोगों को जो स्फोट के बारे में किसी दूसरे की शिक्षा से ज्ञान प्राप्त करते हैं– स्फोट का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता है।

सामान्य जन को ध्वनियों और वर्णों के माध्यम से ही स्फोट ज्ञान होता है। यही दोष सत्य तक ले जाता है। यह दोष जिस निश्चित क्रम में होता है वही स्फोट ज्ञान का माध्यम है। यह चैतन्य के समान है। सब में चैतन्य अविभाज्य और अक्रम रूप में रहता है। परन्तु, जब चैतन्य के द्वारा संसार की वस्तुएं प्रकाशित की जाती हैं तब चैतन्य विभागीकृत हुआ प्रतीत होता है। तब वह जिस वस्तु को प्रकाशित करना चाहता है उसी के स्वरूप को ग्रहण कर लिए हुए जैसा प्रतीत होता है। किन्तु ऐसा तभी होता है जब चैतन्य सांसारिकता में प्रविष्ट होता है अन्यथा अपने ही स्वरूप में स्थित चैतन्य निराकार, अक्रम और अविभाज्य ही होता है। स्फोट के साथ भी बिल्कुल ऐसा ही होता है। जब तक स्फोट हमारे ही अंदर रहता है तब तक वह अक्रम और आकाररहित रहता है, वह वाग्व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। जब क्रमयुक्त और विभाज्य ध्वनियों द्वारा वह व्यक्त होता है तभी वह वाग्व्यवहार में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार चैतन्य और स्फोट दोनों संसार में प्रयुक्त होने से पहले मिथ्या रूप से विभाजित होते हैं। वस्तुतः मस्तिष्क और शब्द हमारे अंदर विद्यमान शब्द–तत्त्व की विकसित अवस्था के ही दो पक्ष हैं।

उपर्युक्त बातें सामान्य लोगों के लिए हैं। महान् ऋषिगण स्फोट का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं वह भी बिना दोषों की सहायता के।

ध्वनि – ध्वनि के विषय में मण्डन मिश्र के निम्न विचार हैं। ध्वनियां स्फोट को व्यक्त करती हैं। वक्ता के उद्देश्य और प्रयत्न के आधार पर किसी पर–ध्वनि के उच्चारण में भी अन्तर आ सकता है। गौः तथा गामानय इन दोनों स्थलों में उच्चरित वर्ण 'ग्' की ध्वनियां परस्पर भिन्न हैं।

भ्रमवश सबसे पहले ध्वनि को ही स्फोट समझ लिया जाता है और पूरे शब्द के उच्चारण के बाद ही स्फोट की सही पहचान होती है। साधारणतया दोष का नकारात्मक तरीके से परिहार होता है। यथा– यह सर्प नहीं है, रस्सी है। परन्तु ध्वनियों को स्फोट समझ लेने का दोष सकारात्मक रूप से परिहृत होता है। अन्त में हम यह नहीं कहते कि यह ग्, औ तथा विसर्ग नहीं है बल्कि हम कहते हैं कि यह शब्द 'गौ' है। क्रमशः स्पष्ट होते हुए स्फोट के ज्ञान के साथ ध्वनियों के रूप में भ्रमपूर्ण ज्ञान के लम्बे क्रम के बाद स्फोट का स्पष्ट ज्ञान होता है।

प्रारम्भिक ज्ञान का विषय भी स्फोट ही होता है परन्तु वह अस्पष्ट होता है और भ्रमवश ध्वनि की तरह उसका स्वरूप प्रतीत होता है। परन्तु अंततः स्पष्ट ज्ञान के रूप में जब स्फोट का स्फोट के रूप में ज्ञान होता है तब ध्वनि को स्फोट मान लेने का दोष स्पष्टतः दिखता है। स्फोट के अर्थ–ज्ञान के बाद ही हम लौकिक वस्तुओं को समझ पाते हैं।

मण्डन मिश्र के लिए पदस्फोट ही मुख्य है। इसलिए एक सहज जिज्ञासा होती हैं कि मण्डन मिश्र की दृष्टि में वाक्यस्फोट का क्या स्थान है जो भर्तृहरि के लिए मुख्य स्फोट है। वाक्यस्फोट पर मण्डनमिश्र का मत बहुत स्पष्ट रूप से *स्फोटसिद्धि* में नहीं उल्लिखित है परन्तु इससे सम्बन्धित कुछ तथ्य स्मरणीय हैं। प्रथमतः *स्फोटसिद्धि* में वाक्यस्फोट का उल्लेख है। ध्वनियां स्फोट को व्यक्त नहीं करतीं– कुमारिल के इस मत का खंडन करते हुए मण्डन पद और वाक्य में ही स्फोट की सत्ता स्वीकारते हैं।[7]

हो सकता कि मण्डन मिश्र मात्र वैयाकरणों का मत बता रहे हों, यह उनका निजी मत नहीं हो, परन्तु ऐसी कोई सूचना *स्फोटसिद्धि* में नहीं मिलती है। अपने पदस्फोट के समर्थन में वह भर्तृहरि के *वाक्यपदीय* 89 तथा 90 को उद्धृत करते हैं जिसमें वाक्य–स्फोट के व्यक्त होने की प्रक्रिया बतायी गयी है। *स्फोटसिद्धि* के उन अंशों को पढ़कर जहां पदस्फोट की चर्चा है (कारिका 36), यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि मण्डन मिश्र ऐसा मानते हैं कि वाक्यस्फोट की सिद्धि के लिए दिए गए तर्क पदस्फोट की सिद्धि के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। यह कह कर मण्डन मिश्र यह इंगित मात्र करते हैं कि उनके द्वारा पदस्फोट की सिद्धि के लिए दिए गए तर्क से वाक्यस्फोट को भी सिद्ध किया जा सकता है। मण्डन मिश्र लिखते हैं–

निरस्तभेदं पदतत्त्वमेतद्, व्यादर्शि युक्त्यागमसंश्रयेण।
विधूतभेदग्रहमेतयैव, दिशापरं संप्रतियन्त्वभेदम्।।[8]

यहां किस 'परं अभेदं' की बात की गई है? गोपालिका के कर्त्ता परमेश्वर स्पष्ट करते हैं– ''पदस्फोटात्परं वाक्यस्फोटमित्यर्थः''। इससे यह सरलता से ज्ञात होता है कि मण्डन को वाक्य–स्फोट भी स्वीकार था। तो क्या मण्डन ने अभिहितान्वयवाद को भी माना था? वैयाकरणों का मत है कि यदि वाक्यस्फोट को शब्द मान लिया जाए तो उसका अर्थ है 'प्रतिभा' और ये दोनों अविभाज्य हैं तब यहां अभिहितान्वयवाद या अन्विताभिधानवाद को मानने का अवकाश कहां है ?

वरिष्ठ प्रवक्ता, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
ह.प्र.दा. जैन महाविद्यालय, आरा, बिहार

संदर्भ

1. *शा.भा.– पृ. 45 (आनंदाश्रम संस्करण),*
2. *शा.भा.– पृ. 46 (आ.सं.)*
3. *शा.भा.,*
4. *स्फोटसिद्धि– का. 9 पर वृत्ति,*
5. *स्फोटसिद्धि– का. 15 पर वृत्ति,*
6. *स्फो.सि.– का. 21,*
7. *स्फो. सि.– का. 27,*
8. *स्फो. सि.– का. 36.*

वर्तमान वैश्वीकरण की प्रक्रिया, सन्दर्भ व उद्देश्य : एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. नागेन्द्र मिश्र

'वैश्विक–करण' एक बहुत सुन्दर शब्द–रचना है तथा विचारों में इस शब्द का निहितार्थ मानवीय नैतिक–चेतना के चरमोत्कर्ष का पर्याय है। वैश्वीकरण में पूरी दुनिया एक गांव–नगर के सदृश होकर अपने सभी तरह के विविध मत व वादों से ऊपर उठकर मानववाद की चेतना से ओत–प्रोत होकर एक दिव्य, परम नैतिक तथा बृहद् सामाजिक चेतना की चेष्टाओं के साथ जीवन–यापन करने का यत्न करती है। यहां व्यक्ति, खास परिवार, खास समाज तथा विशेष राष्ट्र या पृथ्वी का कोई खास भू–खण्ड आदि जैसी सभी भावनाएं एक वैश्विक परिवार की चेतना में परिणत होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आकार ग्रहण कर लेती हैं। यहां मानव की व्यष्टिगत तथा समष्टिगत सभी अनिवार्य व सहज आवश्यकताओं की तृप्ति परिवारवाद की चेतना से होने वाले आचरण पर आधारित होती है। यह वैश्वीकरण की नीति सचमुच ही मानवीय नैतिक चेतनाओं के परम विकास का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है जिसका अस्तित्व मात्र आदर्शात्मक ही है। वर्तमान समय में हमारा विश्व अपनी बुनियादी आवश्यकताओं के लिए संघर्षरत है। विश्व के कई भू–भाग अभी भी अविकसित हैं। उन्हें विकासशील होने की प्रक्रिया में लाने हेतु प्रेरित होना बाकी है। विकासशील राष्ट्र अपनी आन्तरिक व्यवस्था, आर्थिक क्षमता एवं वैश्विक परिवेश की विविध चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों को लेकर कांटे की जिन्दगी जी रहे हैं। विकसित देशों द्वारा प्रस्तुत शब्द 'वैश्वीकरण' ऊपर से देखने पर वैसा लगता है मानो वह हमारी सभी समस्याओं के निदान का रामबाण हो। आज विश्व का अधिकांश भू–भाग बुनियादी आवश्यकताओं के अभाव का दंश झेल रहा है, वहीं इस त्रासदी को समझते हुए मौके का लाभ उठाने हेतु कुछ समृद्ध राष्ट्रों द्वारा यह वैश्वीकरण का फरमान मात्र प्रस्तुत ही नहीं, वरन् लादा भी गया है। इसमें हमारी बुनियादी आवश्यकताओं के भौतिक अंश– उपभोक्ता सामग्री यथा– भोजन, वस्त्र व आवासादि को केन्द्र में रखकर वैश्विक आर्थिक संस्थाओं का सृजन, उनका सुदृढ़ीकरण आदि पर बल देकर अपने प्रभुत्व को बढ़ाना तथा अन्य के सभी

व्यावहारिक प्रभुता को शनैः–शनैः निष्प्रभावी करना है। आगबर्न तथा निमकॉफ भी स्वीकार करते हैं कि भोजन तथा सम्पत्ति से सम्बन्धित मानवीय चेष्टाएं मात्र आर्थिक संस्थाओं का ही निर्माण करती हैं।[1] अब ये आर्थिक संस्थयाएं यदि नैतिक मूल्यों पर आधारित तथ्यों के अनुरूप कार्य करती हैं तो वैश्वीकरण की नीति वैश्विक दृष्टि से धनात्मक परिणामदायी होगी अन्यथा वह मात्र जाल डालने वाले शिकारी की भांति होगी।

पिछले पन्द्रह वर्षों से जिस वैश्वीकरण की चर्चा पूरे विश्व में हो रही है वह बेर के फल की भांति ऊपर से मनोहर तथा भीतर से दांतों को तोड़ देने वाली गुठली की तरह ही है। मैंने प्रस्तुत आलेख में वर्तमान वैश्वीकरण को उसके सन्दर्भ तथा उद्देश्य के सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार करने के पश्चात् उसकी नीतिगत समीक्षा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। वर्तमान वैश्वीकरण भारतीय संस्कृति के विचार– 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का एक नया मॉडल है जिसके अनुसार वसुधैव आधिपत्यम् की भावना का संकेत मिलता है।

वैश्वीकरण शब्द की व्युत्पति को हम इस पंक्ति द्वारा समझ सकते हैं–

'अविश्वं विश्वं यथास्यात् तथा इति वैश्वीकरणम्'

अर्थात् जो विश्व नहीं है, वह जैसे विश्व बन जाय वैसा करना वैश्वीकरण है।[2] इस प्रकार समस्त पृथ्वी भू–भाग के एकीकरण की प्रक्रिया 'वैश्वीकरण' है। यह प्रक्रिया अत्यन्त जटिल तथा दुःसाध्य है। मॉलकोल्म वेटर्स के अनुसार वैश्वीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें भूगोल द्वारा सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्थाओं को दबाया जाता है, जिसमें लोग इस बात के लिए जागरूक होने लगते हैं कि उनका प्रश्चप्रवण हो रहा है।[3] इस परिभाषा को यदि वैश्वीकरण मान लिया जाय तो यह अवधारणा एक नवीन तथा संदिग्धता से पूर्ण तथ्य के रूप में हमारे बीच उपस्थित होती है। हजारों वर्षों से इस पृथ्वी के अलग–अलग भू–भाग, जो भिन्न–भिन्न देश नामों से प्रतिष्ठित एवं अपने सांस्कृतिक, धार्मिक, वैचारिक, मानसिक व शारीरिक श्रमनिष्ठता के विविध रूपों के साथ जीने की आदत वाले लोगों को अचानक वैश्वीकरण हेतु एक पंक्ति में खड़े होने का निर्देश जारी किया जाय तो यह व्यवस्थित तरीके से सम्भव नहीं होगा। यदि इन्हें एक पक्ति से खड़ा किया ही जाय तो किस मॉडल में यानी किस नीति के अन्तर्गत– यह भी एक महत्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न (High order question) है। आज वैश्वीकरण की नीति जो भारत में 1991 ई. से प्रारम्भ होकर देश तथा समाज के गतिशील तत्वों को नेस्तनाबूद करने के लिए देशवासियों के हृदय को जीतने का प्रयास कर रही है– यह दूरगामी भयावह खतरे का संकेत है। वैश्वीकरण की वर्तमान नीति की पृष्ठभूमि एक अन्तर्राष्ट्रीय साजिश के तहत् 30 अक्टूबर सन् 1947 को अमरीका तथा कुछ अमीर यूरोपीय देशों द्वारा गरीब, विपन्न विकासशील देशों में व्यापार फैलाकर उसको आर्थिक रूप से

गुलाम बनाने का किया गया प्रयास है। इस उद्देश्य से GATT (General Agreement on Trade & Tariffs) नामक अनुबन्ध की स्थापना की गई। GATT के संस्थापक–सदस्य के रूप में अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, नार्वे, हालैण्ड, बेल्जीयम, न्यूजीलैण्ड, क्यूबा, चेकोस्लोवाकिया जैसे विकसित राष्ट्र थे। अन्य 11 विकासशील देशों में भारत, पाकिस्तान, सीलोन, दक्षिणी अफ्रीका, रोडेशिया, क्यूबा, सीरीया, लेबनान, बर्मा एवं ब्राजील आदि का नाम था। कालान्तर में सन् 1986 में इसके नीति–निर्माता अमरीका एवं अन्य यूरोपीय देशों, जिन्हें विकसित राष्ट्र कहा जाता है, ने मिलकर GATT में व्यापक संशोधन करते हुए मुक्त व्यापार के आधार पर वैश्वीकरण की योजना प्रस्तुत किया। इसे हम सब डंकल प्रस्ताव के नाम से जानते हैं। इस डंकल प्रस्ताव के माध्यम से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का जाल फैलाकर पूरी दुनिया में अपने आर्थिक साम्राज्यवाद का विस्तार करना उनका उद्देश्य है। उनकी इन सारी उत्तेजनाओं के मूल में द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् उनके हाथों से दूर हुयी वैश्विक सत्ता थी जिन्हें वे लोग अपनी आन्तरिक व बाह्य असमर्थताओं के कारण आगे तक न खींच सके थे। तब उन्हें राजनीतिक साम्राज्यवाद के बदले अधिक उपयुक्त आर्थिक साम्राज्य विस्तारवाद की चेतना लगी और इसके लिए वे तेजी से निरन्तर प्रयास करने लगे। उनका यह प्रयास जब संतोषजनक परिणामदायी नहीं हुआ तो अमरीका ने धमकी देकर सन् 1994 में सभी सदस्य राष्ट्रों से इस प्रस्ताव पर हस्ताक्षर करवाया। 15 अप्रैल 1994 को मोरक्को के शहर मराकेश में आयोजित एक बैठक में दुनिया के 105 राष्ट्रों के मंत्रियों ने अमरीकी धमकी के आगे घुटने टेककर, अपने राष्ट्र की अर्थव्यवस्था, व्यापार जगत् और विशाल जनता के हितों का अनदेखी कर इस आत्मघाती प्रस्ताव पर हस्ताक्षर कर दिया। तब 1 जनवरी 1995 से "GATT" नाम का यह समन्वित दानवी अनुबन्ध अपना नाम बदलकर W.T.O. (World Trade Organisation) के रूप में परिवर्तित हो गया। इसका उद्देश्य दुनिया में मुक्त व्यापार के आधार पर बहुपक्षीय व्यापार–व्यवस्था कायम करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु इसका एक अलग संविधान बनाया गया जिसे किसी देश के संविधान से अधिक महत्व प्रदान किया गया। यह W.T.O. सन् 1947 में प्रस्तावित I.T.O. (International Trade Organisation) का ही परिवर्तित रूप है जिसका बाह्य रूप से उद्देश्य व्यापार में अनियमितताओं को दूर करना था तथा मूल उद्देश्य दुनिया के दूसरे देशों में अमरीकी पूंजी का वर्चस्व कायम करना था। लेकिन I.T.O. का विरोध उनके ही देश में होने लगा। फलतः यह संस्था तत्काल निष्प्रभावी होकर GATT के रूप में 30 अक्टूबर 1947 को अस्तित्व में आयी जिसकी परिकल्पना वैश्विक साम्राज्य स्थापित कर पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति पर अपना अधिकार जमाना था।

इस प्रकार इस वैश्वीकरण की नीति के कई अभिकरण हैं– यथा I.M.F., W.T.O. आदि जिनका समग्र प्रयास पूरी दुनिया को अपने मॉडल (प्रारूप) में ढालकर चलने के लिए प्रेरित तथा विवश करना है। एक सामान्य दृष्टि से यह विकास का मॉडल अवश्य लगता है लेकिन यह मूल रूप में विकासशील देशों के लिए धीमा विष (Sweet Poison) है जो धीरे–धीरे इनकी पूरी अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति में घुल–मिलकर मूल व्यवस्था को ही समाप्त कर देगा। भारत की तो ऐसी कोई खास दूरदृष्टि पूर्व से नहीं रही है जो वैश्विक आर्थिक व्यवस्था में शामिल होकर उस विषय के असर से बचा रहे। युरोपीय देशों की यह दूर–दृष्टि पूर्व के 250 वर्षों की सोच पर आधारित है। वैश्वीकरण की नीति जो आज के वर्तमान मॉडल में है वह पूरी दुनिया या फिर भारत के लिए भी दूरगामी गंभीर दुष्परिणमों का संकेत है। इसके शीर्ष के अभिकरणों के निर्देश ऐसे हैं जिनके अनुसार किसी राष्ट्र को इन नियमों से विचलन की उतनी ही छूट मिली है कि इन छूटों के बाद भी उसे ऋण–जाल तथा परावलम्बन के अभिशाप के उबर पाना सम्भव नहीं। यह जिन तथ्यपरक निर्देशों के साथ विकाशील देशों को ऋण प्रदान करता है वे मुख्य रूप से इस प्रकार हैं –

1. घरेलू मुद्रा का अवमूल्यन, उसकी पूर्ण परिवर्तनीयता तथा विदेशी मुद्रा नियमनों का समापन।
2. उपभोक्ता वस्तुओं, पूंजीगत वस्तुओं व अर्द्धनिर्मित आदायों के आयातों से प्रशुल्क व गैर प्रशुल्क बाधाओं की समाप्ति को प्रोत्साहन एवं मुक्त–आयात–नीति के अनुसरण पर बल।
3. कृषि–उत्पाद, पशुधन–उत्पाद, खनिज व वन्य–सम्पदा सहित प्राकृतिक सम्पदा का निर्बाध निर्यात।
4. विदेश पूंजी–निवेश को प्रोत्साहन एवं बहुराष्ट्रीय कंपनियों पर से नियन्त्रण की समाप्ति।
5. विदेशी पूंजी अथवा प्रौद्योगिकी से उत्पादित वस्तुओं के अदायगी के उतरोत्तर आयात प्रतिस्थापन सम्बन्धी प्रतिबन्धों की समाप्ति।
6. बजट घाटे में कटौती के नाम पर लघु उद्योगों, आधार भूत संरचनाओं, लोक–कल्याणकारी व सामाजिक–सेवा सम्बन्धी व्ययों में कटौती यथा– शिक्षा, चिकित्सा आदि पर व्ययों में कटौती।
7. आंतरिक उद्यमों का समर्थन व संरक्षण की समाप्ति।
8. जन–उपयोगी सेवाओं की (पानी, बिजली) आम उपभोग की वस्तुओं एवं कृषि आदायों, औद्यागिक उत्पादन व निर्यात पर दिये जाने वाले अनुदानों में कटौती एवं इनके मूल्यों में वृद्धि।

9. गैर–जरूरी एवं विलासितापूर्ण उपभोक्ता वस्तुओं के आयात को प्रोत्साहन, सार्वजनिक क्षेत्र में उद्यमों का निजीकरण, अवसंरचना सम्बन्धी उद्योगों एवं प्राथमिक उद्योगों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों को प्रवेश की छूट।

10. सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का निजीकरण।

11. अवसंरचना सम्बन्धी उद्योगों एवं प्राथमिक उद्योगों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों को निर्बाध प्रवेश की छूट।

12. भविष्य में भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के अधिकारों को परिमित नहीं किये जाने की लिखित वचनबद्धता।

उपरोक्त प्रकार के कठोर निर्देशनों से विकासशील देशों की अपनी आन्तरिक मौलिक गति तो रुक ही जाएगी लेकिन उसके उपभोग हेतु सामग्री सुलभ होती रहेगी। उक्त शर्तों के पालन पर उसे ऋण भी उपलब्ध होता रहेगा। उसके अपने उद्योग, उसके अर्द्धविकसित उपकरणों एवं अन्तर्राष्ट्रीय निर्देशों के कारण सीमित होता दीख पड़ेगा। शनैः शनैः वह एक कालावधि के उपरान्त पूर्ण रूप से आर्थिक गुलामी का दंस झेलने को विवश हो जाएगा। महाशक्ति बनने का सपना देखने वाले देश बस अमेरिका आदि महाशक्तियों के मोहताज बनते जाएंगे। वैश्वीकरण में खुली प्रतियोगिता की बातें की जाती हैं। लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या अर्द्धविकसित या विकासशील देश की कंपनियां खुले बाजार में समान रूप से टिक पायेंगी, वह भी अन्तर्राष्ट्रीय निर्देशों के अनुसार लगाये गये प्रतिबन्धों के बाद? ऐसा होना कदापि सम्भव नहीं प्रतीत होता। संक्षेप में वर्तमान वैश्वीकरण विश्व का ऐसा समीकरण है जिसमें अविकसित तथा विकासशील राष्ट्रों की समग्र कर्मठता, आत्म–विश्वास, धन तथा सक्रियता का समूल विनाश हो जाएगा तथा पूरा विश्व उन सम्पन्न देशों को उसी तरह याद करता रहेगा जिस प्रकार नवजात शिशु अपनी मां को याद करता है।

इस प्रकार वैश्वीकरण की नीति में बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा कार्य किये जाने से छोटे–छोटे उद्योग–धन्धे व व्यक्तिगत व्यापार आदि की क्रियाएं स्वतः समाप्त होती जाएंगी। छोटे–छोटे उद्योगों का खटिया खड़ा होता जाएगा तथा बड़े उद्योगों की सेहत अच्छी होती जाएगी और अन्त में मात्र कुछ बड़ी–बड़ी कंपनियों के बीच ही प्रतिस्पर्धा रह जाएगी। यानी उपभोक्ता सामग्रियों को उत्पादन का ठेका कुछ खास व्यक्ति के पास ही रह जाएगा तथा शेष सारे लोग उसी के पूरक के रूप में श्रम करते रहेंगे। मशीनीकरण के इस युग में मात्र धन का केन्द्रीयकरण एवं मानव–सम्पदा का दुरुपयोग ही दिखलाई पड़ेगा। हम कभी–कभी विश्व बैंक तथा विश्व मुद्रा–कोष द्वारा अपने देश की प्रशंसा, अपने संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों, अर्थात् आर्थिक सुधारों को लेकर सुना करते हैं जो उनके निर्देशानुसार हुआ रहता है। हमें सर्वप्रथम आर्थिक सुधारों के चक्र को चालित करने वाले देशों, यथा बुल्गारिया, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, पोलैण्ड, रोमानिया, पूर्व सोवियत संघ आदि

की दुर्दशा को भी देखना चाहिए। इस सम्बन्ध में चीन की विशेषता रही है कि वह भावी अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा के लिए अपने यहां सन् 1978 से ही देश के अन्दर आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया शुरू कर इसके परिणामों की समीक्षा करता रहा। तत्पश्चात् वैसी अनुकूल परिस्थितियों के निर्माण के बाद 1990 से अपनी शेष अर्थव्यवस्था को मुक्त व्यापार क्षेत्र के लिए खोला। इस प्रकार चीन ने अपनी औद्योगिक संरचना को पूर्व से ही इतना सशक्त किया कि उसे बाहरी स्पर्धा से विचलित होना नहीं पड़ा। भारत ने ऐसी सुनियोजित प्रक्रिया को नहीं अपनाया। इस प्रकार वैश्वीकरण के लिए जिसमें एक वैश्विक स्पर्धा का होना अपेक्षित है, सर्वप्रथम अपने घरेलू उद्योगों को इतना सशक्त बनाना होगा ताकि वह प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता अर्जित कर सके।

वर्तमान वैश्वीकरण की प्रक्रिया से भारतीय कृषि पर ग्रहरा संकट दीख पड़ता हैं। भारत की अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित है। W.T.O. के निर्देशों से भारतीय कृषि–व्यवस्था निरन्तर चौपट होती जा रही है। अमेरिका तथा यूरोप में किसानों के पास सबकुछ उपलब्ध होते हुए भी वहां की सरकार 400 से 600 प्रतिशत तक सब्सिडी देती है। कृषि सम्बन्धी उत्पाद के निर्यातों में मिलने वाली सब्सिडी में कमी, खाद्यान्नों के समर्थन–मूल्यों की घोषणा पर प्रतिबन्ध एवं खाद्यान्नों के आयात–कर में छूट से देश की कृषि और प्रभावित हुयी है। विगत दो वर्षों में आन्ध्र, महाराष्ट्र, यहां तक की पंजाब में सैकड़ों किसान कृषि की बदहाली के कारण आत्महत्या कर चुके हैं।

'वैश्वीकरण' के अन्तर्गत 'बाजार की अनिवार्य प्रवेश' यानी प्रत्येक देश को अपने कुल जरूरत का 5 प्रतिशत कृषि–उत्पाद विदेशों से आयात करना ही पड़ेगा– की बाध्यता से अमेरीका अपने कृषि–उत्पादों से 140 विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था पर अपना कब्जा रख पाने में सफल रहेगा। भारत सहित विकासशील देशों की अपनी व्यापार नीतियां नहीं होंगी। GATT के सदस्य बनने के बाद भारत को आयात–कर को कम करना, उपभोक्ता सामानों में आयात पर लगे प्रतिबन्धों को हटाना, मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटाना आदि करना पड़ रहा है। इससे आज भारतीय टायर उद्योग, इस्पात उद्योग एवं कागज उद्योग विदेशी आयातित सामानों से प्रतिस्पर्धा के कारण बुरी तरह प्रभावित हुए हैं। सी.आई.आई. (CII) भारतीय उद्योग परिसंघ के अनुमान के अनुसार इससे भारत के पूंजीगत माल–व्यापार के क्षेत्र में पांच हजार करोड़ रूपये का नुकसान हुआ है।[4] इस सम्बन्ध में सबसे भयावह पेटेन्ट कानून है। भारत में यह सर्वप्रथम सन् 1970 में वस्तु–विशेष के निर्माण की प्रक्रिया को लेकर था न कि किसी उत्पाद पर, वह भी मात्र 5 से 7 वर्षों की कालावधि के लिए। W.T.O. के दबाव से अब भारत में यह 20 वर्षों या इससे भी अधिक समय के लिए प्रक्रिया तथा उत्पाद दोनों पर पेटेन्ट कानून लागू होता है। इससे कंपनियों की मनमानी का अधिकार बढ़ता है। अब यदि भारत अमरिका की देखा–देखी में क्रायोजेनिक इंजन का निर्माण करता है तो उसे यह कानून रोक देगा। अब तो

हमारे उपयोगी सामग्रियों – हल्दी, नीम, बासमती चावल, गायों के नस्ल आदि भी इस कानून के तहत आएंगे।

इस प्रकार वैश्वीकरण की नीति पूरे विश्व में एक ऐसी प्रतिस्पर्धात्मक दृश्य उपस्थित करती है जहां सचमुच में प्रतिस्पर्धा नहीं होती है। इस वैश्वीकरण में Survival of the fittest के लिए लगातार संघर्ष देखने को मिलेगा जो एक fittest द्वारा आयोजित एवं पूर्व नियोजित कार्यक्रम के अतिरिक्त कुछ नया नहीं होगा। यह तो पाश्चात्य संस्कृति की सोच है जहां विकेन्द्रित अर्थ को केन्द्रित कर सशक्त एवं महान् उपभोगी बनने का यत्न किया जाता है। भारतीय संस्कृति Survival for the weakest की रही है। यहां की संस्कृति में मानव–जाति के विकास के उच्चतम स्तर की कल्पना की गई है। इसकी परिधि में वैश्वीकरण की कल्पना आरम्भकाल से ही है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त किसी पूर्व–नियोजित आदेश–निर्देश पर आधारित नहीं है। पाश्चात्य जगत् का यह आधुनिक वैश्वीकरण विश्व के 80 फीसदी मानव के लिए हर प्रकार से खतरा है। इससे सम्पूर्ण मानव–जाति उपभोक्तावादी जाल में जकड़कर एक आर्थिक महायुद्ध में अर्थोपार्जन की एक ऐसी अन्धी दौड़ में शामिल होगी जहां तनाव ही तनाव होगा, हिंसा ही हिंसा होगी। अतिक्रमण, शोषण आदि व्यक्ति–व्यक्ति के लिए सामान्य सी बातें होंगी। इस परिस्थिति में मानव का न तो कोई धर्म होगा न कोई नैतिक चरित्र और न ही मानवता के लिए दया, करुणा, सहायता, सहानुभूति आदि जैसी भावना रहेगी। अधिक–से–अधिक धनोपार्जन तथा उपभोग–वृत्ति में वृद्धि विश्व के मानव को किस रूप में परिवर्तित करेगी? यह एक नैतिक मानव के लिए कल्पनीय भी नहीं है। इस प्रक्रिया में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का, एक उद्यमी दूसरे उद्यमी का ठीक उसी प्रकार शोषण करेगा जैसे तालाब की मछलियां तथा जंगल के जानवर करते हैं। मानव के महान् गुण विवेकशीलता व बुद्धिमता का दुरुपयोग जमकर होगा तथा एक जंगल राज की तरह एक वैश्विक साम्राज्यवाद का शेर पूरी दुनिया पर अपना प्रभुत्व जमाकर मानवीय तथा अमानवीय दोनों तरह से अपनी आवश्यकतानुसार शोषण करेगा। उसकी इच्छा ही शेष मानव–स्वभाव की नियति होगी। इस काल्पनिक शेर के रूप में होने के लिए अमेरिका की जी–तोड़ कोशिशें वैश्विक पटल पर देखी जा सकती हैं।

नीतिशास्त्र की दृष्टि में वर्तमान वैश्वीकरण पर विचार करना यानि नैतिक निर्णय देना एक महत्वपूर्ण कार्य है। वैश्वीकरण के तहत विश्व–मुद्रा–कोष के निर्देशों पर यहां हम विचार करते हैं तो लगता है कि इस प्रक्रिया के तहत् अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों के आचरण एकांगी हैं। नैतिक निर्णय न्यायात्मक निर्णय के विषय के रूप में आचरण से सम्बन्ध रखता है।[5] नैतिक निर्णय मात्र किसी विषय में ही नहीं वरन् किसी पर (Upon) निर्णय भी है।[6] इस प्रकार वैश्वीकरण का विषय, अर्थ तथा इसकी पूरी प्रक्रिया विश्व का सर्वाधिक सशक्त होना पर यदि विचार किया

जाय तो लगता है कि उसे नैतिक संकल्प के रूप में नहीं स्वीकारा जा सकता है। वैश्वीकरण के प्रत्यय आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, जैवकीय, मनोवैज्ञानिक आदि हैं जो दृष्टि–विविधता के अनुसार शुभ तथा अशुभ दोनों हो सकते हैं। नीतिशास्त्र का शुभ, परम शुभ से निर्देशित होता है। अर्थ व उपभोग शुभ हैं परन्तु मानवता की सेवा, देश–सेवा आदि श्रेष्ठ शुभ हैं। यदि यह मानव के उच्च तथा उच्चतम आदर्शों के अनुरूप है तो शुभ है तथा प्रतिकूल है तो यह अशुभ है। यह वैश्वीकरण स्वयं में एक उपकरणात्मक मूल्य (Intstrumental Value) अमेरिका आदि अमीर देशों के अपने उद्देश्य के लिए हो सकता है परन्तु स्वयं उन अमीर देशों का यह उद्देश्य ही एक न्यायप्रिय सार्वभौम मानव–धर्म की दृष्टि से अनुचित लगता है। इस वैश्वीकरण की नीति को हम धर्म तथा अधर्म का युद्ध कह सकते हैं। सृष्टि के आदि काल से धर्म–अधर्म का युद्ध चलता आया है। इन्हीं तत्वों के मूल में आज तक अनेक युद्ध तथा महायुद्ध होते हुए देखे गये हैं। अब यह युद्ध अपनी पूरी नग्नावस्था में होने वाला है जिसे आर्थिक युद्ध कह सकते हैं। हम संसार के प्राणी आज एक नये महायुद्ध के दरवाजे पर खड़े हैं जो अब तक के हुए सभी युद्धों से सर्वथा भिन्न है। यह युद्ध धर्म के आधार पर शस्त्रास्त्रों से नहीं वरन् अर्थ के आधार पर आर्थिक हथियारों से लड़ा जाने वाला युद्ध है। इसमें एक ओर समस्त विश्व पर आर्थिक साम्राज्य स्थापित करने की दानवी कामना रखने वाली शक्तियां हैं तो दूसरी ओर धर्म की ध्वजा फहराने की आकांक्षा रखने वाले भारत जैसे विकासशील तथा अन्य अविकसित एवं निर्धन देश होंगे।

भारतीय जीवन शैली में चार पुरुषार्थ– धर्म, अर्थ काम तथा मोक्ष– की बातें कही गयी हैं जिसे स्वीकार कर मानव अपने लक्ष्यों तथा परम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता है। इसमें प्रथम धर्म है जो सदाचार का पाठ पढ़ाता है। यह जड़ व चेतन से निर्मित मानव के लिए क्रमशः संसार तथा परमार्थ की बातें बताकर एक संतुलित तथा आदर्श अवस्था का उपदेशन करता है। पाश्चात्य संस्कृति व्यावहारिक रूप से मात्र दो प्रकार के ही पुरुषार्थों– अर्थ तथा काम को स्वीकार करती है। इनके पुरुषार्थों में धर्म की रिक्तता इन्हें एक उद्देश्यहीन जीवन प्रदान करती है। वैश्वीकरण इनके इन्हीं वसूलों पर आधारित यत्न है। इस यत्न में न तो साध्य ही पवित्र है न इनके साधन ही पवित्र हैं। ऐसे अभियान, जो नीति–सम्मत तथा प्रकृति–सम्मत नहीं हैं, वे कभी अच्छे परिणामदायी नहीं हो सकते। हमारे जीवन का आधार धर्म और सदाचार है न कि अर्थ व काम (उपभोग) की भावना।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः।।[7]

धन तो आता और जाता है। धन के क्षीण होने से भी सदाचारी मानव क्षीण नहीं होता। जो सदाचार से भ्रष्ट हो गया उसे नष्ट ही समझना चाहिए। सदाचार

की रक्षा यत्न पूर्वक करनी चाहिए। वैश्वीकरण की नीति, जिसका मूल सिद्धान्त अधिकाधिक अर्थोपार्जन और उसके माध्यम से अधिकाधिक भोग को जीवन का लक्ष्य समझना है, से प्रेरित होकर समस्त विश्व को अपने जाल में लपेटकर धीरे–धीरे अपना ग्रास बनाना है। धर्म तथा मोक्ष नैतिक प्रत्यय का विलोप होना ही W.T.O. व I.M.F. आदि संस्थाओं की जीत है। इनके विश्व में मात्र अर्थ व उपभोग की मान्यता रह जाएगी जिसे लेकर वे पूर्व से ही सचेष्ट रहे हैं। ऐसे विश्व में राम, कृष्ण, हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, बुद्ध, महावीर आदि व्यक्तित्व उत्पन्न न होकर रावण, कंस, दुर्योधन के सदृश्य लोगों का ही जन्म होता रहेगा।

इस प्रकार वैश्वीकरण की नीति एक बहुत बड़ी माया है। इस माया के जंजाल में फंसकर कराहने को विवश संसार के सभी निर्धन देश हो सकते हैं। इस मानवी त्रासदी से बचने के लिए भारतीय संस्कृति की ओर ही आना होगा। धर्म की हानि तथा अधर्म–राज के विरुद्ध हमारी संस्कृति में निराकरण, समाधान व संतुलन हेतु अवतार भी होता है।[8] अन्त में हम भारतवादी इस वैश्वीकरण अभियान को देखकर ईश्वर से पुनः पुनः यही निवेदन करेंगे–

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथोधिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी।।[9]

नाथ! विश्व का कल्याण हो, दुष्टों की बुद्धि शुद्ध हो, सब प्राणियों में परस्पर सद्भावना हो, सभी एक दूसरे का हित–चिन्तन करें, हमारा मन शुभ मार्ग में प्रवृत्त हो और हम सबकी बुद्धि निष्काम भाव से भगवान् श्रीहरि में प्रवेश करे।

प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग,
रामेश्वरदास पन्नालाल महिला महाविद्यालय,
पटना सिटी, पटना

संदर्भ

1. *The activities of man in relation to food and property constitute the economic institution. Ogburn & Nimkoff डॉ. आर.एन. शर्मा, नीतिशास्त्र की रूप रेखा, पृ. 353 से।*
2. *पाण्डेय डॉ. रवि प्रकाश, वैश्वीकरण एवं समाज, पृ. 1.*
3. *Malcom Waters, Globalization.*
4. *कुमुदकान्त, आलोक सिंह : विश्व व्यापार संघटन : एक भयावह जहर, पृ. 35.*
5. *Muirhead, J.H. The Elements of Ethics, p-19.*
6. *Mackenzie, J.S. A Manual of Ethics, p.-112.*
7. *महाभारत, उद्योग, 36/30.*
8. *श्रीमद्भगवद्गीता – 4/7–8.*
9. *श्रीमद्भागवत – 5/18/9.*

महिला सशक्तिकरण : अतीत से आज तक

डॉ. नागेन्द्र तिवारी

समाज में नारियों की स्थिति किसी भी समाज की सभ्यता और संस्कृति की द्योतक होती है। शिक्षित, सुसंस्कृत, उन्नत महिलाओं का समाज उन्नत और अशिक्षित एवं अनुन्नत महिलाओं का समाज अनुन्नत होगा। भारतीय इतिहास के पन्ने उलटने पर हम देखते हैं कि भारत में नारियों की दशा समय–समय पर परिवर्तित होती रही है। वैदिककाल नारी–गरिमा का स्वर्ण–युग था। इस काल में उनकी स्थिति अच्छी थी, उनकी समाज में प्रतिष्ठा थी। समाज में उनका स्थान पुरुषों के समकक्ष था। उन्हें कल्याणी, भार्या, अर्धांगिनि, गृहलक्ष्मी प्रभृत नामों से अभिहित किया जाता था। बिना स्त्री के कोई भी पवित्र कार्य पूर्ण नहीं माना जाता था। वैदिक काल में तो वह ऋषियों के आश्रमों में रहकर ऊँची शिक्षा प्राप्त करती थी, उन्हें धार्मिक ग्रंथों के पढ़ने का अधिकार था। वे शास्त्राथों में भाग लेती थीं, यज्ञोपवीत धारण करती थीं। पर्दे की प्रथा नहीं थी। उन्हें अपना पति स्वयं चुनने का अधिकार था। साहित्य, विज्ञान, कला, राजनीति सभी क्षेत्रों में उन्होंने पुरुषों के साथ सामाजिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया था। गार्गी, मैत्रेयी, अपाला, लोपामुद्रा जैसे नारी–रत्नों का नाम इतिहास में अमर है। ज्ञान की प्रखरता के कारण *ऋग्वेद* में नारी को ब्रह्म रूप माना गया है और शची–प्रसंग (10.15.2) में यहां तक स्वीकारा गया है नारी ही घर है। ब्राह्मण ग्रंथ : *जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण* (25.10.17) तथा *तैतिरीय* में नारी के बिना यज्ञों की वर्जना की गयी है। *तैतिरीय* और *शतपथ ब्राह्मण* में तो नारी–निन्दा पाप माना गया है। *मार्कण्डेय पुराण* में नारी को आदि–शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। *रामायण* तथा *महाभारत* से यदि नारी–चरित्र को काट दिया जाये तो शेष कथा की गति आगे बढ़ ही नहीं सकती।

मध्य युग (11वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक) में नारियों की दशा ह्रास की ओर बढ़ने लगी। पठान तथा तुर्क आक्रमणकारियों के भय से परदे की प्रथा का प्रचलन हुआ और फिर तो नारियों को जिस चक्की में पिसना पड़ा, उससे आज तक वे मुक्त नहीं हो सकी हैं। इस काल में नारियों की स्वतंत्रता जाती रही। घर से बाहर घूमना वर्जित कर दिया गया। उनकी शिक्षा में भी कमी आ गई, एक प्रकार

से वे अशिक्षित रहने लगी। बाल–विवाह, सती–प्रथा, पर्दा–प्रथा जैसी कुप्रथाएं हमारे सामाजिक जीवन में घुस आईं। इन कुरीतियों के कारण नारियों का सामाजिक जीवन अभिशाप बन गया।

ब्रिटिश काल में यद्यपि महिलाओं में सामाजिक चेतना आयी, लेकिन अधिक प्रगति नहीं हुई। ब्रिटिश शासनकाल में राजा राम मोहन राय ने नारी को कुरीतियों के अभिशाप से मुक्त करने का प्रयास किया। अन्य समाज–सुधारकों ने भी इस दिशा में सराहनीय कार्य किये। परंतु यह सब होते हुए भी नारियों की स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ।

स्वतंत्रता–प्राप्ति के पश्चात् सरकारों, महिला संगठनों, महिला आयोगों आदि के प्रयासों से महिलाओं के लिए विकास के द्वार खुले। उनमें शिक्षा का प्रसार बढ़ा, जिससे उनमें जागृति आयी, आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ। परिणामस्वरूप वे प्रगति के पथ पर आगे बढ़ीं। आज वे राजनीति, समाज–सुधार, शिक्षा, पत्रकारिता, साहित्य, विज्ञान, उद्योग, व्यावसायिक प्रबंधन, शासन–प्रशासन, डाक्टरी, इंजीनियरिंग, पुलिस, सेना, कला, संगीत, अध्यात्म, खेलकूद आदि क्षेत्रों में पुरुषों के साथ उपस्थिति बना रही हैं, उनके कंधे से कंधा मिलाकर कार्य कर रही हैं।

एक ओर तो परिदृश्य उत्साहवर्द्धक है, परंतु दूसरी ओर दृष्टिपात करें तो दिखायी देगा कि पग–पग पर नारी तिरस्कृत, असुरक्षित एवं उत्पीड़ित है। नारी–उत्पीड़न की घटनाएं द्रौपदी के चीरहरण की तरह बढ़ रही हैं। तंदूर में जलती नारी देह–उत्पीड़ित और बलात्कार की आग में झुलस रही है। शायद इसका यह भी कारण है कि सांस्कृतिक प्रदूषण के कारण हम नारी को उस रूप में नहीं देख पाते जिस रूप में हमारी संस्कृति में चित्रित की गई है। दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती के रूप में उनकी पूजा करने का विधान है। वह ममता और त्याग की मूर्ति के रूप में हमारी संस्कृति में चित्रित की गई हैं। लेकिन आधुनिक उपभोक्तावादी और सुखवादी संस्कृति के कारण हम इन आदर्शों को भूल–सा गए हैं। यदि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो इस समस्या के निराकरण की बात की जा सकती है। यदि हम पृष्ठभूमि में स्वाभाविक रूप में सुखवादी, उपभोक्तावादी एवं संकीर्णतापूर्ण भोगवादी दृष्टिकोण से बच सकते हैं तब हम नैतिक आदर्शों के परिवेश में अपने आचार–विचार में धर्मों का अनुशीलन और अभ्यास की आशा कर सकते हैं क्योंकि अध्यात्मवादी दृष्टिकोण का स्पष्ट अर्थ होता है उसका विचार परिष्कृत हो तथा आचार और व्यवहार भी उसी के अनुरूप हो। ऐसी स्थिति में नारी को भोग का विषय नहीं समझा जा सकता। उसे पवित्रता, त्याग तथा ममता की मूर्ति समझा जा सकता है। आधुनिक महिलाओं को भी इस प्रकार के दृष्टिकोण अपने में विकसित करने की आवश्यकता है। दुर्भाग्यवश आधुनिक महिलायें सांस्कृतिक प्रदूषण के कारण इस

पवित्र परम्परा को भूल रही हैं और अपने को सरल जीवन–शैली के स्थान पर प्रदर्शन की भावना के आधार पर अपने वेशभूषा को रखने की अभ्यस्त हो रही हैं जिसके कारण बहुत तरह की समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

महिला–सशक्तिकरण पर हो रही बात के बीच जब हमारा ध्यान लिंगानुपात पर जाता है तो देखकर चिन्ता होती है कि लिंगानुपात किस कदर गिरता जा रहा है। भारत जैसे देश में 1991 की जनगणना में स्त्री–पुरुष अनुपात प्रति हजार पुरुषों पर 945 महिलाओं का था, लेकिन 2001 की जनगणना के अनुसार यह घटकर 933 रह गया है। बिगड़ते लैंगिक अनुपात के कारण जब महिलायें ही नहीं रहेंगी तो हम सशक्तीकरण किसका करेंगे? पहली समस्या तो उन्हें बचाने की है, सशक्तिकरण तो बाद में होगा। लैंगिक अनुपात के गिरने जैसी गम्भीर समस्या की जड़ में क्या है? गिरते लैंगिक अनुपात के लिए उत्तरदायी हैं– दहेज प्रथा, सामाजिक मान्यता एवं समुचित शिक्षा का अभाव।

दहेज–प्रथा आज नारी–जाति के लिए सबसे बड़ा अभिशाप है। इस प्रथा के चलते लड़की पैदा होना मां–बाप पर पहाड़ टूटना होता है। वैदिक काल में कन्यादान के रूप में शुरू हुई सामाजिक परंपरा आज शादी के पूर्व शर्त बन चुकी है। आज शादी एक उद्योग या व्यवसाय बन चुकी है जिसमें बाकायदा लेन–देन होता है। शायद इसलिए कह भी दिया जाता है कि शादी एक समझौता है और जब शादी दो आत्माओं का पवित्र मिलन न होकर मात्र समझौता रह जायेगा तो तकरार होना तो तय है, क्योंकि समझौते की अपनी शर्तें होती हैं और शर्तों का सदैव पालन हो यह नामुमकिन है। शादी करना आज एक महंगा सौदा हो गया है, फलतः मां–बाप कन्या–जन्म देने से परहेज करते हैं। हमारे समाज के ईश्वर माने जाने वाले तथाकथित डाक्टर मां–बाप के दुःख दर्द से आहत होकर मात्र डेढ़–दो हजार का चढ़ावा लेकर उन्हें कन्या–भ्रूण से निजात दिला देते हैं, और समाज के लिए एक स्लोगन भी छोड़ देते हैं– "वर्तमान में डेढ़ हजार खर्च करके भविष्य के डेढ़ लाख के खर्च से बचिये।" एक गैर सरकारी सर्वेक्षण के अनुसार देश में लगभग 20 लाख कन्याएं प्रतिवर्ष जन्म से पूर्व ही मौत की नींद सुला दी जाती हैं। लेकिन इंडियन मेडिकल एसोसिएशन का मानना है कि देश में प्रतिवर्ष लगभग 50 लाख कन्या–भ्रूण नष्ट किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त दहेज–जनित महिला मृत्यु के आंकड़े तो साल–दर–साल बढ़ते ही जा रहे हैं। दहेज–प्रथा नष्ट होनी चाहिए। कोई भी युवक जो दहेज को अपने विवाह की शर्त बनाता है अपनी शिक्षा को कलंकित करता है, अपने देश को कलंकित करता है और नारी जाति का अपमान करता है। दहेज की इस नीचे गिराने वाली प्रथा के खिलाफ जनमत तैयार करना चाहिए और जो युवक इस पाप के सोने से अपने हाथ गन्दा करते हैं उनका समाज के बहिष्कार करना चाहिए। दहेज प्रथा के उन्मूलन के लिए सरकार ने सर्वप्रथम

सन् 1961 में एक 'दहेज निरोधक अधिनियम' पारित किया जिसके द्वारा लड़के या लड़की के विवाह की स्वीकृति के रूप में किसी भी प्रकार का दहेज लेने अथवा देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। परन्तु सरकार के कोई भी वैधानिक अथवा प्रशासकीय प्रयन्त दहेज की समस्या को कम करने में अधिक सहायक सिद्ध नहीं हो सके हैं।

समुचित शिक्षा का अभाव भी लैंगिक अंतर का एक बड़ा कारण है। साक्षरता और शिक्षा दो चीजें हैं। हरियाणा में साक्षरता (पुरुष+स्त्री = 68.59 जिसमें पुरुष : 79.25 है और स्त्रियां : 56.31 हैं) बिहार (पुरुष+स्त्री = 47.53 जिसमें पुरुष : 60.32 और स्त्री : 33.57 है) की अपेक्षा ज्यादे है किन्तु लैंगिक अनुपात बिहार से कम। वास्तव में समुचित शिक्षा का अभाव हरियाणा और बिहार दोनों में है और दोनों राष्ट्रीय औसत से पीछे हैं।

अंत में मैं यही कहना चाहूंगा कि प्राचीन काल की स्वच्छ एवं पवित्र भावना को अपनाये बिना तथा वर्तमान काल के लैंगिक असमानता, दहेज–प्रथा, सामाजिक मान्यता और समुचित शिक्षा के अभाव जैसी समस्याओं को सुलझाये बिना महिला सशक्तीकरण की कल्पना नहीं की जा सकती।

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र,
मुरारका कॉलेज, सुलतानगंज,
ति.मां. भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

वैश्वीकरण व भारतीय समाज पर उसका प्रभाव

डॉ. अरविन्द विक्रम सिंह

वैश्वीकरण का विचार परस्पराश्रितता व आर्थिक उन्नयन के सिद्धान्त से निगमित हुआ है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज के बिना व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं है एवं विकास के लिए परस्पर समभाव की जरूरत है। जीवन का उद्देश्य सुख–शांति पूर्वक अपने कार्यों को सम्पन्न करना है। वैश्वीकरण को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न ढंग से व्याख्यायित किया है। लेकिन इसका मूल है कि यह अवधारणा एक ऐसे विश्व–समाज की कल्पना करती है जिसमें हम दुनियां के सभी देशों के बीच आर्थिक एवं सामाजिक रूप से अपने विचार, तकनीक, माल एवं मौद्रिक विनियम कर सकें। इसीलिए आजकल विश्व–शांति, सुरक्षा एवं विकास के मुद्दे पर बहस चल रही है। आज विश्व–गांव की कल्पना की जा रही है, यह तब सम्भव होगा जब लोगों के विचार में परिवर्तन होगा। कुल मिलाकर वैश्वीकरण मानव–जीवन के समस्त पहलुओं को समाहित करता है, जिससे समुचित विकास सम्भव हो।

आज वैश्वीकरण के प्रभाव हमारे समाज में परिलक्षित हो रहे हैं तथा इसके परिणाम स्वरूप हो रहे परिवर्तनों ने भी अपना असर दिखाना शुरू कर दिया है। इन परिवर्तनों के कारण ही व्यापक शहरीकरण की फैलती संस्कृति ने भी हमारे समाज पर अपना प्रभाव डालना शुरू कर दिया है। वैश्वीकरण के प्रभाव में, बदलती आर्थिक नीतियों के कारण हमारी अर्थव्यवस्था एवं आर्थिक ढांचा भी प्रभावित हो रहा है, जिसके परिणामस्वरूप सरकार द्वारा अपनाई जा रही कल्याणकारी नीतियों को अपनाने से मानव का जीवन–स्तर सुधर रहा है। बचत, ऋण आदि की सुविधायें बढ़ी हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या यह भारत के संदर्भ में लाभदायक है ?

यह सर्वविदित कि 20 वीं शती के पहले चार दशकों में बहुत थोड़े–थोड़े अन्तराल मे हुए दो विश्वयुद्धों से न केवल बहुत अधिक जान–माल की हानि हुई अपितु कई देशों की अर्थव्यवस्था भी प्रभावित हुई जिसका सीधा असर जन–सामान्य के ऊपर हुआ और जनसामान्य की प्रगति अवरुद्ध हुई।

1981 में (प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद) 'काउन्सिल ऑफ द लीग आफ द नेशन' को प्रजातीय, धार्मिक, भाषायी, अल्पसंख्यकों के अधिकारों के रक्षण का दायित्व दिया जाना इस पृष्ठभूमि का परिणाम है। 1941 ई. 1948 ई. एवं 1949 ई. में इन प्रयासों को और अधिक व्यवस्थित रूप दिया गया। इस युग में नाजीवाद, फासीवाद एवं द्वितीय विश्व युद्ध तथा वि–औपनिवेशीकरण के प्रयासों के प्रभाव भी महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। औद्योगीकरण, तीव्र नगरीय करण, शीत युद्ध, समाजवादी व्यवस्था एवं विकासशील देशों की सम्बद्धता, गुट–निरपेक्ष आन्दोलन, अमेरिका–वियतनाम युद्ध आदि कुछ ऐसी घटनाएं हैं जिनके कारण वैश्वीकरण के महत्व एवं विचार को विस्तार दिया।

वैश्वीकरण की अवधारणा का बीज तो हमें 14वीं शती के महान् दार्शनिक कवि दान्ते एलीगरी की कृति *"मोनारकिया"* में मिलता है, जिसमें विश्व–सरकार (World Government) या विश्व–संसद की कल्पना की गई थी। उनका मत था कि समस्त राज्यों को मिलाकर एक संयुक्त राज्य बना दिया जाय।

इसी अवधारणा को संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में निहित किया गया। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में कहा गया है कि 'हम संयुक्त राष्ट्र के लोग, आने वाली पीढ़ियों को युद्ध के अभिशाप, जिसने हमारे जीवन को युद्ध के अभिशाप, जिन्होंने हमारी मानवता को दो बार दुःख पहुंचाया है, से बचाने के लिए.... विश्व शान्ति व सुरक्षा को बनाए रखने के लिए, अपनी शक्ति को इकट्ठा करने के लिए... यह प्रतिज्ञा करते हैं कि इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने प्रयासों का समूहीकरण करेंगे।' इस समय से लेकर अब तक संयुक्त राष्ट्र द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय संस्थान– जिसमें कुछ क्षेत्रीय सुरक्षा के लिए और कुछ सदस्य देशों में मित्रता–पूर्ण विकास और सहयोग के लिए स्थापित किए गए।

1944 में अर्थ–व्यवस्था के माध्यम से वैश्वीकरण की पहल की गई। ब्रेटेन वुड समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार विश्व की समस्त अर्थ व्यवस्था एक हो जाय, इसी अवधारणा को ध्यान में रखकर विश्व–बैंक, आई.एम.एफ. आदि की स्थापना हुई।

1960 में संयुक्त राष्ट्र ने एक जनरल असेम्बली रेजोलूशन 1960 (1514) पारित किया जिसमें लगभग 4 साल में 54 राष्ट्र स्वतंत्र हुए। इससे तीसरी दुनिया की आवाज सशक्त हुई और विश्व एवं वैश्वीकरण की अवधारणा को भी बढ़ावा मिला।

1970 में यह अवधारणा और प्रबल हुई तथा वैश्वीकरण के सिद्धान्त के स्थान पर परस्पराश्रिता (Interdependence) की अवधारणा स्थापित हुई। इस अवधारणा का जन्म 1971 में Oil Crises में एक संघर्ष भी उभरा जिसके परिणाम स्वरूप OPEC और Western World देशों द्वारा तेल की आपूर्ति पश्चिमी देशों को

कम कर दी गई जिसके कारण पश्चिमी देशों में कई समस्यायें भी पैदा हुईं। परन्तु यह crisis खत्म हो जाने पर जब पश्चिमी देशों और OPEC में समझौता हो गया तब Interdependence की अवधारणा को दुनिया का महामंत्र माना जाने लगा।

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के विचारक Robert Keohen ने एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसे Regime Theory नाम दिया। इसमें उन्होंने विश्व के सारे संबंधों को विभिन्न घटकों में बांट दिया। जब हम निःशस्त्रीकरण की बात करते हैं तो उसमें जब सारे राष्ट्र एक साथ होकर NPT पर हस्ताक्षर करने के लिये तैयार हो जायेंगे तो वैश्वीकरण और अधिक सुदृढ़ हो जायेगा और एक तरह से अन्तर्राष्ट्रीय Regime की स्थापना हो सकेगी। उसी तरह WTO और IMF का समन्वय विश्व की सामूहिक अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है तथा यह इस बात का उदाहरण है कि इस सामूहिक व्यवस्था को तथा विश्व में Neo-liberalism एवं Neo-liberal-Institutionism की अवधारणा को अवतरित करता है।

वैश्वीकरण के सिद्धान्त–प्रतिपादन पर 'व्यक्तिवाद' का ह्रास होता है क्योंकि हर व्यक्ति बड़े तन्त्र में एक बिन्दु के समान कार्य करता है और इस तन्त्र में बिन्दु की कोई व्यक्तिगत महत्ता नहीं होती है और सारे बिन्दु एक दूसरे को सफल बनाने के लिए परस्पर सहयोग एवं कार्य करते हैं।

यदि हम गहनता से विश्लेषण करें तो ज्ञात होता है कि भारत में स्वदेशी का सिद्धान्त है और ऊपरी तौर पर ऐसा लगता है कि यह वैश्वीकरण के विरोध में जाता है। लेकिन वास्तविक रूप में ऐसा नहीं है। यदि हम गांधी की यूनीक फिलोसफी देखें जिसमें व्यक्तिवाद और वैश्वीकरण की अवधारणाओं की चर्चा की गई है तो पता चलता है कि महात्मा गांधी ने भी एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जिसका नाम था Oceanic Conception of State। इस अवधारणा में उन्होंने कहा था कि सारे गांव एक साथ रहकर स्वाधीन रहेंगे लेकिन एक दूसरे के साथ सहयोग भी स्थापित करेंगे और बहुत सारे ग्राम मिलकर एक तालुका (District) बनाएंगे एवं विभिन्न प्रकार के तालुका संगठित होकर एक शहर बनाएंगे और विभिन्न प्रकार के शहर संघ एक राज्य बनाएंगे और सारे राज्य मिलकर एक राष्ट्र बनाएंगे और सारे राष्ट्र मिलकर एक अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का गठन करेंगे।

महात्मा गांधी जी के विचार औद्योगिकरण एवं वैश्वीकरण के विरुद्ध नहीं हैं। वे चाहते थे कि जब कभी विकास की शुरुआत हो, तो उसकी उत्प्रेरणा गांव हो और आगे चलकर यह पूरे विश्व को राम–राज्य में समाहित कर सके। एक प्रकार से यह भारतीय मूल की वैश्वीकरण की अवधारणा है जिसे महात्मा गांधी ने प्रतिपादित किया एवं आगे बढ़ाया है। इसे हम लोग Localisation to Globalization कह सकते हैं जिसमें आगमनात्मक विधि का प्रयोग करना पड़ेगा, जहां आरंभ छोटे घटकों से करेंगे और बड़े सिद्धान्तों की तरफ बढ़ेंगे। एक तरह से हम गांव व संयुक्त

राष्ट्र के बीच एक कड़ी स्थापित कर पाते हैं जिसको थोड़ा गम्भीरता पूर्वक सोचने व देखने में ही समझा जा सकता है। भारत में दादा भाई नौरोजी जैसे लोग वैश्वीकरण के पक्षधर नहीं थे क्योंकि उनके अनुसार वैश्वीकरण साम्राज्यवाद का दूसरा नाम है। इन्होंने भारत की गरीबी का कारण अंग्रेजों की आर्थिक नीति को बताया। उनके अनुसार भारत में गरीबी का कारण मेनचेस्टर–आर्थिक–नीति मुख्य कारण थी। इसी आर्थिक नीति के कारण भारत के हथकरघा उद्योग का ह्रास हुआ। इस प्रकार से राष्ट्रवाद और वैश्वीकरण दो प्रतिरोधी अवधारणाएं हैं जिनका सामंजस्य भारत के विचारक ही कर सकते हैं। दोनों में सामंजस्य आवश्यक है।

वैश्वीकरण को मशीनीकरण का युग भी कहा जा सकता है जहां पर हम लोग अपने घरों में रहकर World-wide Web के माध्यम से इंटरनेट पर समस्त दुनिया के उपलब्ध ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं तथा किसी व्यक्ति से किसी भी देश में सम्पर्क कर सकते हैं।

वैश्वीकरण को समस्या के अनुसार से कई श्रेणियों में बांटा गया है– जैसे 1970 के पहले के वैश्वीकरण को Convergance Part I कहा गया। आज कल के वैश्वीकरण को Convergance II कहा जाता है। Convergance का अर्थ है– सभी अवधारणा एवं नियमों को किसी एक केन्द्र–बिन्दु में प्रतिस्थापित किया जाय जिससे कि एक साधारण नागरिक, जो विश्व का एक सबसे छोटा घटक है, उसे क्षण भर में ही जीवन की समस्त सुविधाएं उपलब्ध हो जायें। परन्तु यदि हम European Union के गठन की प्रक्रिया को देखें तो पाएंगे कि कुछ राष्ट्र– जैसे – ब्रिटेन, नार्वे व डेनमार्क ये सभी E.U. में मिलने को पूर्णतः तैयार नहीं थे। इन्हें मिली जुली करेन्सी व मिली जुली सेना के सिद्धान्त स्वीकार नहीं थे क्योंकि उन्हें लगता था कि इससे उनकी स्थानीय संस्कृति का ह्रास हो जाएगा और विश्व उन्हें यूरोपियन संघ के एक साधारण घटक के रूप में ही देखेगा, न कि एक शक्ति–सम्पन्न राष्ट्र के रूप में।

विश्लेषण से हम पाएंगे कि वैश्वीकरण का सिद्धान्त चाणक्य की कूट–नीति एवं राष्ट्रवाद के विरोधाभास में है, क्योंकि इसके अनुसार वसुधैव कुटुम्बकम् के सिद्धान्त को लागू करने से किसी राष्ट्र के राष्ट्रीय हित का ह्रास होता है। किसी भी देश की पहचान (uniqueness) उसे बाहरी विश्व से पृथक् बनाती है। वैश्वीकरण में उसकी विशेषता का भी विलयन हो जाता है। इस प्रकार राष्ट्रवाद और वैश्वीकरण एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्वी अवधारणाएं हैं। यदि हम भारत में Mixed Economy के सिद्धान्त को देखें तो पायेंगे कि भारत ने एक मध्यम मार्ग अपना लिया है जिसमें उदारीकरण एवं निजीकरण के साथ–साथ राष्ट्र के लोक–कल्याणकारी कार्य को भी प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है। इससे उजागर होता है कि एक तरीके से हम लोग वैश्वीकरण से संतुष्ट नहीं हैं। भारत के संदर्भ में हमें Functionalism रूपी अवधारणा को अपनाना अधिक उपयुक्त होगा। इसके अन्तर्गत

समाज एवं अर्थ व्यवस्था का प्रत्येक घटक विभिन्न प्रकार के कार्य करता है और प्रत्येक घटक की पूरे तंत्र में महत्ता होती है तथा सारे घटक मिलकर एक Functional System बनाते हैं, जहां हर व्यक्ति हर कार्य नहीं कर सकता। परन्तु व्यक्ति अलग–अलग रहकर एक बड़े कार्य–योजना को पूर्ण करते हैं। यह सिद्धान्त हमें वैश्वीकरण की ओर उन्मुख करेगा तथा हम वैश्वीकरण को पूरी तरीके से अंगीकार किये बिना भी उसी उदारवाद की दिशा में चलते रहेंगे तथा वैश्वीकरण की धारा से जुड़े रह पायेंगे।

आज वैश्वीकरण के कारण उपभोक्तावाद को बढ़ावा मिल रहा है जो कि असीमित है और अन्तहीन है तथा यह हमें व्यक्तिवाद से दूर ले जाता है। इसके दूरगामी परिणाम भारत में भी परिलक्षित होने लगे हैं :

भारतीय महिलाओं पर वैश्वीकरण का प्रभाव :

1991 के जनगणना के महिलाओं की भागीदारी पूरी जनसंख्या की 48.2 प्रतिशत है। यह बात ध्यान देने की है कि महिलाएं घरेलू कार्यों एवं शिशु–पोषण के अलावा भी उत्पादन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। यह एक विरोधाभास है, परन्तु रोजगार व मजदूरी के विषय में उनके प्रति पुरुष की तुलना में दोहरे मानदण्ड अपनाये जाते हैं। यहां तक कि वैश्वीकरण के युग में महिलाओं को सामाजिक आर्थिक संस्थानों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिलता तथा पुरुषों के मुकाबले में उन्हें कुछ कार्य हेतु उपयुक्त नहीं माना जाता। यह माना जाता है कि वे भारी काम नहीं कर सकतीं। यहां यह संभव है कि वैश्वीकरण लिंग–भेद को बढ़ावा देता है। इससे भारतीय महिलाओं को नुकसान हो सकता है – 1. जेण्डर (भेदभाव के कारण), 2. महिलाओं को कम मजदूरी देकर उनको उत्पीड़न या उन्हें परम्परागत कामों तक ही सीमित कर देना जिससे वह शक्तिहीन हो जाय, 3. राजनैतिक रूप से, 4. सांस्कृतिक रूप में।

वैश्वीकरण के प्रभाव में प्राकृतिक सम्पदाओं के वितरण में भी गंभीर असमानता नजर आती है। प्राकृतिक सम्पदा में पानी की ही समस्या को लेकर, विशेष रूप से तमिलनाडु व आंध्र प्रदेश पानी की कमी की समस्या से जूझ रहे हैं। महिला अधिकांश दूसरों के घरों में भी पानी की आपूर्ति करती है तथा मजदूरी करती है, जिससे उसे अथक परिश्रम करना पड़ता है जिसका असर उसके स्वास्थ्य पर पड़ता है। जहां एक तरफ पानी की कमी है वहीं उद्योगीकरण में कारखानों में पानी का अन्धाधुंध प्रयोग हो रहा है। उद्योग–धंधे वहीं लगाए जाते हैं जहां कृषि योग्य भूमि व पानी अधिक मात्रा में होते हैं। जमीनों को या तो औद्योगिक कम्पनियां खरीद रही हैं या उनसे अनुबन्ध कर उसके भूमिगत जल का अन्धा–धुंध दोहन कर रही हैं। इस तरह से पानी उन कम्पनियों के काम आने लगा है। अब हमें अपनी जरूरत के लिए उनसे पानी खरीदना पड़ता है, जिससे शीघ्र ही भारत में जल समस्या विकट रूप धारण करने वाली है।

भारतीय प्रतिभा का पलायन :

यह देखा जा रहा है कि भारतीय प्रतिभाओं की विश्वव्यापी मांग है। लेकिन भारत वर्ष में सरकारी प्रतिष्ठानों में उनकी क्षमता के अनुपात में पारिश्रमिक नहीं मिलता। इसलिए उनकी रुझान विदेशी बहुद्देशीय कम्पनियों की तरफ हो रही है जहां उनको समुचित संसाधन मिलता है। यदि यह क्रम चलता रहा तो भारत ही नहीं अपितु सभी विकासशील देशों, अविकसित एवं अर्द्धविकसित देशों की प्रतिभा पलायन कर जाएगी और उन्हीं प्रतिभाओं से विकसित देश समृद्ध होते चले जाएंगे एवं अर्द्धविकसित एवं विकासशील देशों को उनके ऊपर निर्भर रहना पड़ेगा। यह हमारी स्वयत्तता पर आघात होगा।

GATT- General Agreement of TRade and Tarrif :

दुनियां में सभी प्रकार के व्यापार एवं तटकर में महासमझौता है। इसमें सदस्य देश आपस में खुला व्यापार कर सकते हैं। आरंभ में दुनिया के 23 देश इसके सदस्य थे लेकिन आज 146 देश सदस्य हैं, जिसमें रूस पहले सदस्य था लेकिन उसे विघटन के बाद उसकी सदस्यता रद्द कर दी गई। चीन दो वर्ष पहले इसका सदस्य बना। आईएमएफ को अब डब्ल्यूटीओ में बदल दिया गया।

डब्ल्यूटीओ एवं विश्व व्यापार संघठन के अन्तर्गत (GATT को) व्यापार–संबंधी नीतिगत निर्णय लिए जाते हैं। विश्व में एक देश का व्यापार दूसरे देश के साथ किन–किन नियमों के तहत स्थापित किया जाएगा, इसकी नीति तैयार की जाती है। वैसे भी प्रत्येक देश के अंतर्गत क्षेत्रीय व्यापार संगठन बना हुआ है, जैसे OPEC, SAARC, GATT। इनके तहत कृषि–उत्पादन से संबंधी Trade mark, Copy right, Trips (Trade Related to Intellectual Property Right) पेटेण्ट एवं जीन्स के सम्बन्ध में दिशा–निर्देश तैयार किये जाते हैं। भारतीय बासमती चावल के पेटेण्ट का मामला अभी तक सुलझा नहीं है तथा अन्य उत्पादनों के पेटेण्ट पर भी विश्व–स्तर की बहस जारी है।

भारतीय कृषि आधारित संरचना– वैश्वीकरण का प्रभाव :

GATT और WTO समझौता लागू होने के उपरान्त भारतीय कृषि में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन देखा गया। भारत में लगभग 74 प्रतिशत जनता गांवों में निवास करती है एवं उनका सम्पूर्ण जीवन कृषि पर निर्भर करता है। हमेशा से ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था अलग रही है। यहां तक कि औद्योगिक विकास भी इसके महत्व को कम नहीं कर सका। कृषि का भारतीय अर्थ–व्यवस्था में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। हमें जीवन–यापन की सामग्री एवं कल–कारखानों के लिए कच्चा माल गांवों से मिलता है। विकासशील देशों के ऊपर इनका प्रभाव कम फायदे मंद है। सबसे अधिक लाभ विकसित देशों को है क्योंकि उनके पास एक विकसित तंत्र है।

मजदूरों को तब फायदा होगा जब उनके उत्पाद के लाभ में उनको हिस्सा दिया जाय और उनके लेबर राइट को पेटेण्ट किया जाय। तीसरी दुनिया में मजदूर अधिक हैं और विकसित देशों के लोग उनका फायदा ले लेते हैं तथा उन्हें सस्ती मजदूरी भारत में उपलब्ध हो जाती है।

भारतीय अर्थ–व्यवस्था पर वैश्वीकरण का प्रभाव :

भारतीय अर्थ–व्यवस्था पर भी इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। भारत सरकार भी आय–स्तर के निर्धारण, बचत, निवेश व रोजगार के स्तर को बढ़ाने के लिए प्रयासरत है। इसी क्रम में आर्थिक नीतियां मील का पत्थर साबित हो रही हैं। सरकार ने भी IMF के साथ सहयोगात्मक रवैया अपनाया है। विदेशी कम्पनियों को भारत के निवेश करने के लिए आमंत्रित किया गया है। नई आर्थिक नीति को स्वीकार करने के बाद बहुत सी बहुराष्ट्रीय कम्पनियां भारत की ओर अपनी नजरें जमाई हुई हैं। इस नीति से भारत में एक नए प्रकार के सामाजिक–आर्थिक आयामों को बल मिलेगा।

लेकिन इस नीति को स्वीकार कर लेने पर इसके दूरगामी प्रभाव अच्छे नहीं होंगे। आरम्भ में तो यह बहुत अच्छा लगेगा कि हमें अपने सभी आराम की वस्तुएं, तकनीक आदि विदेशों से आपूर्ति हो जाएंगी लेकिन जब हम उन चीजों के उपभोग के आदी हो जाएंगे तब वही बहुराष्ट्रीय कम्पनियां हमारा शोषण करना आरम्भ कर देंगी। इसलिए हमें चाहिए कि हम अपने आप को वहीं तक सीमित रखें जहां तक हमारे संसाधन उपलब्ध हैं। हम उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करें जो हमारी प्रकृति ने हमें उपहार स्वरूप दिया है। हमें उपभोगवादी संस्कृति के रोकने हेतु भी उपाय करने होंगे।

वैश्वीकरण एवं आर्थिक सुधार :

आर्थिक नीतियों का वर्तमान चरण 1991 में प्रकाश में आया। यह नीति चार मानदण्डों पर आधारित है– वित्तीय–सुधार नीति, मोनीटरी पॉलिसी रिफार्म, एक्स्चेन्ज रेट अड्जस्टमेण्ट एण्ड रियलिस्टिक वेजेज, अन्य नीति। आर्थिक सुधार में– वित्तीय, सामाजिक एवं सार्वजनिक क्षेत्रों के सुधार, ट्रेड पॉलिसी एवं निवेश सम्बन्धी सुधारों को सम्मिलित किया गया है। इन सुधारों का असर वैश्वीकरण पर पड़ा है। विदेशी मुद्रा एवं निवेश, तकनीकी एवं व्यापार सलाह आदि के लिए भारत विदेशों पर निर्भर रहता है और यह प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है। इस प्रवृत्ति के बढ़ावे से हमारे देश की अस्मिता को खतरा पैदा हो सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि अपनी पूंजी, देश की स्वायत्तता एवं देशहित की रक्षा की जाये।

यह भी देखा जा रहा है कि भारत विदेशी निवेशकों को तीन प्रकार से आकर्षित कर रहा है। ये हैं – Foreign Direct Investment, Portfolio Investment एवं NRI Bonds यह बात ज्यादा महत्वपूर्ण है कि कोई भी बहुउद्देशीय

कम्पनी या अन्य निवेशक संस्थान शायद ही भारतीय नागरिकों के सुखद जीवन के लिए कोई निवेश कर रही हो; उनका उद्देश्य विशुद्ध लाभ कमाना है। बहुउद्देशीय कम्पनियां ऊर्जा के क्षेत्र में, संचार के क्षेत्र में निवेश कर रही हैं, जहां उन्हें ज्यादा आय होने की सम्भावना है। कोई भी विदेशी कम्पनी शिक्षा, स्वास्थ्य एवं आधारभूत ढांचों के प्रति अपना निवेश नहीं कर रही हैं, क्योंकि यहां निवेश में उनको फायदा नजर नहीं आता है।

यह भी बात ध्यान देने वाली है कि जो उन निवेशकों के साथ समझौते हो रहे हैं कि उनके आगमन से देश की गरीबी दूर होगी, राष्ट्रीय आय में बढ़ोत्तरी होगी, रोजगार के अवसर बढ़ेंगे आदि ..... जिससे हमारा आर्थिक एवं सामाजिक विकास होगा, यह एक कोरा भ्रम है। विदेशी निवेशकों का ध्यान केवल इस तरफ है कि कैसे भारतीय अर्थ–व्यवस्था को अपने कब्जे में ले लिया जाये। भारतीय आर्थिक सुधार के लिए हमें अपनी शर्तों पर काम करना चाहिए जिससे हमारी राष्ट्रीय समस्याओं का निदान हो सके। यदि हम विकसित देशों की शर्तों पर काम करेंगे तो आने वाले समय में यह व्यवस्था हमें नेस्तनाबूद कर देगी।

सहायक आचार्य,
दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

वैश्वीकरण का नीतिशास्त्र

डॉ. सोहनपाल सिंह आर्य

"वैश्वीकरण" वर्तमान विश्व का प्रमुख नारा है। दुनिया के एकीकरण की घोषित नीति है और एक ऐसी तीव्र प्रभावकारी तथा बहुआयामी प्रक्रिया है– जो विभिन्न देशों की अर्थ–व्यवस्था, राजनीति, तकनीकी विकास तथा सांस्कृतिक गतिविधियों पर आमूल परिवर्तनकारी प्रभाव डाल रही है, जिससे आज विश्व का कोई भी राष्ट्र तथा जन–समुदाय अछूता नहीं रह गया है। वैश्वीकरण के फलस्वरूप वर्तमान व्यक्ति की सोच, जीवनशैली तथा नैतिक मूल्यों में एकाएक उल्लेखनीय परिवर्तन आ चुका है और उस परिवर्तन से परिवार, सामाजिक सम्बन्ध तथा राष्ट्रीय कार्य–कलाप मूल रूप से प्रभावित हो रहे हैं। प्रस्तुत शोध निबन्ध में वैश्वीकरण के नीतिशास्त्रीय पहलू पर विशेष रूप से विचार किया जा रहा है। इसके लिये यहां निम्न तीन बिन्दु विचारणीय हो सकते हैं।

1. वैश्वीकरण की अग्रगामी शक्ति और उसका दार्शनिक तथा नैतिक दृष्टिकोण :– प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रथम विचारणीय प्रश्न यह है कि "वैश्वीकरण की अग्रगामी वाहक शक्ति कौन सी है– जिसने शीतयुद्धोत्तर काल में वैश्विक संरचना को पूर्णतः बदल डाला है, तो इसका दो टूक शब्दों में उत्तर होगा– "पूंजीवाद"। पूंजीवाद और साम्यवाद के मध्य वैश्विक संघर्ष में पूंजीवाद की विजय ने पूरी दुनिया में पूंजी के वर्चस्व का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसलिये आज हर ओर पूंजी का प्रभुत्व एवं बोलबाला हो चुका है। इसीलिये वैश्वीकरण का वास्तविक अभिप्राय है– "सम्पूर्ण विश्व का पूंजीवादीकरण"।

वैश्वीकरण के लिये कुछ अन्य शब्द भी प्रयोग में आ रहे हैं यथा–निजीकरण, उदारीकरण तथा बाजारीकरण। निजीकरण का अर्थ है– "उत्पादन के साधन एवं वितरण–व्यवस्था को राज्य की अपेक्षा व्यक्तिगत हाथों में सौंपना किन्तु वर्तमान सन्दर्भ में निजीकरण तब अधिक अर्थवान स्वरूप में सामने आया, जब शीतयुद्ध कालीन देशों की समाजवादी या मिश्रित अर्थ व्यवस्थाओं को व्यापारिक शक्तियों/बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हित में बदलना था। तदनुसार उन्हें ढालना एवं पुनर्व्यवस्थित करना था। इसके लिये उदारीकरण की नीति विश्व–बैंक, मुद्रा–कोष

आदि वित्तीय संस्थाओं ने प्रस्तुत की; जिनके ऊपर अमेरिका सहित विकसित पूंजीवादी देशों का नियन्त्रण स्थापित है।

''उदारीकरण'' का अर्थ है– ''व्यापार हेतु कानूनी प्रतिबन्धों में इस तरह ढील दी जाये ताकि बाजारी शक्तियों का अर्थव्यवस्था में प्रवेश तथा विकास सुनिश्चित हो सके। एक देश से दूसरे देश में आयात–निर्यात सुगम बनाया जा सके।'' इसीलिये उदारीकरण की नीति के अन्तर्गत देश के शासनतन्त्र द्वारा लाइसेन्स–प्रणाली, कोटा–परमिट व्यवस्था का सरलीकरण करना होता है। अनेक प्रकार के टैक्स तथा चुंगी आदि की व्यवस्था को शिथिल करना होता है। नौकरशाही का नियन्त्रण और सब्सिडी घटना भी उदारीकरण के प्रमुख अंग है।

''बाजारीकरण'' की नीति के रूप में वैश्वीकरण अपनी पूर्णता की प्राप्ति की दिशा में तेजी से अग्रसर होता है। इस नीति का प्रारम्भिक लक्ष्य है– ''आर्थिक विकास को बाजारी शक्तियों के ऊपर छोड़ दिया जाये।'' जी. ब्राउन और सरकोजी के शब्दों में ''आर्थिक विकास और मुक्त बाजार दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, एक के बिना दूसरे का कोई मतलब नहीं है।'' एक बार बाजार को विकास का ईंजन स्वीकार कर लेने के पश्चात् वैश्विक बाजार की आवश्यकता सामने आ जाती है। बाजारीकरण का अन्तिम लक्ष्य है– ''सम्पूर्ण विश्व को एक बाजार में बदल देना।'' इसलिये वैश्वीकरण की नीति विश्व–बाजारवाद की वर्तमान वस्तु स्थिति के रूप में हमारे सामने विद्यमान हो चुकी है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियां आज की बाजारी शक्तियां हैं और विश्व व्यापार संगठन (WTO) विश्व–व्यापार का नियामक मंच है।

अतएव वैश्वीकरण का वर्तमान दौर पूंजी–प्रभुत्व एवं एकाधिकार का दौर है। बिल क्लिंटन के शब्दों में ''यह युग उन लोगों को पुरस्कृत नहीं करता जो खून से सरहदों की लकीर दुबारा खीचने का फिजूल प्रयास करते हैं। यह युग उनका है जो सरहदों से आगे देखकर वाणिज्य और व्यापार में साझीदार बनना चाहते हैं।'' किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में सैन्य–शक्ति की निर्णायक भूमिका समाप्त हो गयी हो। कुवैत–मुक्ति, इराक में सत्ता–परिवर्तन और अफगानिस्तान में वर्तमान नॅाटो सैन्य संगठन द्वारा संचालित युद्ध किस वास्तविकता की ओर संकेत कर रहे हैं? अमेरिका वर्तमान विश्व की सुपर पावर है। उसकी हां या ना पर शान्ति और युद्ध सम्बन्धी मुद्दे निर्धारित होते हैं। इसलिये आर्थिक और राजनैतिक दोनों ही स्तरों पर अमेरिकन पूंजीवादी मॉडल पूरी दुनिया के लिये आकर्षण का आदर्श केन्द्र बन चुका है। उसकी सांस्कृतिक गतिविधियां, भाषायी अभिव्यक्ति तथा जीवन–मूल्य वैश्विक प्रेरणा के प्रमुख प्रेरक आधार बन चुके हैं।

चाहे हम ''यथा राजा तथा प्रजा'' की प्राचीन लोकोक्ति का सन्दर्भ ग्रहण करें अथवा कार्ल मार्क्स की ''मूल संरचना और ऊपरी संरचना के अन्तः सम्बन्ध के सिद्धान्त'' के आधार पर वर्तमान वैश्विक संस्कृति के स्वरूप की व्याख्या करें।

दोनों ही स्थितियों में यह स्वीकार करना आवश्यक हो गया है कि आज अमेरिकन नेतृत्व में वैश्विक पूंजीवाद सम्पूर्ण विश्व की नीति–नीति, जीवन–दृष्टि एवं चिन्तन सम्बन्धी प्राथमिकताओं का 'निर्धारक–कारक' बन चुका है। आज दुनियां में आर्थिक विकास के लिये जो उन्मुक्त भाग–दौड़ तथा मारा–मारी मची हुई है और जिसके आधार पर परिवार, समाज और राष्ट्रों के पुराने संघटक आधार अर्थहीन होते जा रहे हैं और केवल ''आर्थिक–आधार'' निर्णायक बनते जा रहे हैं– अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी यूरोपीयन संघ, आसियान ओपेक तथा दक्षेश जैसे क्षेत्रीय राष्ट्रीय–गठबंधन नये सिरे से उभर रहे हैं और उनमें शीतयुद्ध कालीन गठबन्धनों जैसी सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता सिरे से गायब है। केवल व्यापारिक हितों और आर्थिक लाभों के लिये क्षेत्रीय स्तर पर पुनर्गठित हो रहे हैं। तो इसके मूल में पूंजीवादी लक्ष्य ही सक्रिय है।

''पूंजीवाद'' के मूल में लोभ का मनोविज्ञान प्रेरक रूप में विद्यमान है। वैश्विक–पूंजीवाद के रूप में इसके भीमकाय आत्मविस्तार का वास्तविक रहस्य क्या है?– केवल और केवल लाभ–प्राप्ति की अदम्य लालसा! श्रमशक्ति को अन्तिम बूंद तक निचोड़ डालने की मानसिकता! और प्राकृतिक संसाधनों के ऊपर एकाधिकार की मूल प्रवृत्ति तथा उसके निर्मम दोहन के लिये भूगर्भ में, सुदूर अन्तरिक्ष में तथा समुद्र के अन्तिम छोर तक पहुंच जाने की अदम्य इच्छा–शक्ति इसमें निहित है।''

अतएव यदि नीतिशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाये तो यह वैश्वीकरण पूंजीवादी जीवन–दृष्टि एवं शैली सभी वैश्वीकरण है, जिसे प्रायः पाश्चात्य जीवन–शैली, भोगवादी संस्कृति तथा अपसंस्कृति जैसे अनेक नामों से दार्शनिक क्षेत्रों में सम्बोधित किया जा रहा है। इस पाश्चात्य जीवन शैली के मूल में विगत तीन शताब्दियों के दार्शनिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक चिन्तन का प्रभाव उल्लेखनीय रहा है। इसे जहां एक ओर एडम स्मिथ के आर्थिक दर्शन ने प्रभावित किया, वहीं इसके ऊपर हाब्स, लॉक, मिल जैसे दार्शनिकों के चिन्तन का प्रभाव भी उल्लेखनीय रहा। व्यक्तिवाद, समझौतावाद और उपयोगितावाद की जड़ें आधुनिक यूरोपीयन चिन्तन में निहित हैं। वैज्ञानिक अनीश्वरवाद तथा डार्विनवाद के अतिरिक्त डेविड ह्यूम का ''वासना की प्रधानता का सिद्धान्त'' भी इस पाश्चात्य जीवन–शैली के मूल में दृष्टिगोचर होता है।

अमेरिकन प्रयोजनवाद और फ्रायड का काम–मनोविज्ञान– ये सब तत्व एक ऐसी मनः सामाजिक स्थिति का विनिर्माण करने में समर्थ हो गये– जो आज वैश्विक नीतिशास्त्र के रूप में हम सबके सन्मुख अधिक गम्भीरता तथा व्यापकता के साथ विचारणीय हो गया है। इस नीतिशास्त्र का मूलाधार लौकिक प्रयोजनों की संसिद्धि है। कामेष्णा की सन्तुष्टि और अधिकाधिक जीविकोपार्जन का लक्ष्य– ये इसके दो प्रेरक तत्व हैं। मेरी दृष्टि में भी 'काम मूल है। इसे पाश्चात्य जीवन–शैली का केन्द्र कहा जाता है। और अर्थोपार्जन व्यक्ति की कामेच्छा की

पूर्ति / तृप्ति का महत्व पूर्ण साधन है। अर्थ को पाश्चात्य जीवन शैली की परिधि की संज्ञा दी जा सकती है। इसलिये अर्थ–व्यवस्था के भीतर ही वर्तमान पाश्चात्य जीवनशैली की समस्त गतिविधियां संचालित हो रही हैं, जिसके हम सब चाहे, अनचाहे वाहक बन चुके हैं।

यदि तनिक ध्यान से देखा जाये तो हम सहजतः इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अर्थ और काम ये प्रेरक तत्व ही आज मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की धुरी बन गये हैं। जिन–जिन देशों और समाजों का वैश्वीकरण बड़ी तेजी से हुआ है, वहां के लोगों की सोच, शिक्षा, रोजगार, विवाह, क्रीड़ा, मनोरंजन, राजनीतिक और सांस्कृतिक गतिविधियां अर्थ एवं काम द्वारा ही निर्देशित तथा निर्धारित होती जा रही हैं और मानों हम सब अर्थ तथा काम के हिडोले पर झूल रहे हैं। जिधर भी देखें इन दोनों की ही चर्चा तथा बोलबाला हो रहा है।

अभी तक जिन्हें हम धार्मिक तथा पारलौकिक महत्व के विषय समझते आये हैं, उदाहरणतः योग–विद्या, आध्यात्मिक–प्रवचन, वेद–कथा, गीतोपदेश, रामकथा और भगवद्कथा, जागरण आदि– इन सबके ऊपर भी अर्थ और काम की इतनी गहरी छाया पड़ चुकी है कि ये सब अपना वास्तविक स्वरूप तथा प्रयोजन खोते हुए दिखलाई पड़ते हैं। ये भी अर्थ और काम की सिद्धि के घोषित साधन बन चुके हैं। इसलिये आज योग– योग न रहकर "योगा–मार्केट" बन चुका है जो चित्तवृत्ति का विज्ञान न रहकर अर्थोपार्जन एवं कामोपभोग का आकर्षक, प्रभावोत्पादक साधन बन चुका है। यही वस्तु–स्थिति अन्य धार्मिक तथा आध्यात्मिक आयोजनों पर भी लागू होती है।

इसलिये वर्तमान सन्दर्भ में विभिन्न आध्यात्मिक एवं धार्मिक अवधारणा और सिद्धान्त भी अर्थ और काम के प्रयोजन की सिद्धि के परिप्रेक्ष्य में ही पुनर्परिभाषित एवं व्याख्यायित किये जा रहे हैं। इनके लौकिकता–मूलक आधारों को प्राचीन स्रोतों से खोज–खोज कर सामने लाया जा रहा है।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो सनातन वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत भी "अर्थ एवं काम" तो स्वीकार्य पुरुषार्थ रहे हैं, जिन्हें लौकिक–प्रयोजन मूलक पुरुषार्थ के रूप में भी जाना जाता है। परन्तु इनके अतिरिक्त वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत धर्म एवं मोक्ष को भी पुरुषार्थ–चुतष्ट्य की अवधारणा के अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इन चारों पुरुषार्थों में अर्थ और काम का सीधा सम्बन्ध मनुष्य की लौकिक उन्नति से है, जबकि मोक्ष का सम्बन्ध पारलौकिक मुक्ति से है। यह मनुष्य की चिर परम आकांक्षा रही है जिसे पाकर अन्य कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता। इसलिये मुक्ति को निःश्रेयस् के रूप में भी जाना जाता है। धर्म की उपयोगिता अर्थ की शुचिता से भी जुड़ी है। इसके साथ–साथ की प्रामाणिकता और मर्यादा धर्म के बिना सम्भव नहीं है। इसी तरह धर्म का मोक्ष के साथ भी अभिन्न सम्बन्ध है, वह

धर्म–परायण व्यक्ति का अन्तिम प्राप्तव्य लक्ष्य माना जाता है– अधार्मिक व्यक्ति के लिये मोक्ष का मार्ग बन्द ही समझिये, क्योंकि उसके लिये सर्वप्रथम धर्मनिष्ठ, सदाचार का पालन करना आवश्यक है।

जिन धार्मिक / नैतिक जीवन मूल्यों का उल्लेख प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में हुआ है यथा– धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, सन्तोष, इन्द्रिय–निग्रह, धी, बुद्धि, विद्या, अक्रोध और अहिंसा आदि। यदि इनके आलोक में वर्तमान भोग–मूलक वर्तमान वैश्वीकरण का अवलोकन करें तो हम बड़ी तेजी से किधर भागे जा रहे हैं– इसकी सुस्पष्ट दृष्टि, समझ और तस्वीर हमारे सम्मुख प्रस्तुत हो जायेगी। यही कारण है कि जहां वैदिक जीवन–दृष्टि के अन्तर्गत धर्म–अनुमोदित ही सच्चे अर्थों में धर्म है अन्यथा धर्म–विरुद्ध अर्थोपार्जन निषिद्ध, हेय तथा त्याज्य है। इसी तरह धर्मानुकूल काम ही वैदिक दृष्टि से स्वीकार्य है। धर्म–विरुद्ध काम भी पाप एवं पतन का सूचक माना जाता है। इस हेतु वह भी निषिद्ध समझा जाता है।

किन्तु वर्तमान पाश्चात्य जीवन–शैली में धर्म–नैतिकता का उपर्युक्त मानदण्ड ही सिरे से नदारद है। क्योंकि कहां तक व्यक्ति को अपनी लौकिक कामनाओं की पूर्ति करनी है? और कहां पर अनुलंघनीय लक्ष्मण रेखा के सामने आ जाने पर उसे तत्काल रुक जाना है? यह मूल चिंतन, समझ तथा संस्कार ही भोगपरक जीवन शैली से अनुपस्थित है। इसी कारण– भारत जैसे तीव्र आर्थिक विकास की दिशा में उन्मुख देश में भ्रष्टाचार भी तीव्र गति से बढ़ रहा है। तब यहां यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि क्या वर्तमान पाश्चात्य संस्कृति के नैतिक पतनकारी रुख के लिये इसका अनीश्वरवादी– भौतिकवादी दर्शन तो सीधे–सीधे उत्तरदायी नहीं है? जो मनुष्य एवं समाज को भोगवाद की ओर पग–पग पर प्रेरित कर रहा है। क्योंकि 'त्याग पूर्वक भोग' की बात एक ईश्वरवादी मस्तिष्क तो सोच सकता है किन्तु भौतिकवादी के लिये भोगवाद तो सीधा, सपाट राजमार्ग है। फिर वह कब तक? और क्यों?– स्वयं को भोग मार्ग पर जाने से रोक सकता है?

जैसा कि हम सब जानते हैं– "वर्तमान पूंजीवादी भोगवादी चकाचौंध / आकर्षण के मूल में भौतिकवादी तत्वदृष्टि निहित है।" जिसके अनुसार– "यह सम्पूर्ण जीवन जगत् प्राकृतिक या भौतिक अणु–परमाणुओं की क्रीड़ा मात्र है, जो प्राकृतिक यान्त्रिक नियमों के अन्तर्गत नियन्त्रित एवं संचालित है। उस के क्रमिक विकास का परिणाम यह विशाल सृष्टि हमारे सामने है। इस जगत् का न कोई नियन्ता न कोई सृष्टा है और यह जगत् परम चेतन सत्ता ईश्वर के सार्वभौमिक नैतिक विधान– "ऋत व्यवस्था" द्वारा संचालित हो रहा है। जिस तरह अणु–परमाणुओं की भौतिक और यान्त्रिक व्यवस्था है, उसी तरह– जैविक जगत् के भी व्यवस्थापक नियम है। उनके आधार पर सम्पूर्ण जैविक संसार संचालित हो रहा है– उनसे बाहर निकलने की न तो कहीं कोई सम्भावना है और न ऐसी कोई आवश्यकता

है। मनुष्य अपनी सम्पूर्ण जैविक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक और आर्थिक तथा राजनैतिक आदि सभी गतिविधियों को उन्हीं मूलभूत नियमों एवं प्रेरकों के आधार पर संचालित कर रहा है। इसी कारण सभी सांसारिक आकर्षण मनुष्य की गतिविधियों के निर्धारक बने हुए हैं।"

2. वैश्वीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित आधुनिक विश्व का नैतिक परिदृश्य :– इस बिन्दु पर विचार करते समय यह तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है कि आर्थिक वैश्वीकरण की स्वाभाविक परिणति भोगमूलक नीतिशास्त्र में होती है। इसके अतिरिक्त बाजारी शक्तियां स्वार्थवश भी भोगवादी जीवन–दर्शन की ओर जनसमाज को समय–समय पर आकर्षित भी करती रहती हैं ताकि कृत्रिम आवश्यकताओं को सृजित करके अपने उत्पादों/सेवाओं को अधिक मात्रा में बेचा जा सके। इसके साथ–साथ वैश्विक पूंजीवाद के वर्तमान दौर में जहां सब कुछ क्रय–विक्रय द्वारा पाना सम्भव हो गया है और शिक्षा, रोजगार, न्याय और सुरक्षा जैसी मूलभूत आवश्यकतायें भी अर्थ–साध्य हो चुकी हैं, तथा नाना सुख–सुविधा तथा भोगविलासी जीवन सामाजिक स्तर का निर्धारक आधार बन चुका है, वहां धन के पीछे अन्धी दौड़ स्वाभाविक हो जाती है। इसलिये आर्थिक विकास का पूंजीवाद माडल जिन भौतिक देशों में तेजी से विकसित हो गया है, वहां उसका नीतिशास्त्रीय पक्ष– "ऐन्द्रिक भोगवादी दर्शन" अधिक प्रखरता के साथ उन देशों तथा परम्परागत समाजों को अपनी चपेट में लेता जा रहा है। इसलिये विगत वर्षों में जो चिंतक, राजनेता, आर्थिक एवं तकनीकी विकास के लिये तो पूंजीवाद का समर्थन कर रहे थे, किन्तु पाश्चात्य–भोगवाद का विरोध कर रहे थे, उन्हें अपनी विसंगत धारणा स्पष्ट हो चुकी होगी।

प्राचीन युग में, एरिस्टिपस नामक यूनानी दार्शनिक ने भी ऐन्द्रिक भोगवादी नीतिशास्त्र का प्रतिपादन किया था। इसी तरह भारतीय भौतिकवादी चार्वाक दर्शन के अन्तर्गत भी सुखवाद का प्रतिपादन मिलता है। परन्तु यूनानी और भारतीय– दोनों ही भौतिकवादी दर्शन से आधुनिक भौतिकवाद इस कारण गम्भीर तथा व्यापक है क्योंकि एक तो यह वैश्विक, आर्थिक तथा तकनीकी विकास के साथ जुड़ा हुआ है, दूसरे– वैश्वीकरण के राजनीतिक दर्शन तथा व्यवस्था के साथ भी इसका संगतिकरण हो चुका है। इसी कारण इसकी मारक–क्षमता सर्वव्यापी तथा चिन्ताजनक स्तर तक जा पहुंची है। प्राकृतिक संसाधनों का निर्ममता पूर्वक दोहन किस भावी आसन्न संकट की ओर संकेत कर रहा है?– प्राकृतिक साधन विहीनता की ओर– भावी कंगाली की ओर। अपने भोग मूलक जीवन स्तर को बनाये रखने के लिये, प्रति व्यक्ति जितनी ऊर्जा का व्यय आज मनुष्य कर रहा है, विशेषकर विकसित देशों में, क्या तब आगामी पीढ़ियों के लिये भी जीवन–यापन करने के लिये इस धरा–धाम पर कुछ शेष रह जायेगा?– इस प्रश्न पर ठीक से ध्यान देने का

समय क्या आधुनिक मानव के पास है? उस पर सुव्यवस्थित चिंतन एवं आचरण तो बहुत आगे की बात है। इसी के साथ–साथ पर्यावरण–प्रदूषण एवं असंतुलन के मूल में किस मानसिकता के दर्शन होते हैं? फटाफट विकास और त्वरित भोग में ऐसा आन्तरिक सम्बन्ध है कि एक के साथ जुड़कर मनुष्य दूसरे का हुए बिना नहीं रह सकता।

मानव–जाति के अस्तित्व पर एक बड़ा प्रश्न–चिन्ह एड्स ने लगाया है जो एक महामारी के रूप में पूरे विश्व में तेजी से पैर पसार रही है। यह एक ऐसा सर्वनाशक खतरा पहली बार मानव–जाति के सम्मुख प्रस्तुत हुआ है, जो उसकी अदम्य भोग–लिप्सा और यौन–स्वच्छंदता का परिणाम है। एड्स के विस्तार को रोकने के लिये सेक्स–एजुकेशन की चर्चा सर्वाधिक क्षेत्र में एवं एक अभियान के रूप में सामने आ रही है। किन्तु किशोरों के हाथों में कंडोम थमा देने से क्या एड्स का प्रसार रुक जायेगा? फिर इसके फलस्वरूप किशोर तथा युवावर्ग अल्पायु में जिस तेजी से वयस्क मानसिकता को प्राप्त होंगे क्या उतनी ही तेजी से वे बुजुर्गियत की ओर अग्रसर नहीं होंगे? परन्तु पूंजी–संग्रह की इस वर्तमान आपाधापी में कौन किसके लिये ठहर कर सोचने के लिये तैयार है? एड्स मार्केट का फंडा राष्ट्रीय संस्कृति तथा लोकाचार पर भारी पड़ रहा है।

इसके अतिरिक्त अनेक कामोत्तेजक प्रवृत्तियां एवं गतिविधियां भी वर्तमान दौर में वैश्विक हो चुकी हैं और सम्मान, कैरियर तथा धनार्जन का आकर्षक साधन बन चुका है। उदाहरणतः सौन्दर्य–प्रतियोगिता, ऐडल्ट–सिनेमा, फार्मूला–फिल्में और सैकड़ों टी.वी. चैनलों के माध्यमों से नित प्रति परोसी जाने वाली नग्नता, हिंसा, मारधाड़ आदि जो छिटपुट अश्लीलता, फुटपाथीय साहित्य के माध्यम से प्रचलन में थी, वह आज ब्लू फिल्मों, नैट चैटिंग, एस.एम.एस., एम.एम.एस. तथा फोन कॉल के जरिये रातो--रात वैश्विक हो रही है। इसके मूल में कौन सी प्रेरक मानसिकता क्रियाशील है?– यह जानने के लिये किसी गम्भीर विमर्श की आवश्यकता है क्या?

वस्तुत सूचना–प्रौद्योगिकी– जिसने 'विश्वग्राम' की अवधारणा को सार्थकता प्रदान करने में युगान्तरकारी भूमिका अदा की है वह दुधारी तलवार के रूप में प्रयुक्त हो रही है। वैश्विक सूचनाओं के आदान–प्रदान के लिये ई–लर्निंग, ई–मार्केट के वैश्विक प्रसार–विस्तार के लिये! सांस्कृतिक और सामाजिक संवेदनाओं, अनुभूतियों और उपलब्धियों को साझा करने के लिये। वहीं इसके बढ़ते दुरुपयोग ने उन्मुक्त यौनाचार, हिंसा और आतंक की विश्वव्यापी चुनौती भी हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर दी है। क्या इस वैश्विक चुनौती का सामना वर्तमान भोगवादी अपसंस्कृति के आधार पर किया जा सकता है? नहीं, कदापि नहीं। यह तो ऐसा "सांस्कृतिक बम" है; जो जहां भी गिराया जाता है, वहां वे सभ्याचार, शिक्षा, संस्कार, स्वअस्तित्व एवं अस्मिता को ही नष्ट–भ्रष्ट कर देता है।

"नैतिक–कर्तव्य की दृष्टि" से वैश्वीकरण का नीतिशास्त्र व्यक्ति को कहां खड़ा कर देता है? इसे जानने के लिये उस पेशेवर युवा वर्ग की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है, जिसके लिये शिक्षा पाने का एक मात्र उद्देय है कैरियर सुविधा के साधनों का अम्बार लगाने की अभिलिप्सा"। इस वर्ग के लिये न तो देश–प्रेम, सेवा और त्याग का कोई अर्थ है और न अपनी संस्कृति और लोकाचार के प्रति सम्मान का कोई भाव है। पूर्ण आधुनिक– पूर्ण यूरोपीय, पूर्ण अमेरिकन सिटिजन दिखने और बनने की चाह ही इस वर्ग का एक सपना है। यही कारण है कि आज हमारी सुरक्षा सेनाओं में हजारों पद प्रतिभा–रिक्त रह जाते हैं। देश की प्रतिभाओं की दिशा तो दूसरी ही है।

अपने परिवार–जनों माता–पिता, दादा–दादी आदि के प्रति सेवा–भावना, उनकी सुरक्षा और स्वास्थ्य–सम्बन्धी चिंताएं भी इस वर्ग के लिये अर्थहीन हो चुकी हैं। इसके परिणाम स्वरूप बुजुर्गों में नैराश्य, विषाद तथा असुरक्षा जैसी मानसिक बीमारियां घर करती रही हैं। "अतिथि देवो भव" की परम्परा वाले देश में अपने भी पराये हो जाते हैं। इसलिये वृद्धाश्रमों की तेजी से स्थापना की आवश्यकता गहराई से अनुभव की जाने लगी है। किन्तु मूल प्रश्न यह है कि पितृऋण की वैदिक अवधारणा का वर्तमान दौर में क्या कोई अर्थ एवं औचित्य शेष रह गया है?

आज यही वर्ग मैरिज मार्केट में अपनी ऊंची से ऊंची बोली लगाने के लिये बड़ी तेजी से प्रवेश कर रहा है। क्या वर्तमान विवाह–कार्यक्रम आज दो आत्माओं का मिलन मात्र समझा जा रहा है, अथवा इसके अतिरिक्त वह विशुद्ध आर्थिक कमाई और सामाजिक प्रतिष्ठा के अर्जन का सशक्त माध्यम बन चुका है और दहेज के रूप में पूंजी निवेश उसका निर्णायक कारण बन चुका है। इसी का दुष्परिणाम आज नारी–भ्रूण हत्या के भयावह रूप में सामने आ चुका है, जिसने स्त्री–पुरुष समानुपात का प्राकृतिक सन्तुलन ध्वस्त कर दिया है और जो आने वाले दौर की सबसे प्रमुख चुनौतियों में से एक चुनौती के रूप में हम सबके सम्मुख चिन्तनीय है।

इनके अतिरिक्त मानसिक गुलामी का खतरा भी वैश्विक नीतिशास्त्र का एक बड़ा प्रतिफलन बनने जा रहा है जिसकी ओर ऐसी गम्भीर दार्शनिक संगोष्ठी के माध्यम से विचार किये जाने की आवश्यकता है। एक ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारतीय पराधीनता की जो नींव बाजार की खोज के माध्यम से रखी थी और जिसे लार्ड मैकाले ने अपनी शिक्षा–नीति के माध्यम से सशक्त किया था, जिसके फलस्वरूप अंग्रेजी–दा शिक्षितों का एक ऐसा बड़ा वर्ग देश में तैयार हो गया था जो भाषा, चिन्तन, आचार–व्यवहार की दृष्टि से स्वयं को विदेशी शासकों के निकट अनुभव करने लगा था और जब–तब अंग्रेजों द्वारा पुरस्कृत होने में आत्मगर्व का अनुभव करने लगा था। उसका राष्ट्रीय स्वाभिमान, अस्मिता और सांस्कृतिक जुड़ाव नष्टप्राय हो चुका था। किन्तु स्वाधीनता–आन्दोलन के मुखर हो जाने के कारण वह अपना निर्णायक प्रभाव नहीं छोड़ पाया था।

परन्तु वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में जहां सैंकड़ों नहीं, हजारों बहुराष्ट्रीय कम्पनियां भारतीय बाजार का अंग बन चुकी हैं और टी.वी. विज्ञापनों, बड़े होर्डिंगों के जरिये भारतीय जनमानस तक अपनी पहुंच बना चुकी हैं तथा भोगवादी जीवन शैली के प्रचार–प्रसार द्वारा राष्ट्रीय जन–मानस को अंग्रेजी भाषा, अंग्रजी खेल–क्रिकेट, हॉलीवुड फिल्मी पैटर्न तथा फैशन के जरिये भारत, भारतीयता के मूलाधार को छिन्न–भिन्न करने में तेजी से सफलता की ओर बढ़ रहा है। इससे सांस्कृतिक गुलामी का एक नया दौर शुरू होने जा रहा है। वेश–भूषा, खान–पान, मनोरंजन के साधन ही यदि विदेशियत के रंग में पूरी तहर रंग जायें तो स्व–संस्कृति के अनुसरण एवं संवर्धन के लिये संभावना कहां रह जायेगी?

संक्षेप में, वैश्वीकरण के नीतिशास्त्र की अनेक चुनौतियां भारत सहित उन सभी देशों के सामने विचारणीय हैं जिनका अपना सुसमृद्ध इतिहास है, महान् सांस्कृतिक परम्परा है और व्यक्ति तथा समाज को प्रगति की ओर निरन्तर अग्रसर करने वाली जीवन मूल्यों की महान् विरासत जिनको प्राप्त है आगे बढ़कर उन्हें ही भोगवाद के अप–संस्कृतिकरण को रोकना होगा।

3. वैश्वीकरण के नीतिशास्त्र का मूल्यांकन :– किन्तु जहां तक नीतिशास्त्र के वर्तमान वैश्विक भोगवाद के मूल्यांकन का प्रश्न है इस सन्दर्भ में यह कहना सर्वथा उचित है कि एक शोधपत्र के अन्तर्गत इस विषय पर समुचित विचार नहीं किया जा सकता। इसके लिये अगल से स्वतन्त्र अध्ययन–मनन एवं अनुसन्धान किये जाने की आवश्यकता है। तब भी प्रस्तुत आलेख में उन मूलभूत कसौटियों का उल्लेख तो अवश्य ही किया जा सकता है, जिनके आधार पर इस नीतिशास्त्र का समग्र निष्पक्ष मूल्यांकन किया जा सके। मेरी दृष्टि में वे कसौटियां निम्नलिखित हो सकती है–

(1) जीवन–अस्तित्व के संरक्षण तथा संवर्धन का साधन बने : इस कसौटी के अन्तर्गत जीवन–अस्तित्व के सम्मुख जिन कारणों और समस्याओं से खतरा उत्पन्न हो गया है उन्हें दूर करने वाला नीतिशास्त्र ही वैश्विक नीतिशास्त्र के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत पर्यावरण–संरक्षण एवं संतुलन में सहायक हो, विश्व शान्ति की स्थापना का स्थायी आधार बने तथा एड्स–मुक्ति जैसी वैश्विक समस्या को हल करने में जिसकी भूमिका मार्गदर्शन कारी हो वह मानव–जाति के मार्गदर्शन का भी प्रेरक नीतिशास्त्र बन सकता है।

(2) सर्वांग विकास का साधन हो : इस कसौटी के अनुसार मनुष्य को केवल भौतिक विकास की ही आवश्यकता नहीं है, किन्तु इसके साथ–साथ वह आध्यात्मिक, उच्च नैतिक जीवन के धरातल पर भी स्वयं को सुस्थापित एवं विकसित करना चाहता है। अतएव ऐसा नीतिशास्त्र ही मानव जाति का स्वीकृत मार्ग दर्शनकारी आधार बन सकता है जो सर्वांग विकास का साधन हो।

(3) सार्वजनिक विकास का आधार हो : इस कसौटी के अनुसार मनुष्य के विकास को नीतिशास्त्र प्रोत्साहित अवश्य करे किन्तु यह प्रोत्साहन आर्थिक विकास की अन्धी दौड़ में परिवर्तित न हो जाये। यह भी विशेष रूप से ध्यान में रखना आवश्यक है अन्यथा विकास के चन्द टापुओं के इर्द–गिर्द गरीबी का महासागर विस्तारित हो जायेगा जो उस समृद्धि को भी नष्ट–भ्रष्ट कर देगा। इसलिये नीतिशात्रीय प्रेरणा स्वयं की उन्नति के साथ–साथ सामाजिक उन्नति पर भी विशेष रूप से केन्द्रित होनी आवश्यक है।

(4) सर्वांगीण जीवन–दृष्टि पर आधारित हो : इसका अभिप्राय यह है कि मानव–समाज के समुचित मार्गदर्शन हेतु ऐसी जीवन–दृष्टि भी होनी आवश्यक है जो जड़–चेतन, शरीर–आत्मा, भोग–त्याग, प्रवृत्ति–निवृत्ति अभ्युदय और निश्रेयस् में समन्वय स्थापित कर सके। तभी मानव–समाज में तथ्य और मूल्य, यथार्थ और आदर्श, प्रोद्योगिकी और संस्कृति में समन्वय की महती प्रक्रिया आरम्भ हो सकेगी।

(5) देश एवं काल निरपेक्ष भी हो : ऐसा कोई भी नीतिशास्त्र और उसका सिद्धान्त वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में स्वीकार्य नहीं हो सकता जो किसी भी एक देश या देश–समूह में ही लागू हो सकने की योग्यता रखता हो। वह सभी देशों और कालों में समान रूप से अनुकरणीय हो तभी वैश्विक नीतिशास्त्र के रूप में उसे वृहत्तर जनसमुदाय द्वारा अंगीकार किया जा सकेगा।

इन कसौटियों के आधार पर वैश्वीकरण के वर्तमान नीतिशास्त्र का मूल्यांकन किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त भी प्रबुद्ध अध्येताओं द्वारा अन्य कसौटियां प्रस्तुत की जा सकती है। यह प्रयास तो इस दिशा में चिन्तन–मनन को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से एक भूमिका मात्र है। जो मनीषी अपनी संवेदनात्मक टिप्पणियों, प्रबोधनकारी आलोचनाओं से मेरा इस दिशा में मेरा मार्गदर्शन करेंगे, मैं उनका सादर आभारी रहूंगा।

रीडर, दर्शनशास्त्र विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सुखवादी नैतिकता के आवरण में भूमंडलीकरण : एक मूल्यांकन

डॉ. किस्मत कुमार सिंह

नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त : सुखवाद

मूल प्रस्थान : –

(1) इच्छा का प्रारंभिक एवं अंतिम लक्ष्य सुख; अन्य वस्तुओं की इच्छा सुख–साधन मात्र। सुख–इच्छा का स्वाभाविक विषय; सदैव सुखानुसंधान व दुःख–परित्यागः मनोवैज्ञानिक सुखवाद।

(2) इच्छा का उपयुक्त विषय सुख; सदैव सुखानुसंधान नहीं; अपितु ऐसा करना चाहिए : नैतिक सुखवाद।

(3) 'समष्टि का अधिकतम सुख' अंतिम नैतिक मानदण्ड : उपयोगितावाद (जेरेमिन बेंथम एवं जे.एस. मिल)।

(अ) बेंथम : सुखों में परिमाणात्मक भेद अर्थात् सुखों के मूल्यांकन का मानदण्ड परिमाण; परिमाण के रूप हैं– तीव्रता (Intensity), स्थिति काल (Duration), निकटता (proximity), निश्चय (Certainty), शुद्धता (Purity), उत्पादकता (Productivity), एवं व्यापकता (Extent) अर्थात् सुख से प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संख्या। मनुष्य में स्वाभाविक वृत्ति स्वार्थपरता की, लेकिन परार्थ (अर्थात् परोपकार) की ओर भी गति; कारण : चार बाह्य नैतिक आदेश–प्राकृतिक, राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक।

(ब) मिल : सुखों में परिमाणात्मक भेद के साथ–साथ गुणात्मक भेद भी। बेंथम के चार बाह्य नैतिक आदेश के साथ–साथ पांचवां आन्तरिक आदेश भी, यह भावना 'कर्त्तव्य' के उल्लंघन से जनित दुःख की अनुभूति है'; यह भावना मनुष्य जाति के सुख की भावना है, मानव जाति की सामाजिक भावनाओं के प्रति सम्मान का भाव है।

भूमंडलीकरण की सैद्धान्तिक परिकल्पना :

वर्तमान विश्व में विभिन्न राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि मूल्यों की विरोधी स्थितियों के मध्य विश्व को आपसी जुड़ाव, लगाव, समन्वय, निजी स्वतंत्रता, मुक्त व्यापार, सुगम आवागमन आदि अवधारणाओं से युक्त एक छोटी–सी

बस्ती, मानव द्वारा रेखांकित भौगोलिक सीमा से मुक्त (वास्तविक स्थिति : सीमा की कट्टरता; विश्व के विभिन्न देशों की विशाल सेनाएं व प्राणी–विनाशक युद्ध सामग्री प्रमाण हैं) एक गांव के रूप में, परिकल्पित करती भूमंडलीकरण की अवधारणा और इस अवधारणा के पीछे, इसके द्वारा मानव मात्र के कल्याणार्थ सुनहरे भविष्य का आश्वासन (वास्तव में भेड़ की खाल में छद्म भेष घेरे भेड़िये के मानिन्द कुटिल बाजार का स्वहित चाल रूप प्रलोभन) निहित है।

भूमंडलीकरण के मुख्य कारण एवं तत्त्व :

मुख्य कारण – बीसवीं सदी के दूसरे विश्वयुद्ध के बाद लगभग दो दशक से ज्यादा समय को पूंजीवादी औद्योगिक विकास का सुनहरा वक्त कहा जा सकता है। इसी काल में विश्वमंच पर समाजवादी देशों का समूह भी वैकल्पिक व्यवस्था के रूप में तेजी से आगे बढ़ रहा था। यह अवधि शीतयुद्ध की भी है। इस अवधि में औद्योगिकीकरण के अगली कतार वाले धनी और भूतपूर्व समाजवादी देशों में तेजी से आर्थिक बढ़त तथा समृद्धि लगभग पूर्ण रोजगार की स्थिति के साथ–साथ आयी। इसी दौरान नवोदित स्वतन्त्र देशों ने औद्योगिकीकरण और आर्थिक विकास के रास्ते पर तेजी से कुलाचें भरीं। विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (अमुको) तथा गैट के अन्तर्गत एक नयी स्थायित्व वाली विश्व आर्थिक–व्यवस्था के प्रबन्धन भी पुख्ता किये गये। पहले दो विश्वयुद्धों के समय की तीव्र गलाकाट अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रतिस्पर्धा के कारण विश्व–अर्थव्यवस्था में बहुत उथल–पुथल हुई थी। इस कटु अनुभव के आधार पर विश्व–आर्थिक–व्यवस्था को समुचित ढंग से चलाने के लिए इन तीनों संस्थाओं के तहत अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को स्थायित्वयुक्त विकास के रास्ते पर चलाने में, यह नयी विश्व आर्थिक व्यवस्था काफी अरसे तक अपने उद्देश्यों में सफल हुई। तीसरी दुनिया के देशों ने धनी देशों की तर्ज पर उनके समकक्ष आर्थिक और औद्यागिक विकास हासिल करने के मकसद से इन धनी देशों के साथ मिलकर, राज्य को बड़ी भूमिका देकर, तेजी से विकास करने के प्रयास काफी जोर–शोर से किये। उन्हें इन प्रयासों में अभूतपूर्व और उल्लेखनीय, परन्तु वास्तव में आंशिक सफलता मिली।

परन्तु सत्तर के दशक के पूर्वाद्ध में ही इस व्यवस्था के जारी रहने में बड़ी रुकावटें आने लगीं। संयुक्त राज्य अमेरिका दूसरे महायुद्ध के बाद दुनिया का सबसे बड़ी आर्थिक और सामरिक दृष्टि से शक्तिशाली ताकत बन चुका था। परन्तु, सत्तर के दशक के आते–आते उसकी उत्पादिता और आर्थिक शक्ति को विश्व बाजारों में नयी उभरती मजबूत प्रतियोगी शक्तियों, खासकर जापान, जर्मनी आदि कई अन्य देशों में कड़ी चुनौती मिलने लगी थी। दुनिया भर में अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए अमेरिका ने अपना आन्तरिक और बाहरी खर्च बढ़ा लिया था। परिणामतः उसका बजट तथा भुगतान सन्तुलन का घाटा बहुत बढ़ गया था। इस कारण डॉलर की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति डावांडोल होने लगी। इसी वक्त पेट्रोलियम पदार्थों के निर्यातक देशों के संगठन ओपेक ने तेल की कीमतों को संयुक्त रूप से बहुत ऊंचे स्तर तक बढ़ा दिया था।

पूर्ण रोजगार की स्थिति के कारण यूरोप में तथा उत्तरी अमेरिका के धनी देशों में वहां के श्रमिक संगठनों की ताकत भी बहुत बढ़ गयी थी। साथ ही धनी देशों के आन्तरिक बाजारों तथा उनके विदेशी निवेशों से प्राप्त होने वाली उनकी बड़ी कम्पनियों के लिए मुनाफे की दर को बनाये रखना मुश्किल होता जा रहा था। तेल–निर्यातक देशों की सफलता से उत्साहित होकर विदेशी कर्ज, पूंजी तथा तकनीक के आयात पर बाहरी–निर्भरता की बढ़ती लागत और दिक्कतों के कारण तीसरी दुनिया के देशों में आत्मनिर्भर विकास की भावना प्रबल होने लगी। इसके लिए उन्होंने नयी विश्व आर्थिक व्यवस्था की परिकल्पना को साकार करने के प्रयास संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अंकटाड आदि संस्थाओं के माध्यम से शुरू किये। पूर्ववर्ती उपनिवेशी शासकों तथा धनी देशों की नींद इन सब कारणों से उड़ी।

इसलिए अमेरिकन राष्ट्रपति रेगन तथा ब्रिटिश प्रधानमन्त्री थेचर ने इन नयी उभरती हुई प्रवृत्तियों को मटियामेट करने का बीड़ा उठाया। इस दौरान सारी दुनिया में राज्य की आर्थिक भूमिका बहुत बढ़ गयी थी। निजी बड़ी तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को बढ़ने के अवसर तो मिले, परन्तु उन्हें राजकीय योजनाओं और नियन्त्रणों के साये में बढ़ना पड़ता था। एक ओर संगठित श्रमिक वर्ग इन कम्पनियों को आन्तरिक चुनौती दे रहा था, तो दूसरी ओर तीसरी दुनिया, खासकर पूर्वी एशिया का तेजी से बढ़ता औद्योगिक विकास और उनकी निर्यात–क्षमता अमेरिका, ब्रिटेन आदि के विश्वव्यापी दबदबे की नींवें हिला रहे थे। धनी देशों में आपसी प्रतियोगिता बढ़ रही थी/बढ़ रही है। दुनिया संरक्षणवाद यानी अपने–अपने देशों के आन्तरिक बाजारों को बाहरी प्रतियोगिता से बचाने की कवायद के रूप में ऊंचे सीमा शुल्क तथा मात्रात्मक प्रतिबन्धों का गला–काट दौर शुरू हो रहा था। इन संकटों से निजात पाने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन में, वहां के अनुदारवादी दलों के शासक नवउदारवादी नीतियां शुरू करने लगे। राज्य की भूमिका कम की जाने लगी। बाजार की ताकतों को नियन्त्रण–मुक्त किया जाने लगा। प्रगतिशील कर–दरों के स्थान पर करों में कटौती की जाने लगी। मजदूरों के कल्याण और उनकी सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रमों और नीतियों में काफी कटौती की जाने लगी। अमेरिका ने डॉलर के बदले सोना देने की अपनी वचन–बद्धता या बाध्यता समाप्त कर दी। इस तरह उसने दुनिया भर में डॉलर के प्रसार के द्वारा अपना बड़ा विदेशी खाते का घाटा बनाये रखने की पुख्ता व्यवस्था कर ली। अमेरिका के आयात वहां होने वाले निर्यातों से लगातार काफी वक्त से ज्यादा रहे हैं। किन्तु, संसार के देशों के पास इस तरह जमा हो रहे डॉलर के बदले अब अमेरिका को अपना सोना नहीं देना पड़ रहा है। इसलिए बाकी दुनिया के पास अब यही विकल्प रह गया है कि वे इस डॉलर अधिशेष से अमेरिकी सरकार के बांड या सिक्यूरिटी खरीद लें। इन पर बमुश्किल कोई उचित प्रतिफल जमाकर्त्ता देशों को अमेरिका से प्राप्त होता है। परन्तु, इस व्यवस्था के कारण अमेरिका के उपभोक्ता और वहां की कम्पनियां दुनिया

भर का सामान और सेवाएं मनचाही मात्रा में आयातित कर सकते हैं। इसी व्यवस्था के तहत अमेरिकी सरकार अपनी राजस्व आय से बहुत ज्याद खर्च करके दुनिया भर में अपनी चौधराहट चला सकती है। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार संसार में चल रही मौद्रिक व्यवस्था में डॉलर के इस तरह बनाये गये एकपक्षीय दबदबे के कारण अमेरिका अपना व्यापार तथा बजट का घाटा दुनिया के बाकी देशों से मानो करों के रूप में उगाहने में सफल हो जाता है। अमेरिकी डॉलर की यह कृत्रिम ताकत अमेरिकी दबदबे वाले भूमण्डलीकरण में बेहद सहायक होती है। इसका आधार यह है कि विश्व मौद्रिक व्यवस्था द्वारा सम्भावित माना गया सब राष्ट्रों का कालान्तर में समकक्षी–करण (कनवरजेंस) तो हो नहीं पाया, अपितु उनकी दूरियां बढ़ गयीं। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि सभी देश ज्यादा सार्थक और त्वरित विकास में सहायक न्याय और समतापूर्ण वैकल्पिक विश्व–मुद्रा तथा भुगतान व्यवस्था पर सहमत नहीं हो पा रहे हैं।

प्रमुख तत्त्व एवं आधार – इस रूप में 1970 के दशक के मध्य से, दुनिया में एक नयी किस्म की, धनी देशों के वर्चस्व को बरकरार और मजबूत रखने वाली अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की शुरुआत हुई। इस नयी व्यवस्था के मुख्य बिन्दु थे मुक्त, नियन्त्रणहीन व्यापार, मुद्रा तथा पूंजी बाजारों पर से सब प्रकार के नियन्त्रणों की समाप्ति, करों में, खासकर प्रत्यक्ष करों में कटौती, राज्य के खर्च में कमी तथा राज्य द्वारा लागू किये गये आर्थिक नियन्त्रणों की समाप्ति, सार्वजनिक उद्योगों का निजीकरण, बहुउद्‌देशीय कम्पनियों तथा निजी उद्यमों की विश्व अर्थव्यवस्था के मंच पर राष्ट्रीय व राजकीय नियन्त्रणों से मुक्ति, इनके साथ ही अरसे से चले आ रहे श्रमिक वर्ग तथा मध्य वर्ग के कल्याण हेतु आंशिक समतामूलक रुझानों की समाप्ति। राष्ट्रीय सीमाओं को आर्थिक मामलों में खत्म करने का एक नया दौर शुरू हुआ। इस नयी व्यवस्था को भूमण्डलीकरण का नाम दिया गया। इसके मुख्य अंगों को विचारों के स्तर पर 'वाशिंगटन राय' का नाम दिया। तकनीकी स्तर पर कहा गया कि इन नीतिगत परिवर्तनों का मकसद है कि कीमतों का सही निर्धारण हो और बाजार की कीमतों में परिवर्तनों के आधार पर आर्थिक निर्णय हो ताकि वे अनुकूलतम और विवेक सम्मत रहें। इस प्रकार, भूमण्डलीकरण के मूल निहितार्थ एकाकी वर्चस्व की है।

विश्व–अर्थव्यवस्था के समन्वय के दावे का सच :

भूमण्डलीकरण के समर्थक यह दावा करते हैं कि भूमण्डलीकरण के कारण दुनिया के बाजार आपस में जुड़े रहे हैं, उनका पारस्परिक समन्वय हो रहा है। अगर यह दावा सही होता तो दुनिया भर की कीमतों में एक समान होने की प्रवृत्ति पाई जाती, खासकर इसलिए कि ये बाजार प्रतियोगिता पर आधारित भी बताये जा रहे हैं। परन्तु, जमीनी सच्चाई यह है कि विश्व के अलग–अलग देशों की कीमतें किसी भी किस्म की समानता की ओर नहीं बढ़ रही हैं। इस स्थिति

में कैसे स्वीकारा जा सकता है विश्वव्यापी आर्थिक समन्वय या विश्व अर्थव्यवस्था के एकीकृत समन्वय का दावा, जब विश्व जनसंख्या का लगभग 80% भाग इस यात्रा सर्जित उपभोग नेटवर्क में, बाजार प्रक्रिया में सक्रिय भाग तक नहीं ले पाता है? विश्वव्यापी बाजारीकरण इन बाजारों से बाहर रहे लोगों को तो और अधिक हाशिये पर ले जा रहा है। क्या विश्व की 20 प्रतिशत जनसंख्या की बढ़ती समरूपता, उनके आपसी गहन सम्बन्ध, पूरे विश्व और जमाने भर को भूमण्डलीकरण का तमगा दिलाने के लिए पर्याप्त है? क्या जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की सन्तुष्टि से महरूम अरबों–खरबों इन्सान नयी सूचना क्रान्ति, साइबर क्रान्ति तथा खरबों डॉलर के दैनिक वित्तीय लेन–देन में कोई भी सक्रिय सकारात्मक लाभप्रद भूमिका प्राप्त कर पाए हैं? यह कैसे सम्भव है जब संसार भर के 15 करोड़ टेलीफोनों में से सारे एशिया, कैरेबियन तथा प्रशान्त सागर के देशों के पास महज 2.4 करोड़ फोन हैं और वे भी उच्च आयवर्ग के हाथ में केन्द्रित हैं। अकेले उत्तरी अमेरिका में 8.7 करोड़ तथा यूरोप में 3.3. करोड़ फोन हैं (हालांकि अब यह आंकड़ा रोज बदल रहा है, के बावजूद बाजार में भागीदारी का अनुपात लगभग 20:80 का ही है)। यह सर्वविदित तथ्य है कि किस तरह दो–तीन शताब्दी के सीधे शासन और दोहन के बाद फिर भी राष्ट्रों के बीच एक तरफे आर्थिक, वित्तीय, तकनीकी सम्बन्ध जारी रखे गये हैं और किस तरह सैकड़ों देशों के जन–धन, संसाधनों, पारम्परिक ज्ञान को चन्द औद्योगिक तथा अनेक नवोदित राष्ट्रों के अभिजात्य वर्ग के साझे, एकल लाभ के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। यह आलमी निजाम पर्यावरणीय सन्तुलन को भंग कर रहा है और प्रदूषण बढ़ा रहा है। आने वाली पीढ़ियों का जीवन दांव पर लगा है। निरन्तर पूंजी संचयन तथा मुनाफा–प्रेरित तकनीकी नवाचार– मानव, प्रकृति, समाज, राज्य तथा संस्कृति के घनिष्ठ और परस्पर लाभप्रद सम्बन्धों को कुछ लोगों की अन्तहीन लोभी–लालची प्रवृत्ति की चेरी बना रहे हैं। तकनीकी प्रगति सामाजिक जरूरतों और सरोकारों से कट–छंट गयी है तथा बाजार की विरोधात्मक प्रवृत्तियों के बीच परराष्ट्रीय कम्पनियों की शक्ति, क्षमता और मुनाफा ही इसके मुख्य स्रोत हैं। कुछ लोगों का उत्तरोत्तर सशक्तीकरण अधिकांश जन का अन्तहीन निर्बलीकरण कर रहा है। फिर, इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि कीमतों की असमानता ही उपरिवर्तित नहीं बनी हुई है, बल्कि विश्व के देशों की आय की असमानताएं बढ़ती जा रही हैं। कीमतों की असमानता आय की असमानता बन जाती है, क्योंकि कीमतें एक दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर उत्पादक तथा विक्रेता की आय भी होती हैं। वास्तव में, भूमण्डलीकरण और निर्बाध विश्वव्यापी बाजारीकरण दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, इनके मध्य अटूट संबंध है। ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग पिछले पांच दशकों से तीव्र होते पूंजीवादी प्रसार का वर्तमान चरण अब लगभग सम्पूर्ण दुनिया को अपने घेरे में ले चुका है।

भूमण्डलीकरण के सांस्कृतिक मायने :

गांधी जी का कथन कि, वे अपने घर की सब खिड़कियों को दुनिया के कोने–कोने से आने वाली बयार के लिए खुला रखना चाहेंगे, परन्तु फिर भी अपने पैरों पर खड़े रहने की कूबत बनाये रखना जरूरी है, और इन बाहरी बयारों के तेज झोकों से अपने पैरों से उखड़ नहीं जाना होगा। यह एक सहज अभिव्यक्ति है– आपसी सम्पर्क, संसर्ग और सद्भावना की, मानवीय कामना की। परन्तु, इस आपसी सांस्कृतिक सम्पर्क की कामना तथा इस तरह के बढ़ते विश्वव्यापी सम्पर्क का बहुप्रचारित तथा बहुप्रचलित भूमण्डलीकरण की अवधारणा से कोई लेना–देना नहीं हैं। यह भूमण्डलीकरण का नवउदारवादी तथा कुछ राष्ट्रों के वर्चस्व को मजबूत और सतत बनाने का एजेंडा है। इस एजेंडे को लागू करने में शामिल कुछ राष्ट्रों और उनकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की बढ़ी सफलताओं ने दुनिया भर के स्वतन्त्रता प्रेमी लोकतान्त्रिक और मानवीय एकजुटता समर्थक तबकों को चौकन्ना कर दिया है। इस किस्म के भूमण्डलीकरण के सांस्कृतिक मायने वास्तव में एक उपभोक्तावादी, लिप्सापूर्ण भोगवादी निजी स्वार्थ को कुशलता का पर्याय घोषित करने तथा अपने निजी और तथाकथित राष्ट्रीय हितों के लिए बेझिझक क्रूरतम और बर्बर तरीके अपनाने की तत्परता के रूप में प्रकट हो रहे हैं। इनके फलस्वरूप संस्कृति का एक ओर तो व्यवसायीकरण हो रहा है और दूसरी ओर सारी दुनिया का आपस में गहरे जुड़ाव वाला भूमण्डलीकरण होता अभिजात्य वर्ग (जिसे पराराष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग भी कहा जाता है) अपने को आम आदमी से हर अर्थ में काटकर एक विभेदकारी अपसंस्कृति का प्रसार कर रहा है। सीमित, निजी स्वार्थ को जायज और कुशलता का पर्याय मनाने वाला रूप स्पष्ट है कि भूमण्डलीकरण संस्कृत के 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श वाक्य से मेल नहीं खाता है।

भूमंडलीकरण : राष्ट्रों, व्यक्तियों के आपसी समन्वय, स्वतंत्रता का सच :

प्रायः यह प्रचारित किया जाता है कि भूमण्डलीकरण के कारण दुनिया के देश आपस में निकट आये हैं, उनका सम्पर्क स्वतन्त्र और गहरा हुआ है। यह भी कहा जा रहा है कि 'आपसी निर्भरता और सम्बन्ध बढ़ने के कारण विभिन्न देशों की स्वायत्तता और राष्ट्रीय सम्प्रभुता घट रही है।' पूंजी तथा कम्पनियां एक देश से दूसरे देश जाने की स्वतन्त्रता का उपयोग करके या ऐसा करने की इच्छा जाहिर करके राष्ट्रीय नीतियों को अपने हक में प्रभावित करने लगी हैं। कुछ अंशों तक ऐसा होता भी है। परन्तु, यह स्वतंत्रता और उससे उत्पन्न प्रभाव आम आदमी और श्रमिक वर्ग के हिस्से में तो नहीं आ पाये हैं। इस तरह जहां तक आर्थिक क्षेत्र में देशों के निकट आने की बात या उनके बाजारों के आपस में जुड़ने या समन्वित होने की बात है यह एक एकांगी कथन ही नजर आता है। पहली बात तो यह है कि सभी देश समान रूप से बाकी दुनिया से नहीं जुड़े हैं। सभी आर्थिक इकाइयों को सारे भूमण्डल में

मनचाहे रूप से भ्रमण करने की आजादी और क्षमता नहीं मिल पायी है। वास्तव में अधिकांश जन, विशेषतः अनौपचारिक क्षेत्र में कार्यरत लोग, तो इस तरह की आजादी के इस्तेमाल की क्षमता से भी वंचित हैं। विभिन्न देशों और आर्थिक कारकों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अनुपात बहुत विविधापूर्ण हैं। उदाहरण के लिए जी–7 (अब जी–8 भी कह सकते हैं) अथवा ओ.ई.सी.डी. के 28 देशों को लें अथवा यूरोपीय यूनियन के अभी थोड़े समय में हो जाने वाले 25 सदस्यों की बात करें अथवा विभिन्न देशों के औपचारिक प्रादेशिक समूहों जैसे नेफटा आदि को लें। इन देशों का आपसी सम्पर्क और कारोबार न केवल काफी सघन और सुगम है, बल्कि अन्य देशों के प्रति पक्षपातपूर्ण भी है। भूमण्डलीकरण को बल देने वाला डब्ल्यू.टी.ओ. बहुपक्षीय समानतापूर्ण आर्थिक सम्बन्धों की बात करता है। परन्तु इस प्रक्रिया में अनेक कारणों से विभिन्न राष्ट्रों और राष्ट्र के समूहों के आपसी विभेदित सम्बन्धों की सच्चाई से आंखें चुराता है। इन सम्बन्धों की शर्तें भी एकतरफा रूप से निर्धारित की जा सकती हैं। फलतः भूमण्डलीकरण कुछ राष्ट्रों के वर्चस्व और अनेक देशों की पर–निर्भरता और उनके पराभव का आधार बन जाता है।

राष्ट्रों का, आमजन का अथवा कम्पनियों का आपसी जुड़ाव– सच्चाई के तीन अलग पक्ष हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि राष्ट्रों के मुकाबले विभिन्न देशों में स्थित आर्थिक इकाइयां व्यावहारिक स्तर पर दूसरे देशों की इकाइयों से आपसी लेन–देन करती हैं। राष्ट्र या राष्ट्रीय सरकारें इन सम्बन्धों को नियन्त्रणहीन बनाकर भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को बल देती है। परन्तु, इस तरह विकसित भूमण्डलीकरण विभेदित, आंशिक, बहुआयामी तथा विषमतापूर्ण होता है। इस तरह भूमण्डलीकरण समान रूप से सर्वव्यापक, समतामूलक, सर्वसुलभ तथा सर्वहितकारी नहीं बन पाता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि जिस तरह राष्ट्रों के बीच में विशाल और बढ़ती असमानताएं विद्यमान हैं उसी तरह हर राष्ट्र में आन्तरिक स्तर पर भी व्यापक गैरबराबरी देखी जा सकती है। इन विषमताओं के कारण भूमण्डलीकरण का चेहरा विकृत हो जाता है। इन विकृतियों के प्रभाव से भूमण्डलीकरण के तहत असमानतावर्धक अथवा असमावेशिक प्रवृत्तियां मजबूत होती रहती हैं। फलस्वरूप विश्व की छः अरब आबादी का एक बहुत बड़ा भाग अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की बात तो दरकिनार, स्थानीय स्तर पर भी बाकी समाज से बहुत कम सम्पर्क और लेन–देन बना पाता है।

समीक्षात्मक निष्कर्ष :

आचारशास्त्र में सुखवादी सिद्धान्त शुभत्व, शिवत्व प्राप्ति में जिस प्रकार एकांगी है, वैसे ही भूमंडलीकरण की अवधारणा भी एकांकी है। हांलाकि प्रतीतात्मक तथ्य यही है कि भूमंडलीकरण के पोषक विचारकों और भूमंडलीकरण रूपी साम्राज्य के सेनापतियों ने अपना आशियाना सुखवादी आचारशास्त्रीय सिद्धान्त के ईंट–सिमेन्ट से ही बनाया है।

सुख की भावना व दुःख–परित्याग का प्रयत्न मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति के आधारभूमि में पूंजीपति स्वहित साधन करते हुए स्वअतिसुख की तृष्णा में दिनों–दिन समाज में अमीरी–गरीबी की खाई को बढ़ाते जा रहे हैं, लेकिन अपने इस उद्यम में समष्टि का कल्याण करने का उद्देश्य दर्शाते हैं और उनका दावा है कि उनके प्रयास से विश्व–समाज का अधिकांश भाग सकारात्मक रूप में प्रभावित हो रहा है, जीवन–स्तर समानता की ओर बढ़ रहा है / बढ़ेगा; लेकिन असमानता छुपा हुआ तथ्य नहीं है। फिर, उनके द्वारा समष्टि–कल्याण का दावा; लेकिन तथ्य यह है कि 'समष्टि कल्याण' उनका कवच है, वास्तव में स्वकल्याण ही लक्ष्य है, यह तथ्य किसी भी आर्थिक सर्वेक्षण में देखा जा सकता है। बेंथम ने परोपकार की भावना के लिए चार नैतिक आदेशों की बात की है व मिल ने आंतरिक आदेश को भी जोड़ा है। लेकिन, आज के तथाकथिक नवउदारवादी व्यवस्था के पोषक राजनैतिक व सामाजिक आदेशों (ये दोनों बेथम के नैतिक आदेशों में से है) से भी छुटकारा पाने को दिनोंदिन प्रयासरत हैं, क्योंकि इसकी नीतिगत प्रकृति है, 'स्वयं को राज्य के हस्तक्षेप व नियंत्रण से मुक्ति'; और यही उनकी प्रथमिकता सूची में है, इससे भी इनके कुटिल व अहम् उद्देश्यों का पता चलता है। यदि वास्तव में इस व्यवस्था के पुरोधा कल्याणार्थ कार्य करते, तो बार–बार सरकार को औद्यागिक घरानों से समाजहित में बढ़–चढ़कर भाग लेने व मुनाफा का अंशदान करने की गुहार नहीं लगानी पड़ती।

पुनश्च, संचार–साधनों, अनुसंधान, लेखन, विमर्श, विचार–विनिमय, सूचनाओं के आदान–प्रदान के साधनों की तरक्की और विस्तार, लोकतांत्रिक–आजादियां आदि भूमंडलीकरण के पोषक तत्त्व हैं। लेकिन वास्तविक स्थिति में दृष्टि डालें तो, यह विषमतावर्द्धक, वंचितों, उपेक्षितों की तादाद बढ़ाने वाली प्रक्रिया, सूचना–संचार–सांस्कृतिक उत्पादों एवं उत्पादनों पर एकाधिकार; गैर सामाजिक निजी मुनाफा–प्रेरित ताकतों व तबकों को बढ़ावा देने वाला हथकंडा मात्र साबित हुआ है। विचारणीय प्रश्न यह है कि विश्व के अधिकांश जन को संसाधनों, अवसरों से वंचित करके दी गई कागजी या यूं कहें हवा–हवाई नाममात्र की समान अधिकारिता अर्थपूर्ण व प्रभावी हो सकती है ?

वास्तव में, भूमंडलीकरण हाथी के दांत की तरह है, जो दिखाने के लिए अलग व खाने के लिए अलग। भूमंडलीकरण के दिखाने वाले दांत हैं, समष्टि का कल्याण, समन्वय, स्वतंत्रतायुक्त विकास, सभी के चेहरे पर मुस्कान; लेकिन खानेवाले दांत को स्पष्ट करने के लिए उद्योगपति स्व. धीरूभाई अंबानी का नारा 'कर लो दुनिया मुट्ठी में' के निहितार्थ ही बाजारवादी गांव के मुखियों का ध्येय है, क्योंकि ये मुखिया राष्ट्रवादी नहीं अपितु पराराष्ट्रवादी (अर्थात् अतिव्यक्तिवादी) होते हैं। इनका प्रारंभिक व अंतिम लक्ष्य स्वसुख, स्वमुस्कान, स्वउत्थान, स्वकल्याण है, लेकिन समष्टि–कल्याण के ढाल में।

वस्तुतः आज की जटिल, विस्तृत तथा परस्पर गहन रूप से आपस में जुड़ी आन्तरिक तथा बाहरी दोनों स्तरों पर अति विषमतापूर्ण अर्थव्यवस्थाओं में किसी भी एक एकांगी वैचारिक मतवाद के आधार पर नीति–निर्धारण करना वैचारिक तथा व्यावहारिक कूपमंडूकता है। ऐसा दृष्टिकोण चाहे–अनचाहे या जाने–अनजाने सीमित निहित स्वार्थों के समक्ष लोगों के आत्म–निर्धारण के अधिकार का समर्पण करता है। मुक्त अर्थव्यवस्था का राजतिलक तथा राज्य की भूमिका को रात के चौकीदार तक सीमित करके शेष सब कुछ को लम्बा वनवास देना भूमण्डलीकरण के रूप में प्रचारित नीतिगत व्यवस्था का मूल आधार है। इतिहास, सिद्धान्त तथा वर्तमान व्यवहार, उदात्त, सर्वस्वीकृत मानवीय मूल्यों आदि की कसौटी पर निर्बाध निजी शक्तियों पर आधारित खुली द्वारवाली बाजार अर्थव्यवस्था कतई खरी नहीं उतरती है। दुनिया भर में प्रचलित वैचारिक नियन्त्रण तथा बिकाऊ, बाजारीकृत विद्वत्ता का ही यह नतीजा है कि आजकल सर्वाधिक प्रचलित भूमण्डलीकरण को (जो पूरी तरह एक दुराग्रहपूर्ण विचारधारा के खूंटे में बंधा है) कूपमंडूकता की विपरीत ध्रुवीय स्थिति बताया जा रहा है। सीधे शब्दों में, बहुप्रचारित भूमण्डलीकरण किसी भी अर्थ में वैचारिक स्वन्तत्रता, सृजनात्मकता तथा व्यापक जनभागीदारी पर आधारित लोकतन्त्र–पोषक व्यवस्था नहीं है। वस्तुतः वह तो स्वयं एक खास किस्म की कूपमंडूकता, हठधर्मिता और वैचारिक दासता पर आधारित है जो शोषण–दोहन के अधिकार को महिमामंडित तथा शाश्वत करने की मुहिम का हिस्सा है।

भूमंडलीकरण का व्यापक परिणाम पर्यावरणीय प्रदूषण भी है। भूमंडलीकरण के पोषक सेनापति विश्वजन के विकास की आड़ में प्रकृति के घटकों का अति दोहन कर, इनके बीच असंतुलन की स्थिति पैदा कर रहे हैं। सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तत्त्वों को भी विद्रूप कर रहे हैं। परिणाम हर तरफ एक असंतुलन, अराजकता की स्थिति पैदा हो गई है, जिनके कारण आने वाली कई पीढ़ियां भयानक त्रासदी झेलने को विवश होंगी। यह असंतुलन की स्थिति ही प्रदूषण है। अतः भविष्य को सुन्दर, सुरक्षित बनाये रखने के लिए इस ओर एक सकारात्मक विचार–क्रांति की आवश्यकता है।

इस प्रकार, जैसे आचार–व्यवहार के लिए सुखवादी सिद्धान्त को समाज के लिए शुभत्व का मानदण्ड मानना अयुक्तियुक्त होगा, वैसे ही या यूं कहें उससे भी ज्यादा समाज के विकास के लिए (भौतिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों के लिए विशेषतः) विनाशकारी होगा, क्योंकि इस व्यवस्था का निष्कर्ष होगा एक व्यक्ति के विकास की कीमत पर लाख (समष्टि) की कुर्बानी।

वरिष्ठ व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग,
एच.डी. जैन कॉलेज, आरा

संदर्भ सारांश एवं टिप्पणियां

* प्रस्तुत निबंध यू.जी.सी. अनुसंधान पुरस्कार योजना के तहत किये गये शोध–कार्य का एक अंश है।

❖ प्रस्तुत निबन्ध में पृथक्–पृथक् संदर्भ देना कठिन प्रतीत हुआ, क्योंकि विचार–प्रवाह कई स्रोतों से ग्रहण कर आत्मसात् किया गया है, इस कारण किसी एक स्रोत या किन्हीं पंक्ति मात्र से संबंधित कर साम्यता प्रस्तुत करना (विषय के केन्द्रीय तत्त्व की चंचल प्रकृति के कारण) दुष्कर प्रतीत हुआ। अतः प्रस्तुत निबंध जिन रचनाओं के विचार–प्रवाह से, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लाभान्वित हुआ है, वे निम्नलिखित हैं–

1. मैंकेंजी: मैनुअल ऑफ इथिक्स
2. वर्मा, वेद प्रकाशः नीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, अलाइड पब्लिशर्स, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण (1982).
3. सिन्हा, जे.एन. : नीतिशास्त्र, जय प्रकाश नाथ एण्ड को., मेरठ
4. पाण्डेय, (डॉ.) संगम लाल : नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद
5. कावरा, कमल नयन : भूमंडलीकरण : विचार, नीतियां और विकल्प, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2005
6. बागची, अ.कु. : ग्लोबलाइजेशन, लिबरेलाइजेशन एण्ड वलनरेबिलिटी : इंडिया एण्ड थर्ड वर्ल्ड, एकॉनामिक्स एण्ड पॉलिकटीकल वीकली 6 नवम्बर (1999)
7. अल्डरसन, ए.एफ : एक्सप्लेनिंग इन्डस्ट्रिलाइजेशन : ग्लोबलाइजेशनः फेल्योर एण्ड सक्सेस अमेरिकन सोश्यिालॉजिकल रिव्यू, 645 अभोबर (1999)
8. डॉनिंग, जेन्अ एच. (सम्पा.) : ग्लोबलाइजेशन एण्ड इन्टरनेशनल बिजनेस, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क (1997)
9. ग्रिफीन, केथ : स्टडीज इन ग्लोबलाइजेशन एण्ड इकॉनामिक ट्रांजिशन्स, मैकमिलन प्रेस, लंदन (1996)
10. बरतालसन्स, जेम्स : द कॉन्सेप्ट्स ऑफ ग्लोबलाइजेशन, इन्टरनेशनल सोसियोलॉजी, जून (2000)
11. नैयर, दीपक : ग्लोबलाइजेशन : दि पास्ट इन ऑवर प्रजेन्ट, इन्डियन इकॉनामिकल जर्नल, जनवरी–मार्च (1996)
12. शॉरी, इशाक : ग्लोबलाइजेशन एण्ड इकॉनामिक डिसपैरिटीज इन ईस्ट एण्ड साउथ ईस्ट एशिया, न्यू डाईलेमाज, थर्ड वर्ल्ड क्वार्टरली, दिसंबर (2000)
13. फर्नांडीज, ए.ई. : रीजनलाइजेशन एण्ड ग्लोबलाइजेशन इन दि मॉडर्न वर्ल्ड इकॉनामी–पर्सपेक्टिव ऑन दि थर्ड वर्ल्ड एण्ड ट्रांजिशनल इकॉनामीज, राऊटलीज, लन्दन (1948)
14. वैसूदोअस्कीए, राम : दि ग्लोबलाइजेशन ऑफ पॉवर्टी; इम्पैक्ट ऑफ आई.एम.एफ. एण्ड वर्ड बैंक रिफॉर्म, जेड बुक्स, लन्दन (1997)

वैश्वीकरण, नैतिकता एवं गाँधी

डॉ. राजेश कुमार सिंह

(I)

पंछी नदिया पवन के झोंके, कोई शरहद ना इसे रोके।

शरहद इंसानों के जाये हैं, सोचो तुमने है क्या पाया इंसान होके.....

वैश्वीकरण की चाहत लिये रीफ्यूजी फिल्म का यह गाना अत्यंत ही लोकप्रिय हुआ था। पर इंसानों की बनायी गयी ये सरहदें केवल राजनैतिक दीवारें नहीं होतीं न ही इन्हें तोड़ने का अर्थ सिर्फ पंछी की तरह निर्बाध विचरण करना होता है। इन सरहदों के आर–पार भिन्न–भिन्न संस्कृतियां, जीवन के मूल्य एवं आदर्श, पारिवारिक एवं Sexual Morality, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक सिद्धान्त एवं मान्यताएं वास करती हैं। वैश्वीकरण के नाम पर जब ये बंदिशें टूटती हैं तो मानव–जीवन के उपरोक्त सभी आयामों में एक टकराहट एवं संघर्ष को उत्पन्न करती हैं और इसी संघर्ष से उत्पन्न होता है वैश्वीकरण के औचित्य–अनौचित्य का नैतिक प्रश्न।

वैश्वीकरण के औचित्य–अनौचित्य का नैतिक प्रश्न उपरोक्त तमाम आयामों में उठता है– अतः यह एक बहुआयामी एवं विस्तृत विषय हो जाता है। मैंने प्रस्तुत निबंध में वैश्वीकरण का प्रयोग सिर्फ आर्थिक विकास के मॉडल (प्रारूप) के सीमित अर्थ में किया है।

चूंकि वैश्वीकरण स्थानीय या स्वदेशी (Indigenous) सभ्यता, संस्कृति एवं मूल्यों में बाह्य शक्तियों का प्रवेश या हस्तक्षेप है अतः वैश्वीकरण की नैतिकता का प्रश्न हर देश के प्रसंग में पृथक्–पृथक् उठेगा। यहां हमारा संबंध स्वभावतः भारत के संदर्भ में है। पुनः, औचित्य–अनौचित्य के प्रश्न को हल करने की जो एकमात्र पद्धति हमें सूझ रही है– वह है आर्थिक विकास के वैश्व मॉडल की तुलना स्वदेशी मॉडल से करके।

अब चूंकि भारतीय अर्थशास्त्र भी एक विस्तृत विषय है– अतः मैंने इसके सर्वोत्तम प्रतिनिधि गांधीवादी मॉडल को इस कार्य के लिए चुना है। अतः इस लेख का शीर्षक है वैश्वीकरण, नैतिकता एवं गांधी।

(II)

भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास हेतु वैश्व मॉडल एवं नैतिकता : साधारणतः यह माना जाता है कि आर्थिक क्रियाएं वस्तुनिष्ठ, वैज्ञानिक नियमों द्वारा संचालित एवं मूल्य–निरपेक्ष होती हैं। पर वस्तुतः अगर हम ध्यान में देखें तो विश्व में आर्थिक सिद्धान्त के कई प्रारूप प्रचलित हैं, और वे सभी स्थानीय सांस्कृतिक, नैतिक मूल्यों एवं आदर्श जीवन की अवधारणा के अनुरूप विकसित होते हैं।

फिर, वैश्वीकरण के नाम पर जिस पूंजीवादी, उदारवादी, उपभोक्तवादी, खुली प्रतियोगितामूलक अर्थव्यवस्था को संपूर्ण विश्व के लिए मानक के रूप में पेश किया जा रहा है– वह न तो विश्व में प्रचलित विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं का निचोड़ है और न ही विभिन्न सांस्कृतिक नैतिक मूल्यों के समन्वय से प्राप्त जीवन दर्शन पर आधारित आर्थिक मॉडल। वस्तुतः यह अमेरिकी एवं यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा विकसित प्रोटेस्टेंट क्रिस्चियन जीवन–दर्शन पर आधारित मॉडल है जिसे भूमंडलीय मॉडल के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। दूसरे शब्दों में यह अर्थशास्त्रीय परिधान में क्रिश्चियन जेहाद है– जो जेब के रास्ते हमारे दिल–दिमाग एवं आत्मा में बड़ी चतुराई से प्रवेश कर रहा है।

एक आसामी कहानी से इसे बेहतर समझा जा सकता है। एक सेठ मछली खरीदने बाजार जाता है। सर्वोत्तम क्वालिटी का मछली वह 100 रू. प्रति किलो की दर से 2 किलो खरीदता है। घर पहुंचने पर मेहनत एवं दूरी के आधार पर रिक्सा वाला उससे 12 रू. भाड़ा मांगता है। पर वह उससे काफी बहस कर विभिन्न प्रकार से समझा–बुझा कर एवं कुछ धौंस भी दिखाकर 10 रू. लेने के लिए राजी कर लेता है। इस खुशी में वह मछली रिक्सा पर ही भूलकर घर चला जाता है। रिक्सा वाला काफी दूर जाने पर जब मछली को रिक्सा पर ही पड़ा देखता है तो वह लौटकर उसे मछली वापस देता है। इस पर खुशहोकर वह 10 रूपये इनाम की पेशकश करता है जिसे रिक्शावाला यह कहकर ठुकरा देता है कि आपने मुझे मेहनत के मुनासिब दो रूपये नहीं दिये और अब मेरी ईमानदारी की कीमत 10 रूपये लगा रहे हैं!

अब एक दृष्टि से जहां सेठ ने सर्वोत्तम महंगी मछली खरीदकर अपने Standard of living को ऊपर उठाया एवं सुखवादी Utility value की प्राप्ति की, वहीं दूसरी ओर रिक्सावाले से मोलतोल कर मछली को अधिक Cost effective भी बनाया। ये दोनों वाणिज्यिक मूल्य हैं जो यूरोपीय सभ्यता में भले ही निरापद दिखते हों पर हमारे value attitude की दृष्टि से रिक्सावाले की जिंदगी तमाम अभाव के बावजूद बेहतर है। वह किसी के आत्मसम्मान के लिए खतरा नहीं है, जबकि सेठ का Value attitute दूसरों के आत्म–सम्मान एवं सामाजिक समरसता की दृष्टि से नुकसानदेह हो सकता है। हम जानते हैं कि नक्सल आंदोलन के मूल

में एक बड़ा कारण जमींदारों एवं सवर्णों का ऐसा ही Value attitude रहा है। गांधी अंग्रेजों के सबसे सस्ता खरीदने एवं सबसे महंगा बेचने के वाणिज्यिक मूल्यों की अक्सर आलोचना inhuman value के रूप में किया करते थे।

गांधी इस बात पर जोर देते थे कि हर राष्ट्र का यह कर्त्तव्य होता है कि वह आर्थिक विकास के मॉडल को अपनी संस्कृति एवं जीवन–दर्शन एवं Quality of life की अवधारणा के अनुरूप ग्रहण या विकसित करे। अंग्रेजी मॉडल उनके लिए हितकर हो सकता है पर हमारे लिए विनाशकारी ही होगा। विकास, सुख एवं संतुष्टि केवल प्रतिव्यक्ति आय का मामला नहीं है। भौतिकवादी, उपभोक्तावादी, आर्थिक मूल्य यदि हमारे अंदर धन की चाहत को चार गुणा बढ़ा दें और धन की प्राप्ति को डेढ़ गुणा कर दें तो हमें सुख–संतुष्टि के बजाय मानसिक कुंठा एवं हताशा की ही अनुभूति होगी। यही कारण है कि आज के युवा आक्रामक हो रहे हैं। गांधी ऐसे आर्थिक मूल्यों की तुलना वेश्या से करते थे। हमारा कौटिल्य का अर्थशास्त्र अर्थोपार्जन के प्रारूप को धार्मिक दायित्वों के निर्वहन एवं अंततः उसकी निस्सारता को महसूस करते हुए मोक्ष प्राप्ति के अनुरूप बनाने पर जोर देता है। (सांई इतना दीजिए जामे कुटुम्ब समाय, मैं भी भूखा ना रहूं, साधु न भूखा जाय।)

अमर्त्य सेन अपनी पुस्तक *The Quality of Life* में कहते हैं कि जो आर्थिक मूल्य मनुष्य के रूप में हमारी आत्म–पहचान को नष्ट कर दे, हमारे प्रेम की संवेदनाओं को विकृत कर दे, पारिवारिक–सामाजिक संबंधों को कमजोर कर दे वह उत्कृष्ट काम का भी साधन कैसे हो सकता है? कई शोधों से स्पष्ट है कि दरिद्रता के बावजूद भारतीयों का संतुष्टि–स्तर अमेरिका एवं यूरोप से कहीं बेहतर है।

(III)

आर्थिक विकास की वैश्व–पद्धति एवं नैतिकता : भारत में वैश्वीकरण का दौर आशाएं या उपलब्धियां तथा निराशाएं या समस्याएं दोनों लेकर आया है।

एक ओर India Shining नजर आ रहा है, शेयर मार्केट उछालें ले रहा है और इस कारण आज विश्व का सबसे अमीर आदमी भारत का है। उद्योग 10 से 12 प्रतिशत की दर से विकास कर रहा है और विदेशों से भारी निवेश आकर्षित कर रहा है। विदेशी मुद्रा रिजर्व 200 अरब डालर पार कर चुका है और रूपया नित मजबूत हो रहा है। भारतीय कंपनियां विदेशों में अधिग्रहण कर रही हैं और यहां के मैनेजमेंट युवा 1 करोड़ के वेतन पैकेज पर नौकरी पा रहे हैं। मुद्रा स्फीति काबू में है, राजस्व घाटा कम हो रहा है एवं सरकारी राजस्व बढ़ रहा है।

पर तस्वीर का एक दूसरा रुख भी है जिसमें विदेशी निवेश का अधिकांश भाग गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडू, कर्नाटक जैसे संपन्न राज्यों तक ही सिमटा हुआ है और उत्तर प्रदेश को 1 प्रतिशत, बिहार को 0.4 प्रतिशत भाग ही प्राप्य है। कृषि विकास दर 2 से 3 प्रतिशत पर स्थिर है और कृषि की लागत तेजी से बढ़ रही है जिस कारण किसान आत्म–हत्याएं कर रहे हैं। 70 प्रतिशत आबादी को ढोने

वाले गांवों की G.D.P. में हिस्सेदारी घटते–घटते 20 प्रतिशत तक पहुंच चुकी है। इस प्रकार न केवल संपन्न राज्यों एवं विपन्न राज्यों के बीच खांई बढ़ रही है, बल्कि शहर एवं गांव के बीच भी विषमता बढ़ती चली जा रही है। आधुनिकीकरण के फलस्वरूप Jobs ज्यादा Capital Insentive हो गये हैं अतः नयी बहालियां घटती जा रही हैं। Organised Sector कुल नौकरियों का मात्र 7 प्रतिशत ही प्रदान करता है जबकि 93 प्रतिशत रोजगार Inorganised Sector में, वह भी Casual या Contract basis पर मिल रहे हैं। हड़ताल की मात्रा तो घट रही है पर lock-outs के चलते रोजगारहीन होने की रफ्तार बढ़ गयी है। उपरोक्त कारणों से गरीबी–उन्मूलन की रफ्तार अत्यंत ही सुस्त है। विश्व के 40 सर्वाधिक अमीर लोगों के देश में तीस करोड़ से अधिक आबादी गरीबी रेखा के नीचे जीवन बसर कर रही है।

हमारे देश की अधिसंख्य जनता के लिए India Shining कोई अर्थ नहीं रखता। गांधीवादी दृष्टि में किसी भी देश की विकास की पद्धति तभी नैतिक एवं उचित मानी जा सकती है जब वह उस अधिसंख्य आबादी को लक्षित करती हो जिसके लिए विकास की योजनाएं बनायी जाती हैं। गांधी अक्सर यह कहा करते थे कि किसी भी आर्थिक योजना को बनाते वक्त हमेशा यह ध्यान रखो कि देश के निर्धनतम व्यक्ति को इससे क्या लाभ होगा। इसके विपरीत वैश्वीकरण मॉडल की आर्थिक पद्धति चंद संपन्न एवं प्रभुत्वशाली उद्योगपतियों, व्यापारियों आदि को आगे बढ़ाकर असाक्षात् रूप से उनसे रिसने वाले आर्थिक लाभ से सामान्य जन के विकास की बात करता है।

विषमता को उत्तरोत्तर बढ़ाने वाली यह पद्धति Theory of distributive justice में अपना नैतिक औचित्य खोजती है। पर योग्यता या क्षमता या उत्पादकता के आधार पर लाभ–वितरण का distributive justice का सिद्धान्त भी तभी उचित माना जा सकता है जब योग्यता या क्षमता हासिल करने के अवसर के स्तर पर समानता हो। अतः अंततोगत्वा औचित्य का मूलाधार समानता से ही आती है। पर भारत में शिक्षा के निजीकरण एवं व्यवसायीकरण के दौर में यह संभावना भी क्षीण ही नजर आती है।

एक अन्य नैतिक दृष्टिकोण के अनुसार यदि कुछ लोगों की आमदनी बिना दूसरों को नुकसान पहुंचाये बढ़ायी जा सकती है तो इसमें कोई नैतिक दोष नहीं है– क्योंकि इससे राष्ट्रीय आमदनी में वृद्धि होती है। पर गांधी कहते हैं कि इस पद्धति में जो सीमित प्राकृतिक एवं आर्थिक साधन आम–जन के हित में लगना चाहिए था उसका अपव्यय मुट्ठी भर लोगों के विलासितापूर्ण सामानों के उत्पादन में खप जाता है। दूसरे, अनुचित एवं अत्यधिक विषमता, उस सामाजिक पृष्ठभूमि का निर्माण करती है– जो मार्क्स की नजरों में समाजवादी विद्रोह की आवश्यक शर्त होती है। कहीं भारत उसी दिशा में तो नहीं बढ़ रहा ?

उपरोक्त विश्लेषण के आलोक में गांधी के कृषि एवं लघु उद्योग पर आधारित अर्थव्यवस्था के नैतिक मूल्य को समझा जा सकता है। इसमें बड़े उद्योग एवं उद्योगपति तो होंगे पर वे कृषि एवं लघु उद्योगों के लिए आवश्यक यंत्र, बिजली, संचार–व्यवस्था, आदि उत्पादित करेंगे न कि उनका स्थान स्वयं ले लेंगे। ऐसे नियंत्रित विकास की पद्धति में विकास दर भले ही आधी हो जाये पर समतामूलक एवं औचित्यपूर्ण, सौहार्दपूर्ण एवं गलाकाट प्रतियोगिता–रहित होगी। तीव्र आर्थिक विकास की प्रक्रिया जिस प्रकार लोगों को एक रोजगार छोड़कर दूसरा खोजने के लिए बाध्य करती है उसका दर्द आये दिन होने वाली आत्महत्याओं से स्पष्ट है। मॉल्स एवं रिलायन्स रिटेल के विरोध का यही कारण है।

(IV)

उचित या अनुचित, वैश्वीकरण आज एक ऐसी आंधी है जिससे हम बच नहीं सकते। सिर्फ इसके दुष्परिणामों से बचाव के कुछ मार्ग विभिन्न स्तरों पर तलाशे जा सकते हैं। कुछ विचारणीय बिन्दु निम्नलिखित हो सकते हैं:–

(1) स्कूल स्तर से ही विद्यार्थियों में नीति–दर्शन, संस्कृति, अध्यात्म आदि की तार्किक जानकारी दी जानी चाहिए ताकि आर्थिक मनुष्य से भिन्न एक अच्छे इंसान के रूप में उसका आत्मबोध एवं उच्च जीवन की अवधारणा धूमिल न हो पाये।

(2) वैश्वीकरण के फलस्वरूप हमारे स्वदेशी संस्थानों में कार्य–संस्कृति में काफी सुधार की संभावना है। मिलने वाले वेतन भी बेहतर हो सकते हैं। पर साथ ही साथ लैंगिक नैतिकता के क्षेत्र में पड़ने वाले प्रभाव हमारे पारिवारिक मूल्यों के लिए अत्यंत घातक हैं। भारत में आर्थिक उन्नति की तमन्ना– परिवार के सुख एवं आने वाली पीढ़ी के लिए आर्थिक स्थायित्व हेतु ही की जाती है। अतः लैंगिक नैतिकता एवं पारिवारिक मूल्यों की शिक्षा को बचपन से ही स्कूल–शिक्षा में शामिल करना आवश्यक है।

(3) उच्च गुणात्मक शिक्षण–संस्थान सरकारी क्षेत्र में अधिक से अधिक खोले जाने चाहिए ताकि आम लोगों के लिए भी बेहतर पेशा का मार्ग खुल सके।

(4) चूंकि बड़े उद्योगपति एवं व्यवसायी ही राजनैतिक दलों का खर्च उठाते हैं अतः कृषि क्षेत्र एवं लघु–उद्योग राजनीतिज्ञों द्वारा उपेक्षित हो रहे हैं। इस पर विशेष ध्यान देने की तुरंत आवश्यकता है।

(5) केन्द्र में राज्य सरकार की योजनाएं ऐसी होनी चाहिए कि पिछड़ा राज्य एवं पिछड़ा क्षेत्र में विशेष रूप से निवेश किया जाय। इसके लिए सरकारी निवेश एवं टैक्स–कानून को सुसंगत बनाया जाना चाहिए।

(6) तीव्र आर्थिक विकास के चलते जो किसान,मजदूर या कर्मचारी विस्थापित होते हैं उनके लिए आर्थिक सुरक्षा एवं पुनर्नियोजन का समुचित प्रबंध आवश्यक है।

रीडर, दर्शनशास्त्र विभाग, बी.एन. कॉलेज, पटना

वैश्वीकरण का नीतिशास्त्र

डॉ. रंजना कुमारी झा

20 वीं सदी का अंतिम दशक और इक्कीसवीं सदी का शुरूआती वर्ष दुनिया में परस्पर विरोधी दिखने वाली वस्तुओं के लिए ही याद किया जायेगा। एक ओर इन वर्षों में तकनीकी विकास का चरम रूप सामने आया है जैसे मानव–क्लोन, मानव जिनों और कम्पयुटर के नेतृत्व में सूचना–क्रांति ने मानव–जाति के सोच, चिंतन और उसकी जीवन–शैली में बुनियादी परिवर्तन ला दिया है। सूचना–क्रांति की बदौलत पूरी दुनिया वैश्विक–ग्राम में तब्दील होती जा रही है। महलों का प्रतिरूप तैयार करनेकी घोषणा के साथ मनुष्य ने सृष्टिकर्ता ईश्वर की सत्ता को भी चुनौती दी है। वहीं दूसरी ओर मानव के सामने विध्वंसकारी दृश्य भी हैं। सुनामी की त्रासदी, उड़ीसा के समुद्री तूफान, पेरिस में गर्म हवाओं से दस दिनों में हजारों मौतों के ताण्डव और हैदराबाद में 1000 लोगों के निधन से स्पष्ट है कि इन सभी प्राकृतिक और मानव–निर्मित आपदाओं ने मनुष्य की विवशता और उसकी विवेक–बुद्धि की सीमा को उजागर किया है। फिर भी आज की दुनिया के नियंता अपनी विवेक–बुद्धि और तकनीकी दक्षता पर पुनर्चिंतन करने के लिए तैयार नहीं हैं। 'An Idealist View of Life' में डॉ. राधाकृष्णन् ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "आज के मानव को यदि इतिहास से सबक लेना है तो उसे रचनात्मक सोच पैदा करना होगा नहीं तो हिंसक, शक्तिशाली डायनोसेर की स्थिति उसकी बनेगी। डायनासोर के अवशेष का अध्ययन आज का मानव करता है, पर आज के मानव के अवशेष का अध्ययन कौन करेगा? अतः आज का मानव विकास कर रहा है या विनाश, आज की युवा पीढ़ी भी इसी दुविधा में पल–बढ़ रही है। संप्रति विश्व का परिदृश्य अत्यंत चिंताजनक है। एक तरफ अमेरिका की शिलिकॉन वेली दिख रही है तो दूसरी ओर अपने पास–पड़ोस के उजड़ते गांवों की दुर्दशा, किसानों की आत्महत्याएं, आतंकवादी प्रवृत्ति की वृद्धि, बेरोजगार युवा पीढ़ी की पीड़ाएं, हमारी चेतना को आक्रांत कर रही हैं। इक्कीसवीं सदी का भारतीय युवा वर्ग एक मनोवैज्ञानिक और नैतिक संघर्ष का सामना कर रहा है। उपभोक्ता वस्तुओं की मृगतृष्णा और अभाव के नग्न यथार्थ के बीच वह पेण्डुलम की तरह डोल रहा है। उसकी द्वंद्वग्रस्त मानसिकता जीवनमूल्यों की पहचान में विफल हो रही है।

आधुनिक युग में विज्ञान, तकनीकी एवं उद्योगों के विकास ने मानव के दृष्टिकोण में प्रतिगामी परिवर्तन ला दिया है, जिससे एक विखण्डित दृष्टि का उद्भव हुआ है। यह क्षतिग्रस्त दृष्टि मानव में मिथ्या अहंकार को जन्म दे रही है। मनुष्य स्वयं को प्रकृति का विजेता मान बैठा है। पुराकाल में डायनासोरों ने स्वयं को सर्वविजयी मानते हुए शेष प्रकृति का उपभोग एवं विध्वंस किया था। आज मानव भी उसी प्रकार का आचरण कर रहा है। हम प्रकृति के उन्मुक्त दोहन में संलग्न हैं जिसके परिणामस्वरूप पर्यावरणीय असंतुलन के विविध रूप मानने आ रहे हैं। स्वेच्छाचारी मानव जल, वायु और भूमि को भ्रष्ट कर रहा है। विकास के नाम पर हम विनाश की ओर बढ़ रहे हैं। हम उपभोक्तवादी दृष्टिकोण से परिचालित हो रहे हैं। वैश्वीकरण के कारण बाजार का दबाव बढ़ रहा है, फलतः नैतिकता संकटापन्न हो गई है। शाश्वत दार्शनिक दिशानिर्देशों को हम भूलते जा रहे हैं। विश्वशांति आहत है। जैन दर्शन के महाव्रत–पालन, अहिंसा एवम् अपरिग्रह के विचारों से हमारी विमुखता दुःखद है।

अपरिग्रह आंतरिक लोभजनित संग्रह–वृत्त से हमें बचा सकता है। मर्यादा से परे या मर्यादा–विरुद्ध अनुशासन से परे संग्रह करने की वृत्ति परिग्रह है। जैन दर्शन में तो इस साधना–वृत्ति की समग्रता कुछ अधिक ही विशाल है। प्राणी परिग्रह के निमित्त हिंसा करता है। परिग्रह पांच पापों की जड़ है। जैन दर्शन में पंचमहाव्रत का पालन करने का आदेश दिया गया है और वैदिक दर्शन में भी पांच यम–नियम निर्दिष्ट हैं। बुद्धिमानों को चाहिए कि यमों का सदा सेवन करें। केवल नियमों का सेवन पर्याप्त नहीं है। अपरिग्रह के शाब्दिक रूप को मैं स्पष्ट करना चाहूंगी जो आप सभी जानते भी हैं फिर भी शाब्दिक भाव में मूल 'अपरिग्रह' शब्द संस्कृत–भाषा का शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'ग्रह'– धातु प्रत्यय लगाकर होती है। 'ग्रह' धातु का अर्थ होता है– ग्रहण करना या पकड़ना या पकड़ लेना। पर–पदार्थों को मानसिक रूप से पकड़े रहना या उनमें आसक्ति ही परिग्रह है। पर–पदार्थ वह है जो आत्मिक नहीं है। परिग्रह के समान विश्व में जीवों के लिए कोई बन्धन रूप नहीं है। परिग्रह का यह वास्तविक व आंतरिक रूप है।[3]

शाब्दिक संदर्भ में ग्रहण, लगाव, आसक्ति या संग्रह परिग्रह है एवं विसर्जन, त्याग, अलगाव, अमरत्व या अनासक्ति अपरिग्रह है। निर्धारित अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की संगोष्ठी में वैश्वीकरण की नैतिकता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि आज के सुसभ्य और विकसित मानव में नैतिक चेतना है या नहीं, चाहे वह विश्व के मानव के लिए हो या स्वयं के प्रति। साहित्यिक संदर्भ में अहिंसा की तरह अपरिग्रह भी एक निषेधात्मक शब्द है जो कुछ क्रियाओं, भावनाओं एवं प्रवृत्तियों को त्याज्य करार देता है।

ऐतिहासिक संदर्भ में स्वतन्त्र रूप में अपरिग्रह–सिद्धान्त का प्रवर्तन तीर्थंकर महावीर ने किया था, लेकिन इतिहास में हम मतभिन्नता पाते हैं। कुछ इतिहासकारों ने तीर्थंकर महावीर को माना तो कुछ ने ऋषभदेव को। मुझे इस विवाद में नहीं पड़ना है। एक बात तो स्पष्ट है कि विषय–वस्तु की दृष्टि से अपरिग्रह व्रत की साधना के संदर्भ में सभी तीर्थंकरों ने समान उपदेश दिए हैं। महावीर ने इसका अतिविशुद्ध परिशोधन–मात्र किया है। तीर्थंकर महावीर ने नवीन दृष्टिकोण से इन सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया है। उनकी व्यवस्था में बाह्य–वस्तुओं की अनासक्ति निहित थी। 'वहिस्तान आदानं वरिमंपा', महावीर का यह वचन इसे ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दो शब्दों में विभक्त करता है। पार्श्व के समय में सामयिक चरित्र उपदेशित था, परन्तु महावीर ने छेदोपस्थापनीय चरित्र परिवर्तन किया जिसके अन्तर्गत अपरिग्रह का शुद्ध वैज्ञानिक रूप विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया गया।

तीर्थंकर पार्श्व के लगभग ढाई सौ वर्षों के बाद तीर्थंकर महावीर ने धर्म धरातल पर प्रवेश कर उस समय की जटिल एवं विकृत सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था को कट्टरपंथी ब्राह्मणवाद से छुटकारे का मार्ग प्रशस्त किया था। कट्टर ब्राह्मणवाद में यज्ञ के नाम पर पशु–बलि को धार्मिक संस्कार मानना, जाति, वर्ण और जन्म के आधार पर ऊँच–नीच की दीवार खड़ा करना तथा स्वार्थपूर्ण राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था की स्थिति थी जिससे उस समय के समाज को और देश को हानि पहुंची थी। आज का मानव भी उसके द्वारा निर्मित जंजीरों में जकड़ा हुआ है। संप्रति मानव चाहे वह किसी भी देश का हो वह तृष्णा, अन्धविश्वास, पूर्वाग्रह और हठवादिता से जकड़ा हुआ है। क्या नैतिकता के लिए कहीं कोई जगह है? शायद नैतिकता शब्द का प्रयोग हम किसी के उपदेश देने या सभा–संगोष्ठी में ही करते हैं। विद्वज्जनों को इस संदर्भ में आत्म–मंथन करना है। वर्तमान कालिक विषम परिस्थितियों में मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना करने के लिए महावीर के इस साधना–सूत्र की विशुद्ध व्याख्या करने की जरूरत है।

मूल रूप से इस सिद्धान्त के निम्न बिन्दु आधारभूत प्रेरणास्रोत की तरह हैं:–

1. समता के धरातल पर विशुद्ध मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना,
2. धर्म की मर्यादा स्थापित करना,
3. व्यक्तिगत एवं अर्थतंत्र की अवधारणाओं का सर्वहिताय – सर्वसुखाय समाजीकरण,
4. भौतिक और आध्यात्मिक दोनों आधारों पर अपरिग्रही आचार–संहिता बनाना।

इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए महावीर यह दर्शाना चाहते थे कि इस व्रत की साधना से अन्य चार महाव्रत, अणुव्रत या यम स्वतः ही जीवन में उतर जायेंगे।

आवश्यकता है पालना की, अमूर्च्छा की। परिग्रह एवं अपरिग्रह में मूर्च्छावाद मनोवैज्ञानिक है, साधक को जागृति या साधु कहा गया है। आन्तरिक जागरण अपरिग्रह है और आन्तरिक बेहोशी परिग्रह या असाधुता है। इस सिद्धान्त के अनुसार बाह्य–संग्रह, अन्दर के लोभ की झलक है। जहां–जहां सम्मोहन है, मूर्च्छा जागृत होती है। सम्मोहन का अर्थ है जहां–जहां और जिन–जिन चीजों के सम्बन्ध में आप सोचते हैं सब में क्षणिक सुख छिपा हुआ है। यहां आश्वासन नहीं होता, केवल कामना, इच्छा एवम् लालसा होती है।

मूर्च्छा की वैज्ञानिक कसौटी ही नैतिकता है। इसमें अपनी इन्द्रियों को अनुशासित रखना होता है। इन्द्रियां तो मानव को अपनी ओर सतत खींच रही हैं। मानव की चेतना इस इन्द्रिय–जनित खिंचाव से प्रभावित न हो। दूसरे शब्दों में परित्याग की साधना, इन्द्रियों और चेतना के बीच जो सम्बन्ध है, जो बहाव है, जो आसक्ति है उसे क्षीण करना है। देखना केवल यह है कि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचनाओं का नियंत्रक मन है या चेतना या स्वयं इद्रियां हैं। अधिकार मानवीय चेतना का है या इद्रियों का? नैतिक निर्णय तो हमें ही लेना है कि इन दोनों में से किसका चयन करें। मन का चेतन तत्त्व इन्द्रियों के पीछे खिंचा जा रहा है या इन्द्रियां मन चेतना की अनुगामी हैं। यदि इन्द्रियां परिशुद्ध हैं, चेतन तत्त्व की अनुगामी हैं तो आंखें निर्मलता से देखेंगी, कान विवेक से सुनेंगे, जिह्वा रसहीन रहेगी और स्पर्श प्रभावहीन होगा। अर्थात् इन्द्रियों का सम्मोहन ही परिग्रह है एवं चेतन तत्त्व की जागृति अपरिग्रह। भोग या त्याग का इतना ही अर्थ है कि इन्द्रियां मालिक हैं या चेतना। यदि चेतना मालिक है तो वैश्वीकरण की नैतिकता स्पष्ट है। तभी साकार होगा 'वसुधैव कुटुम्बकम्'।

अपरिग्रही होने की शर्तें निम्नांकित हैं:–

1. आन्तरिक निर्बलता का त्याग अर्थात् शासक होना।
2. श्रमशीलता का तात्पर्य यह है कि संयम में नहीं, श्रम में विश्वास रखकर स्वावलम्बी बनना,
3. अहिंसा,
4. कुशलता अर्थात् भय का त्याग करना।

आत्मविश्वासी बनना और कार्य–कुशलता से अपनी आवश्यकताओं के उपकरण जुटाना। धन, विद्या, कृति, सत्ता, हर चीज में ममत्व, लगाव और परिग्रह से हानि पैदा होती है। आन्तरिक अनासक्ति ही मानव को सच्चा अपरिग्रही बनाती है। परिग्रह की लालसा मानव के सहज मानसिक विकास में रुकावट पैदा करती है। बाह्य–संसाधनों को जुटाने में व्यस्त मानव अपने आंतरिक सत्य को खो बैठता है।

अपरिग्रह का विलोम है परिग्रह जिसका सहज तात्पर्य है स्वामित्व के प्रभुत्व की घोषणा। चाहे वह वस्तुओं के प्रति हो या व्यक्तिओं के प्रति। ऐसे स्वामित्व एवं प्रभुत्व की घोषणा परम हिंसा है। परतंत्रता थोपे बिना स्वामित्व की आकांक्षा पूर्ण नहीं हो सकती। मालिक एवं स्वामी बनने के लिए किसी अन्य को दास या गुलाम बनाना अनिवार्य है। जरा गंभीरता पूर्वक हम एक क्षण के लिए विचार करें कि उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाववश भौतिकता के प्रति रुझान ने आत्मीय भाव को जिस तरह लुप्त कर दिया है उससे मुक्त होने का क्या उपाय है। यदि हम ऊपरी मन से वैश्वीकरण की नेतिकता पर विचार करेंगे तो वह परिग्रह होगा, रिक्तता होगी। परिग्रह का सम्बन्ध वस्तुओं पर स्वामित्व स्थापित करने से है। यह एक विधायक उपलब्धि है। इतिहास साक्षी है कि डायोनीज ने विश्व–विजेता सिकन्दर से प्रश्न किया था कि अगर तू सम्पूर्ण विश्व पा लेगा तो फिर क्या करेगा? इस प्रश्न का साक्षात्कार होते ही सिकन्दर उदास हो गया। दूसरी दुनिया तो है नहीं। जब तक लालसा हमें किसी वस्तु को प्राप्त करने की रहती है, हम उतावले हो कर उसे प्राप्त करना चाहते हैं। प्राप्त करने की अंधी दौड़ में हम विवेकशीलता का परित्याग कर पशुवत व्यवहार करने लगते हैं। प्रकृति का शाश्वत नियम है कि जैसे ही कोई वस्तु प्राप्त हो जाती है वह महत्त्वहीन हो जाती है। फिर नई इच्छा के लिए खाली जगह ही यह परिग्रह है। अतः विवेकमय अर्जन या विसर्जन की सम्यक् चेतना ही सामाजिक जागृति का इतिहास तथा संग्रहण–वृत्ति को मर्यादित करना अनुशासन है। अतः जैन दर्शन की अभिव्यक्ति में संग्रहण व संरक्षण विकृति नहीं, वरन् शोषण परिग्रह है। अपरिग्रह तो चेतना है, सम्यक् विवेक है, स्व–जागरण है, आत्मशोधन–रूप अनासक्त भाव है।

यह एक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त है कि एक की सम्पन्नता दूसरे की विपन्नता को जन्म देती है। एक स्वार्थपूर्ण आसक्ति समाज में लाखों परिवारों को नारकीय यातना में ढकेल देती है। अतः इस सिद्धान्त के पीछे तीर्थंकर महावीर का स्पष्ट दृष्टिकोण रहा है कि बाह्य सम्पत्ति या शक्ति से भीतर की गरीबी व कमजोरी नहीं मिटाई जा सकती। कोई भी व्यक्ति आपको परतंत्र कर स्वयं स्वतंत्र नहीं हो सकता। परतंत्र तो वे लोग हैं जो दूसरों पर अपना अधिकार स्थापित कर स्वयं स्वतंत्र होने के दिवा–स्वप्न में, आत्म–प्रवंचना में भटकते रहते हैं। अस्तित्ववादी विचारक सार्त्र ने ठीक ही लिखा है कि "हम सब एक पानी के जहाज पर सवार हैं और जहाज के छिद्र को बन्द करने में लगे हैं ताकि जहाज डूब ना जाए। लेकिन हमें पता नहीं कि यह दिशाहीन जहाज किस ओर जा रहा है।"

प्रश्न उठता है कि अपरिग्रही बनने के लिए जीवन में किस तरह का परिवर्तन लाया जाए। क्या धारण किया जाए? इन सारे प्रश्नों का स्पष्ट और सशक्त प्रावधान जैन धर्म में है जिसे ढूंढ़ने की आवश्यकता है और सच्चे अर्थ में जीवन में उतारने की आवश्यकता है। इसकी शुरुआत या प्रयोग दूसरों पर नहीं, बल्कि अपने

आप से करना होगा। जीवन–यापन में परिमार्जित परिवर्तन लाना होगा, स्वीकृत सम्प्रत्यय के साथ। समस्त एषणाओं का त्याग करना होगा मन, वचन एवं कर्म से।

सातवां व्रत 'उपभोग परिभोग परिमाण' व्रत जिसके अन्तर्गत छब्बीस विधियों की मर्यादा निर्देशित है, ध्यातव्य है। पांचवां व्रत 'परिग्रह परिणाम व्रत' है ज़िसमें नौ प्रकार के परिग्रह, यथा क्षेत्र, वस्तु, हिरण्य, सुवर्ण्य, द्विपद, चतुष्पद, धन, धान्य, कव्य धातु का मर्यादापूर्वक पालन निहित है।

नियम का पालन यदि हम अपने जीवन में सुचारु रूप से करें तो निश्चय ही एक संयमित और अपरिग्रही जीवन जी सकते हैं। अपरिग्रही जीवन व्यक्ति को संयमी, आस्थावान तथा सुखी बनाता है। वह न सिर्फ जीवन के प्रति सही दृष्टि प्रदान करता है अपितु समाज में उसकी सशक्त भागीदारी को भी स्वीकृति प्रदान करता है।

जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य भारतीय दर्शनों, वेदों, उपनिषदों ने इस सिद्धान्त की व्याख्या किसी–न–किसी रूप में की है। ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसामसीह एवं उनके अनुयायियों ने अपरिग्रह पर अत्यधिक बल दिया है। *गीता* में कृष्ण–अर्जुन संवाद अपरिग्रह की विश्लेषणात्मकता को प्रकट करता है। बौद्ध धर्म की नीति एवं चार आर्य सत्य इसी सिद्धान्त पर आधारित है। इस्लाम धर्म के अनुसार "खुदा के सामने प्रतिष्ठित, आदरणीय वह है जो ज्यादा परहेजगर है।" अर्थात् धन–संग्रह, उसे छिपा कर रखना, उसे खर्च न करना इस्लाम के विरुद्ध है। वहां खैरात, सदका, जकात को आवश्यक घोषित किया गया है।

समकालीन विचारकों में स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द सरस्वती, महात्मा गांधी, विनोबा भावे ने इस सिद्धान्त को प्रचारित ही नहीं किया अपितु अपने जीवन में उतारा भी। वास्तव में महात्मा गांधी ने वर्तमान युग के अनुरूप अपरिग्रह के सामाजिक अर्थ को व्यापकता प्रदान करते हुए सम्पत्ति–संग्रह की वृत्ति को 'ट्रष्टीशिप– की अवधारणा से जोड़कर एक व्यापक मानवीय आधार प्रस्तुत किया। तात्पर्य यह कि आपके पास जो कुछ भी है आप उसके स्वामी नहीं हैं, मात्र ट्रस्टी हैं। उस सम्पत्ति के उपयोग का अधिकार सम्पूर्ण देश एवं समाज का है। इस विचार को गांधी जी ने इस हद तक बढ़ाया कि मनुष्य स्वयं अपने को शरीर का, मन का, बुद्धि का एवं वाणी का स्वामी न माने। सबका उपयोग और विनियोग भी चराचर सृष्टि के हित में करता रहे। अहिंसा और अपरिग्रह जैन दर्शन का एक ऐसा शाश्वत सिद्धान्त है जिसे प्रत्येक धर्म, दर्शन के विचारकों ने किसी न किसी रूप में ग्रहण किया है।

आज के परिवेश में अहिंसा और अपरिग्रह ही एक ऐसा सिद्धान्त है जिसके द्वारा वर्तमान के सारे अभावों एवं विषमताओं का निवारण संभव है। उत्पीड़न, अभाव, अभियोग, बलात्कार, धोखा, रिश्वत, साम्प्रदायिक आग्रह, राजनैतिक, अनीतिपूर्ण

संरक्षण प्रजातंत्र को विकृत कर चुके हैं और आज इन विकृतियों का समाजीकरण हो चुका है। इस विडंबनापूर्ण स्थिति में हम वैश्वीकरण में नैतिकता को ढूंढ़ रहे हैं। सुसंस्कार एवं नैतिकता तिरोहित हैं। जो आग हम दूसरे को जलाने के लिए लगा रहे हैं हम स्वयं ही उस में जल रहे हैं। अमेरिका को तो इससे स्पष्ट सबक ले लेना चाहिए। आर्थिक शोषण, सामाजिक अन्याय, गंदी राजनीति, ऊंच–नीच का भेदभाव, सम्पन्नता एवं विपन्नता के बीच की खाई आदि विकृतियों का यथासंभव समाधान जैन धर्म के अहिंसा एवं अपरिग्रह सिद्धान्त में है। स्पष्ट है कि पारस्परिक लोक–व्यवहार की एक विशिष्ट आचार–संहिता, अहिंसा और अपरिग्रह सिद्धान्त के द्वारा प्रतिपादित की गई है जिसमें 'स्व' पर विज्ञान निहित है। ऐसा शिल्पी बनकर जीना है जिसमें 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तुः निरामया' की स्पष्ट झलक हो। समाज, देश और विश्व की कोई ऐसी समस्या नहीं है जिसे जैन धर्म के अहिंसा और अपरिग्रह सिद्धान्त के द्वारा सुलझाया न जा सके। करुणा भाव से केवल प्रयास करने की जरूरत है।

आज के इस संकट की घड़ी में अहिंसा और अपरिग्रह सिद्धान्त का पालन आवश्यक है। मैं इस शोध–पत्र में स्वीकार करती हूं कि सांसारिक जीवन में इसका समग्र एवं परिपूर्ण पालन तथा त्याग संभव नहीं है, परन्तु अनारंभ, अनाकांक्षा, अनाग्रह का अपरिग्रह बोध एवं दिशा–निर्देश विवेकमय अनुशासन के साथ प्रतिष्ठापित किया जाना आज के युग की मांग है।

कहने को हम जी रहे हैं, परन्तु भूत के दुराग्रहों एवं भविष्य की चिंता की मायावी शूर्पणखा के बन्धन में बंधे हुए हैं। वह राक्षसी शत–प्रतिशत कुरूपा है। आज हमारे समाज एवं विश्व के मानव की यही स्थिति है। जैन दर्शन का यह अमृत–रूपी संदेश और अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की संगोष्ठी में निर्धारित 'वैश्वीकरण की नैतिकता' पर चिंतन से हम वर्तमान को सुखी, अहिंसक और अपरिग्रही बना सकते हैं। यह संजीवनी की खोज है। उपभोगवाद का अनुशासन, पर्यावरण, प्रकृति के साथ सामंजस्य और प्रवृत्ति–निवृत्तियों के साथ सहकारिता की आचार–संहिता ही हमें आतंकवाद एवं अशांति से उबारने में समर्थ है।

यदि मानवता को संकट से बचाना है और अपनी सभ्यता और संस्कृति को संवारना है तो अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्त को अपने व्यवहार एवं जीवन में उतारना होगा। इसके बाद ही वैश्वीकरण की नैतिकता साकार हो सकेगी, अन्यथा नैतिकता को खारिज करना होगा। वैश्वीकरण–उपभोक्तावाद, पर्यावरण–प्रदूषण आदि से निबटने के लिए एक नैतिक दृष्टि के निर्धारण की आवश्यकता है।

वर्तमान वैश्वीकरण की होड़ में विकास की उदारीकरण नीति के चलते तकनीकी विकास की चकाचौंध सिर्फ एक छलावा है, जिसमें चन्द लोगों का विकास और अधिकांश लोगों का विनाश निश्चित है, क्योंकि बहुराष्ट्रीय उपक्रम उस

'आक्टोपस' की तरह हैं जो मनुष्य को पकड़ कर उसका खून चूसने का काम करता है। ये कम्पनियां हमारे देश में फैलकर व्यक्ति, समाज एवं गांव का शोषण करने का जाल बुन रही हैं। इनसे बेराजगारी एवं पर्यावरणगत समस्याओं के साथ–साथ सांस्कृतिक प्रदूषण का भी घोर खतरा उत्पन्न हो रहा है। इसका जीता–जागता उदाहरण 3 दिसम्बर 1984 को भोपाल में जहरीली गैस का वह रिसाव है जिसने बहुत से लोगों को अंधा एवं पंगु बना दिया था। भविष्य को ध्यान में रख गांधी जी ने 'हिन्द स्वराज' में यांत्रिक व्यावसायिक सभ्यता का विरोध किया था। वे जानते थे कि पूंजी से लैस कम्पनियों के आगमन से देश के सांस्कृतिक अस्तित्व पर खतरा उत्पन्न होगा।

अतः भूमण्डलीकरण अथवा वैश्वीकरण की अवधारणा मानव को केवल उपभोक्तावादी बनाकर स्वार्थवाद के घोर दल–दल में ढकेलने का काम करने जा रही है, जिससे भविष्य में स्वयं मानव का अस्तित्व भी असुरक्षित एवं अरक्षित हो जायेगा। यह एक विचारणीय प्रश्न है। शायद इसी प्रश्न को ध्यान में रखकर वर्तमान अधिवेशन में वैश्वीकरण के नीतिशास्त्र को विमर्श का विषय बनाया गया है। हम सभी जानते हैं कि वैश्वीकरण का सम्बन्ध मूल रूप से अर्थशास्त्र से जुड़ा हुआ है, जबकि नैतिकता की बातें नीतिशास्त्र अथवा दर्शनशास्त्र में होती हैं जो मूल रूप से तत्त्वमीमांसीय प्रश्न को जन्म देती हैं। अतः जनहितकारी अर्थशास्त्र पर विचार करने की आवश्यकता है। अमर्त्य सेन इस दिशा में सोचने वाले अग्रणी विचारक हैं।

वैश्वीकरण के पिरामिडी विकास के ढांचे में विद्यमान द्वन्द्व और असभ्यता को समझना जरूरी है। इसमें निहित विषमता को पहचानना और उसके बाद एक ऐसी विकास–नीति को स्थापित करना जिसमें समता निहित हो सम्पूर्ण मानव जाति का कर्त्तव्य बनता है। यह तभी संभव होगा जब इस नई विकास–नीति में 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त का समावेश किया जाए।

आज देश में भयानक आर्थिक भ्रष्टाचार ही व्याप्त नहीं है, अपराध और दुराचार के सभी भद्दे रूप उस सीमा तक पहुंच चुके हैं जिसके बाद दुर्दान्त अराजकता का क्षेत्र आरंभ हो जाता है। लोग उचित–अनुचित के विवेक और आस्था को खो चुके हैं। आतंकवाद, अपराध, हिंसा और उत्पात समाज में व्याप्त है। ऐसी स्थिति में मानव को आध्यात्मिक पहलू का बोध कराना दर्शन की नैतिक जवाबदेही है। उसके आध्यात्मिक बोध से ही एकता का बोध होगा जिससे सारे भेद–भाव की समाप्ति और एकात्म भाव की स्थापना होगी।

हमारा देश भगवान बुद्ध, महावीर, गांधी जैसे महान् त्यागियों का रहा है। इस हेतु भारत के नव–निर्माण में गांधी जी द्वारा प्रतिपादित जनकल्याणकारी मार्ग को अपना कर ही देश को एक नई राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक दिशा देनी

होगी, जो विदेशी सहायता पर ही निर्भर न रहकर मुख्यतः अपने देश में ही उपलब्ध संसाधनों का अवलम्बन कर अपनी स्वाधीनता एवं स्वाभिमान की रक्षा करने में सक्षम हो सके। इस दिशा की ओर बढ़ने के लिए हर स्तर पर पद के अनुरूप त्याग की भावना सर्वोपरि मानी जायेगी। तभी हम एक गौरवशाली भविष्य का सपना साकार कर सकेंगे, अन्यथा आज जो सत्ता और विलास में लिप्त हैं वे उस दावानल से सबसे पहले भस्म होंगे। *कामायनी* का मनु सुखमूलक दुःखों से जिस तरह चिंतित है उसी तरह इक्कीसवीं सदी के मानव भी विकल हैं। 'प्रसाद' का काव्यनायक 'सुख केवल सुख का वह संग्रह' में निहित प्रलय की समझ रखता है। क्या हम इस 'चिंता' से असंपृक्त रहकर अपनी देवसृष्टि को बचा पाएंगे ?

मैं सभागार में उपस्थित सभी दार्शनिकों, चिंतकों एवं बुद्धिजीवियों का आह्वान करती हूं कि *'गीता'* के कर्मयोग, भगवान बुद्ध के 'करुणा' तथा महावीर की अहिंसा एवं तितिक्षा के संप्रसारण का बौद्धिक वातावरण सुनिर्मित करें ताकि वैश्वीकरण की अमानवीयता उदात्त नैतिकता की पारसमणि के संपर्क में अपने लौहत्व को छोड़कर स्वर्णिम हो जाए।

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग,
समता कॉलेज, जन्दाहा (वैशाली), बिहार

न्यायवैशेषिकपरम्परा और देहात्मवाद

डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र

अपने मूलगामी स्वरूप में न्यायवैशेषिक परम्परा आत्मवादी, नित्यतावादी व शाश्वतवादी रही है। इसको देहात्मवादी मार्ग पर ले जाने की न तो कोई कोशिश बीसवीं शताब्दी के पूर्व किसी न्याय–वैशेषिक परम्परा के आचार्य ने की और न ही न्याय–वैशेषिक परम्परा को आत्मवादी, नित्यवादी व शाश्वतवादी परम्परा से अलग किया जा सकता है। विगत कुछ वर्षों के दौरान कुछेक आचार्यों ने, प्रमुखतया आचार्य बदरीनाथ शुक्ल एवं प्रो. विश्वम्भर पाहि ने, न्यायवैशेषिक परम्परा में देहात्मवाद के लिए स्थान बनाने का अच्छा प्रयास किया। दोनों ही कुछ मौलिक प्रतिष्ठापनाएं लेकर आये हैं, तथा दोनों ही न्यायवैशेषिक परम्परा में देहात्मवाद को स्थान देने के लिए कटिबद्ध हैं। दोनों ही न्यायवैशेषिक परम्परा के मान्य सिद्धान्तों के साथ संगति बनाते हुए देहात्मवाद के लिए स्थान बनाते हैं। बदरीनाथ शुक्ल अपने देहात्मवादविषयक विवेचन में कृतप्रणाश, अकृताभ्यागम आदि की भी व्याख्या करते हुए, इनके साथ भी देहात्मवाद को संगत रखते हुए, साथ ही साथ पुनर्जन्म, मोक्ष आदि की व्यवस्था को भी संगत रखते हुए देहात्मवाद का उपपादन करते हैं। इसके विपरीत प्रो. पाहि के अनुसार न्यायवैशेषिक परम्परा के प्रसंग में विचार करने पर न तो कृतप्रणाश को और न ही अकृताभ्यागम को नियम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रो. पाहि के अनुसार न्यायवैशेषिक परम्परा में न तो पुनर्जन्म की कोई जगह शेष है और न ही मोक्ष के लिए कोई स्थान बचता है। इस कारण प्रो. पाहि का देहात्मवाद कुछ ज्यादा ही चार्वाकसम्प्रदायीय लगता है। इसके विपरीत बदरीनाथ शुक्ल का देहात्मवाद अपने स्वरूप में मूलगामी रूप में न तो उतना विध्वंसक है और न ही उस प्रकार से परम्परागत रूप से स्वीकृत सिद्धान्तों का ही प्रबल विरोध करता है। प्रस्तुत आलेख में मैं यह कोशिश कर रहा हूं कि क्या शुक्ल व पाहि द्वारा प्रस्तुत देहात्मवाद तर्क की कसौटी पर खरा उतरता है? अगर इनमें से कोई भी मत तर्कसंगत है, तो उसको न्यायवैशेषिक परम्परा की स्वाभाविक विकासगति के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि न्यायवैशेषिक परम्परा सबसे ज्यादा भरोसा अगर किसी पर करती है तो वह तर्क पर ही।

आचार्य शुक्ल अपने 'न्यायशास्त्री विचार पद्धत्या देहात्मवादस्य सम्भावना' शीर्षक आलेख में देहात्मवाद के साधन के लिए जो प्रतिज्ञा करते हैं, वह है– 'आत्मा नातिरिक्तं द्रव्यं देहमनोभ्यामेव तत्साधनीयस्य निखिलंप्रयोजनस्य निर्वर्तयितुं शक्यत्वात्' आत्मा अतिरिक्त द्रव्य नहीं है क्योंकि अतिरिक्त आत्मा के द्वारा साधनीय जो भी प्रयोजन हैं वे देह व मन के द्वारा ही सम्पादित किये जा सकते हैं। इस प्रतिज्ञा के द्वारा अपने तर्कों को प्रस्तुत करते हुए आचार्य शुक्ल बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष व प्रयत्न को विशेषगुण न मानकर इनको सामान्यगुण मानने का पक्ष उपस्थापित करते हैं। परम्परागत न्यायवैशेषिक परम्परा में ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार को आत्मा के विशेषगुण स्वीकार किये गये हैं। इनमें से ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का धर्म मान लेना चाहिए, व इन्हें देह का सामान्य गुण मानना चाहिए न कि विशेषगुण। इन्हें देह का विशेषगुण मानने में समस्या यह आयेगी कि पृथ्वी, जल, तेज या वायु के जो भी विशेषगुण स्वीकार किये जाते हैं, उन सभी विशेषगुणों में यह एक सामान्य विशेषता है कि वे सभी या तो यावद्द्रव्यभावी होते हैं या तो पाकज होते हैं या इस प्रकार से कहें कि वे सभी क्षणिक नहीं होते हैं, किन्तु ज्ञान क्षणिक होता है। ज्ञान की क्षणिकता को स्वीकार करना आवश्यक है, अन्यथा क्रमशः उत्पद्यमान अनुभवों की व्याख्या कर पाना सम्भव नहीं हो सकेगा। इनके कार्यकारणभाव की भी व्याख्या करनी मुश्किल हो जायेगी। न केवल ज्ञान बल्कि सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष व प्रयत्न इन पांचों की ही स्थिति एक समान है। इस समस्या से बचने के लिए चातुर्यपूर्वक आचार्य शुक्ल ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का सामान्यगुण मानने का पक्ष रखते हैं। इसी कारण विशेषगुण की परिभाषा को अपने हिसाब से उपस्थापित व परिष्कृत करते हैं। आचार्य शुक्ल धर्म, अधर्म और संस्कार को मन के विशेषगुण के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं। ज्ञानादि देह के विशेषगुण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि विशेषगुण का लक्षण उनमें नहीं जाता है। परन्तु वे देह के सामान्यगुण हैं। हमारा कहना यह है कि ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का सामान्यगुण माना जाये या विशेषगुण, यह प्रश्न तो प्राथमिकता के क्रम में अनन्तरभावी है। प्रथम प्रश्न तो यह है कि क्या ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का गुण मानना सम्भव है। अगर ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का गुण मानना सम्भव हो, तब यह प्रश्न उठाया और विचारित किया जा सकता है कि इनको क्या सामान्यगुण माना जाये या विशेषगुण।

न्यायवैशेषिक परम्परा में ज्ञानादि को देह का गुण मानने में अनेक दोष प्रदर्शित किये गये हैं। देखना चाहिए कि क्या आचार्य शुक्ल उन आपत्तियों का निराकरण करने में समक्ष हैं। निम्न आपत्तियां देहात्मवाद पर उठायी जाती हैं।

1. अगर शरीर ज्ञानादि का आश्रय होता तो मृत शरीर को भी चैतन्य होना चाहिए था क्योंकि मृतशरीर शरीर नहीं है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता है। मृतशरीर में व्यभिचार होने के कारण शरीर को ज्ञानादि का आधार नहीं माना जा सकता है।[1]

2. शरीर को ज्ञानादि का आश्रय मानने पर बाल्यकाल में जो विलोकित हैं, वार्धक्यकाल में उनके स्मरण की अनुपपत्ति होगी।[2]

3. सद्यः समुत्पन्न बालक की स्तनपान में जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रवृत्ति के लिए आवश्यक इष्टसाधनताज्ञान न रहने के कारण नहीं हो सकेगी। शरीरातिरिक्त आत्मा को चैतन्य मानने पर पूर्वजन्म के आधार पर इष्टसाधनताज्ञान सम्भव है।[3]

4. ज्ञानादि को देह का गुण मानने पर कृतहान व अकृताभ्यागम की आपत्ति आयेगी क्योंकि जिस शरीर के द्वारा पाप या पुण्य किये गये हैं, उसके द्वारा उस पाप या पुण्य का फल नहीं भोगा जाता है।[4]

क्या इन दोषों का निवारण आचार्य शुक्ल कर सके हैं? आपाततः तो ऐसा लगता है। प्रथम दोष का निवारण करने के लिए वे कहते हैं कि मन में धर्म व अदृष्ट रहते हैं, परन्तु मरण के काल में शरीर के साथ मन के सम्बन्ध का विनाश हो जाता है, इस कारण शरीर के मृत होने के काल में शरीर का चैतन्य अनुभव में नहीं आता है। शरीरातिरिक्त आत्मा मानने के पक्ष में भी इस आपत्ति का समाधान यही दिया जाता है, तो इस आपत्ति का समाधान समुचित ही है।

द्वितीय आपत्ति का समाधान यह देते हैं कि अनुभवात्मक ज्ञान शरीर में उत्पन्न होता है, परन्तु उस ज्ञान से जन्य संस्कार मन में उत्पन्न होता है। उस मन में रहने वाले संस्कार की महिमा से बाल्यकाल में जो भी अनुभूत रहा है उसका वार्धक्यावस्था में स्मरण सम्भव है। हालांकि जिसको अनुभव उसी को संस्कार व उसी को स्मरण होना चाहिए, इस कारण यह समाधान पूर्ण रूप से तो नहीं, फिर भी सन्तोषजनक माना जा सकता है।

तृतीय आपत्ति का समाधान देने के लिए आचार्य शुक्ल कहते हैं कि देहात्मवाद में अनुभव का संस्कार के प्रति व संस्कार का स्मरण के प्रति स्वाश्रयविजातीयसंयोगसम्बन्ध से कारणत्व है, पूर्वजन्म के शरीर का सहयोगी जो मन है, उस मन का पूर्वजन्म के शरीर से जन्य अदृष्ट के कारण उत्पन्न नितान्त बालशरीर में भी प्रवेश हो जाता है। इस कारण पूर्वजन्मानुभूत अर्थ का स्मरण होकर इष्टसाधनता का ज्ञान सम्भव है। इस कारण जातमात्र बालक की स्तनपान में प्रवृत्ति की व्याख्या करने में कोई असुविधा नहीं है। यह समाधान आपाततः समुचित तो लगता है, परन्तु यहां पर यह विचार करना चाहिए कि पूर्वजन्म के शरीर के अदृष्ट के कारण नितान्त बाल शरीर में मन का प्रवेश किस प्रकार से सम्भव है? क्योंकि

मन तो इन्द्रिय के रूप में ही न्यायवैशेषिक परम्परा में स्वीकार किया गया है। आचार्य शुक्ल ने भी मन को करणमात्र माना है। वे स्वयं ही कहते हैं– 'मनसश्च तदुपकरणमात्रत्वं नात्मत्वमिति'। इस प्रकार का वक्तव्य देते हुए आचार्य शुक्ल भूल जाते हैं कि करण की प्रवृत्ति चेतन से अधिष्ठित हुए बिना नहीं सम्भव है। कोई नित्य अधिष्ठाता तो आपको स्वीकार्य है नहीं, जो इस मन का अधिष्ठाता हो सकता है और जो आपके द्वारा अधिष्ठाता के रूप में स्वीकार भी किया जाता है। शरीर, वह तो पूर्व का ही नष्ट है, नवीन अभी उत्पन्न नहीं हैं तो किस प्रकार से मन का नवीन शरीर में प्रवेश हो सकेगा? अगर ईश्वर के द्वारा मन का अधिष्ठान स्वीकार करने का पक्ष रखें, तब तो शरीर को कर्ता मान पाना सम्भव न होगा। फिर तो ईश्वर ही कर्ता होगा। इस कारण इस दोष के चंगुल से आचार्य शुक्लजी के द्वारा प्रवर्तित नवदेहात्मवाद बच सकेगा, ऐसा लगता नहीं। यह दोष तो दुर्निवार है।

चतुर्थ आपत्ति का समाधान देने का प्रयास करते हुए आचार्य शुक्ल विचित्र मार्ग का अन्वेषण करते हुए कहते हैं कि 'वर्तमान शरीर के द्वारा किये गये जिन कर्मों का फल अभी तक भोगा नहीं गया है, उन कर्मों के द्वारा उत्पन्न धर्म व अधर्म रूपी अदृष्ट का आश्रय जो मन है, वही मन उन कर्मों का अधिष्ठाता भी है, उस मन का पूर्वजन्मकृत कर्मों से जन्य अदृष्ट के द्वारा उत्पादित शरीर में प्रवेश हो जाता है, तथा उस शरीर में उन कर्मों का फलभोग भी सम्भव होता है, इस कारण उन कर्मों की सार्थकता भी सम्भव है। सर्वथा नूतन शरीर में भी पूर्वदेह के द्वारा कृत कर्मों का ही फल प्राप्त होता है, इस कारण अकृताभ्यागम भी नहीं है। देहात्मवाद में यह नियम नहीं मानना है कि जिसने जो कर्म किया है, उस कर्म का फल उस को ही प्राप्त होता है, क्योंकि इस प्रकार के कृतप्रणाश व अकृताभ्यागम का स्वीकार देहातिरिक्तात्मवाद के चिरकाल से आरूढ़ वासनामूलक होने के कारण त्याज्य है। उसके स्थान पर यह नियम मानना ही उचित है कि जिस मन के द्वारा अधिष्ठित शरीर के द्वारा कर्म किया गया है, उसका फल उसी मन के द्वारा अधिष्ठित शरीर से भोगा जाता है।'[5] यहां आचार्य शुक्ल का आशय यह है कि सर्वथा नवीन देह में भी पूर्वकृत कर्मों का ही उपभोग होने के कारण न तो कृतहानि है और न ही अकृताभ्यागम। इस समाधान के औचित्य पर विचार करना चाहिए। क्या इस प्रकार से कृतहानि व अकृताभ्यागम के अभाव का उपपादन युक्तिसंगत है? कृतहानि व अकृताभ्यागम को दोष के रूप में इसी कारण प्रदर्शित किया जाता है कि दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में एक न्यायव्यवस्था स्वीकारी जाती है– जिसने अच्छा कार्य किया है उसको उसका पुरस्कार व जिसने गलत कार्य किया है उसको उसके कर्म का दण्ड प्राप्त हो। उपर्युक्त रीति से कृतहानि व अकृताभ्यागम के अभाव की व्यवस्था मानने पर तो न्यायव्यवस्था के रूप में उक्त दार्शनिक सिद्धान्त का महत्त्व नहीं ही

रहेगा। इस नवदेहात्मवाद में कृतहानि व अकृताभ्यागम का वारण कर पाना वस्तुतः सम्भव नहीं दिखायी देता है। एक साम्य दृष्टान्त के द्वारा उपर्युक्त रीति से किये जा रहे आपत्तिवारण का औचित्य व अनौचित्य सुस्पष्ट हो जायेगा। मन कर्ता नहीं है, उपकरण है। उसके साहाय्य से उक्त आपत्ति का वारण कुछ ऐसा ही है जैसे कि चाहे जिसने भी तलवार चलायी हो, उस तलवार के द्वारा चाहे जिसने भी हत्या की हो, परन्तु दण्डित वह होगा जिसके पास तलवार पायी जायेगी। क्या इस प्रकार से कृतहानि व अकृताभ्यागम के अभाव का उपपादन लोकव्यवस्था में स्वीकार किया जा सकता है? शास्त्रीय सिद्धान्त लौकिक अभ्युपगमों पर आधारित होते हैं, इसी कारण न्यायसूत्रकार गोतम ने सोलह तत्त्वों में द्रष्टान्त को भी अन्तर्भूत किया है। द्रष्टान्त उसी को कहा जाता है जिसमें लौकिकों व परीक्षकों का बुद्धियसाम्य हो।[6] मन भी उपकरण है, तथा इस कारण तलवारस्थानीय ही है। उसके सहभाव या असहभाव से कृतहानि व अकृताभ्यागम के अभाव का उपपादन भली प्रकार से हो सकेगा, यह मानना लौकिक अभ्युपगमों के विरुद्ध है।

दूसरी बात कुछ ज्यादा ही विचित्र इस मत में यह है कि क्या अचेतन को अधिष्ठाता माना जा सकता है। अधिष्ठाता को तो चेतन ही होना चाहिए। लोक में कुल्हाड़ी आदि को कर्ता के अधिष्ठान की आवश्यकता होती है, कर्ता को कारण में अधिष्ठित होने की आवश्यकता नहीं होती है। आचार्य शुक्लजी मन को अचेतन उपकरण भी मान रहे हैं और दूसरी तरफ उसे शरीर का अधिष्ठाता भी बनाना चाह रहे हैं। अधिष्ठाता तो कर्ता ही हो सकता है, अचेतन व करण नहीं। इस कारण यह नवीन व विचित्र, लौकिक द्रष्टान्तों से विरुद्ध मार्ग के अन्वेषण का प्रयास है। यदि इस प्रकार के देहात्मवाद के साथ ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार करना अभीष्ट हो तब तो ईश्वर में वैषम्य, नैर्घृण्य आदि दोषों की भी आपत्ति आयेगी।

इस कारण अगर ज्ञानादि को शरीर का धर्म मान पाना ही सम्भव नहीं है, तो क्या आवश्यकता है उसके सामान्यगुण या विशेषगुण होने की चर्चा की। इस कारण आचार्य शुक्ल के द्वारा ज्ञानादि शरीर का सामान्यगुण स्वीकार करने के लिए जो विस्तृत वाद–विवाद प्रस्तुत किया गया है, वह निरर्थक है। देहात्मवाद को स्वीकार करने में अनेक लाघवों का भी उपस्थापन आचार्य शुक्लजी के द्वारा किया गया है, परन्तु जो लाघव लौकिक अभ्युपगमों व श्रुतिसिद्धान्तों का विरोधी हो उस लाघव को तर्क के रूप में प्रस्तुत करना असंगत व अनुचित है। इस कारण आचार्य शुक्ल द्वारा समुपस्थापित देहात्मवाद के लिए न्यायवैशेषिक परम्परा की चिन्तनपद्धति में वस्तुतः कोई उचित स्थान नहीं दिखायी देता है। यह निश्चित तौर पर बिना अनेक विरोधाभासों को बुलावा दिये स्वीकृत नहीं हो सकता है।

प्रो. विश्वम्भर पाहि भी एक प्रकार से देहात्मवाद को ही अपने ग्रन्थ *'वैशेषिकपदार्थ व्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श'* में न्यायवैशेषिक परम्परा के सिद्धान्तों के साथ संगत मानते हैं। परन्तु प्रो. पाहि की दृष्टि भिन्न है। आचार्य शुक्ल की तरह प्रो. पाहि कृतहानि व अकृताभ्यागम को स्वीकार करने के लिए उत्सुक नहीं दिखायी देते हैं। वे कृतहानि व अकृताभ्यागम को किसी भी तरह से प्रमाणों के आधार पर निगमित नहीं मानते हैं। इस कारण जिस प्रकार आचार्य शुक्ल कृतहानि व अकृताभ्यागम के साथ देहात्मवाद को संगत बनाने की कोशिश करते हैं, वैसा कोई भी प्रयास प्रो. पाहि के द्वारा नहीं किया गया हैं। यहां तक कि वस्तुतः कृतहानि व अकृताभ्यागम को देखकर ही न्यायवैशेषिक् परम्परा में स्वीकृत नित्यात्मवाद को प्रो. पाहि अस्वीकार कर देते हैं। खुद उनके ही शब्दों में– 'आत्मा की नित्यत्वसिद्धि के लिए उपलब्ध युक्तियां मूलरूप में जगत् की कृतप्रणाश एवं अकृताभ्यागम–शून्यता पर आश्रित हैं। कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृताभयागमशून्यता की तथ्यपरकता अस्वीकृत होकर केवल उनकी आदर्शस्वरूपता अस्वीकृत होने पर पुरुष का नित्यत्व असिद्ध रह जाता है।'[7] इस प्रकार से आत्मा को नित्य न मानकर उसे सन्तानस्वरूप मानने का पक्ष प्रो. पाहि रखते हैं। हालांकि प्रो. पाहि वैशेषिकपरम्परा के मान्यसिद्धान्तों को सामान्यतया अस्वीकार नहीं करते हैं, जैसे कि– धर्मधर्मिभेद, प्रतीतिभेद की विषयभेदजन्यता, असत्कार्यवाद या आरम्भवाद, यथोपलब्धिव्यवस्था इत्यादि। मूलरूप में प्रो. पाहि की आपत्ति यही है कि जिस प्रकार से न्यायवैशेषिक परम्परा में लौकिक अबाधित प्रतीति का उल्लंघन नहीं किया जाता है, उसके परिप्रेक्ष्य में वे आत्मा की सन्तानरूपता के बारे में ही अपना सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत करते हैं। यह पूछा जा सकता है कि क्या आप बौद्धदार्शनिकों की तरह संघातवादी हैं? तो इसके उत्तर में प्रो. पाहि का कथन है कि नहीं। न्यायवैशेषिक परम्परा के मूलभूत प्रमाणमीमांसीय व तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में संघातवाद न्यायवैशेषिक परम्परा का सिद्धान्त नहीं हो सकता है। इसी कारण प्रो. पाहि आत्मा के अक्षणिकत्व व ज्ञानादि का आश्रयत्व स्वीकार करते हैं। आत्मा को शरीरादिसंघात से अतिरिक्त भी मानते हैं, परन्तु नित्य आत्मा को स्वीकार नहीं करते हैं। स्वयं उनके शब्दों में– 'प्रतिसन्धान के आधार पर पुरुष का एकत्व, अक्षणिकत्व एवं ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न एवं सुखदुःखादि का आश्रयत्व प्रमाणसिद्ध है। प्रतिसन्धान एवं कारकसिद्धान्तमूलक अनुमानों से पुरुष का शरीर, इन्द्रिय एवं मन से भेद सिद्ध होने पर भी निरन्तर परिवर्तनशील विभिन्न जैविक तंत्रों के व्यबहवद्ध अवयवी सन्तान से पुरुष भिन्न है, यह सिद्ध नहीं हो पाता है।'[8] इस प्रकार यह तो सामान्यतया ही सिद्ध हो जाता है कि जिन तर्कों का प्रस्तुतीकरण मैंने आचार्य शुक्ल के देहात्मवाद का खण्डन करने के लिए किया है, उनमें अनेक की वैधता स्वयं प्रो. पाहि को स्वीकार्य है। इसके

बावजूद देहातिरिक्त आत्मा प्रो. पाहि को स्वीकार नहीं है। जातमात्र बालक की स्तनपान के लिए होने वाली प्रवृत्ति को प्रो. पाहि जैविकीय नियमों के आधार पर व्याख्यायित करते हैं।[9]

प्रो. पाहि के देहात्मवाद की समस्या कुछ यह है कि वे न्यायवैशेषिक परम्परा के आचार्यों के द्वारा प्रस्तुत तर्कों को स्वीकार तो कर रहे हैं, परन्तु उनकी गहराई तक नहीं जा पा रहे हैं। प्रतिसन्धान व स्मरण भी एक प्रकार से कृतप्रणाशशून्यता व अकृताभ्यागमशून्यता के ही प्रकारान्तर हैं। जिसने अनुभव किया है, वही स्मरण करता है, अन्य नहीं। इस कारण प्रो. पाहि की यह मान्यता कि कृतप्रणाशशून्यता व अकृताभ्यागमशून्यता लौकिकदृष्टान्तों के सात संगत नहीं हैं, उचित नहीं है। आत्मा को सन्तानस्वरूप में स्वीकार करना ही प्रत्यभिज्ञान व स्मृति की व्याख्या के लिए पर्याप्त होगा, यह प्रो. पाहि का अभ्युपगम है। परन्तु विचार करने योग्य तथ्य यह है कि क्या इस प्रकार का मत बौद्धपरम्परा में स्वीकृत आत्मसिद्धान्त का अनुवाद नहीं होगा? बौद्धपरम्परा में भी आत्मा को संघातात्मक व क्षणिक माना गया है। इसके अनात्मवाद से अपना अन्तर प्रो. पाहि यह बताते हैं कि बौद्धपरम्परा में सन्तानियों से अतिरिक्त सन्तान को स्वीकार नहीं किया जाता है और वे सन्तान को अतिरिक्त स्वीकार करते हैं। सोचना यह चाहिए कि क्या इस प्रकार से सन्तानियों से अतिरिक्त सन्तान को स्वीकार किया जा सकता है? क्या सन्तानियों से अतिरिक्त सन्तान प्रत्यक्षसिद्ध है? वस्तुतः सन्तान का प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं है। घट, पटादि में अवयवों से अतिरिक्त अवयवी का स्वीकार तो सम्भव है क्योंकि घटादि को क्षणिक नहीं माना जाता है। शरीर की तो क्षणिकता खुद न्यायवैशेषिक परम्परा में स्वीकार की जाती है क्योंकि हमारा प्रतिसन्धान ही बाल्यकालीन शरीर व वृद्धावस्था के शरीर का भेद सिद्ध कर देता है। परन्तु यह क्षणिकता वैसी क्षणिकता नहीं है, जैसी क्षणिकता बौद्धपरम्परा में स्वीकृत है। न्यायवैशेषिक परम्परा में क्षणिकता का आशय प्रथम क्षण में उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में स्थिति व तृतीय क्षण में विनाश से है। बौद्धपरम्परा उत्पत्ति व विनाश के क्षण में कोई अन्तर नहीं करती है। स्थिति का क्षण तो स्वीकार्य ही नहीं है। इस कारण शरीर की स्थिरता व अक्षणिकता ठीक उसी प्रकार की नहीं है, जैसी घट, पटादि की स्थिरता व अक्षणिकता। प्रो. पाहि दोनों को असावधानतया एक समान आधार पर व्यवस्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं। घट, पटादि में उस प्रकार से भेदाभेद की बात नहीं है, जैसी कि शरीरादि में। शरीरादि में विरुद्धधर्मसंसर्ग भासित होता है, वह शरीर–भेद को स्वीकार किये बिना संभव नहीं है। सार रूप में सन्तान को केवल क्रमशः स्वल्प समय के भेद से भिन्न काल में जायमान सन्तानियों के समूह से ज्यादा कुछ मानना उचित नहीं दिखता है। इस रीति से सन्तानियों से अतिरिक्त सन्तान की सत्ता स्वीकार करने से तात्त्विक रूप से कोई अन्तर नहीं आता है, यह केवल शाब्दिक अन्तर होकर रह जाता है।

जैसा कि बौद्धपरम्परा में स्वीकृत है, परन्तु प्रो. पाहि उससे भिन्न आत्मतत्त्व को स्वीकार करना चाहिए इस न्यायमत से सहमत हैं। सचमुच में अगर सन्तानियों से भिन्न किसी आत्मा या धर्मी को स्वीकार करना है तो उसको निश्चय ही शरीर, इन्द्रियादि सन्तानियों से अतिरिक्त होना चाहिए, जैसा कि वाचस्पति मिश्र दावा करते हैं।[10] इसको तात्त्विक रूप से स्वीकार करते हुए भी प्रो. पाहि प्रवाह को ही अवयवी के रूप में स्वीकार करने की बात करते हैं। स्वयं उनके शब्दों में– 'निरन्तर परिवर्तनशील प्राणवान् शरीररूपी अवयविसन्तान स्वयं एक अवयवी नहीं है अपितु प्रवाहस्वरूप सन्तान ही है'[11] या तो अवयविसन्तान से अतिरिक्त प्रवाहरूपी अवयवी को न मानें अथवा अवयविसन्तान से अतिरिक्त प्रवाहरूपी अवयवी से भिन्न आत्मा को स्वीकार करें। ऐसी स्थिति में प्रो. पाहि का मत स्वयं अपने विरोधाभासों से ही खण्डित हो जाता है। ज्ञानभेद को विषयभेद पर आधारित होना चाहिए, इस प्रमाणमीमांसीय अभ्युपगम के आलोक में शरीरातिरिक्त आत्मा की स्वीकृति अपरिहार्य सी ही दिखायी देती है। शरीराद्यतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करने पर शरीरादि को लेकर होने वाले आत्मविषयक गौरादि प्रत्ययों को भ्रम स्वीकार करना होगा, जो कि लोकप्रतीति का समादर करती चलती है, उसका निरादर नहीं करती है। इस कारण भी प्रो. पाहि शरीरादि से भिन्न किसी नित्य आत्मा को स्वीकृति देने के पक्ष में नहीं हैं। इस पर भी मेरा विनम्र निवेदन है कि परम्परा से लोग शब्दों का प्रयोग अभिधा व लक्षणा के आधार पर करते हैं। बहुत बार तो मुख्यार्थक प्रयोग ही उपलब्ध नहीं होता है, जिसको कि निरूढ़लक्षणा के द्वारा जाना जाता है। कुछ उसी प्रकार 'मैं' शब्द का भी उभयथा प्रयोग होता है, शरीर के लिए भी व शरीर से परे किसी बाह्यप्रत्यक्षाविषय वस्तु के लिए भी। 'मैं गौर हूं, स्थूल हूं' इत्यादि प्रयोग शरीर को आधार बनाकर व 'मैं ज्ञानवान हूं, इच्छावान हूं' इत्यादि प्रयोग शरीर से परे किसी बाह्यप्रत्यक्षाविषय वस्तु को आधार बनाकर होते हैं। सामान्य लोकप्रतीति हमेशा व्यवस्थापक की भूमिका नहीं निभा सकती है। सूर्यादि के छोटे होने की अबाधित प्रतीति भी सूर्यादि के छोटे होने का व्यवस्थापन नहीं करती है। इसी कारण शरीरादि से अतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करने का पक्ष रखा जा रहा है, जिसे कि प्रवाहरूप में स्वीकारने का पक्ष मानने में प्रो. पाहि की भी स्वीकृति है।

वस्तुतः न्यायपरम्परा के विरोध में बौद्धपरम्परा खड़ी रही है। इस कारण प्रायः तत्त्वमीमांसीय व ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त उनके द्वारा उपस्थापित आक्षेपों के प्रतिपक्ष में व्यवस्थापित व साधित किये गये हैं। इसी कारण ज्ञान, शब्द व शरीर की क्षणिकता को स्वीकार करते हुए भी नैयायिक उस क्षणिकता को बौद्धपरम्परा द्वारा स्वीकृत क्षणिकता के सिद्धान्त से पर्याप्त भिन्न प्रकार की स्वीकार करते हैं। बौद्धपरम्परा द्वारा स्वीकृत क्षणिकता के आलोक में प्रत्यभिज्ञान व स्मरण की व्याख्या कर पाना ही संभव नहीं दिखता है। अगर हर वस्तु उत्पाद–विनाशशील है, उत्पत्ति

व विनाश के अतिरिक्त स्थिति का कोई क्षण अगर नहीं है, तो आखिर किस प्रकार संस्कार के प्रभाव से प्रत्यभिज्ञान व स्मरण की व्याख्या सम्भव हो सकेगी? यही वह विचारणीय बिन्दु है, जहां से आत्मविषयक चिन्तन नैयायिक प्रारम्भ करते हैं। समस्या इतनी सतही नहीं है, अपितु ज्ञानादि विशेषगुण, जो कि आकस्मिक हैं,[12] किस प्रकार उनके द्वारा क्षणिक संघातरूप आत्मा पर संस्कार पड़ सकेगा? प्रो. पाहि को भी प्रवाह को आत्मा मानने पर उसे संघातरूप व क्षणिक ही अनिवार्यतया मानना होगा। फिर प्रत्यभिज्ञान व स्मरण की व्याख्या कर पाना सम्भव न हो सकेगा। यही कारण है कि न्यायवैशेषिक परम्परा शरीरादि से अतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करती है।

रीडर, दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

संदर्भ

1. *शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः। कारिकावली–48.*
2. *शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्थविरे स्मरणानुपपत्तेः, शरीराणामवयवोपचयापचयैरुत्पादविनाशशालित्वात्। पृ. 210, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*
3. *एवं शरीरस्य चैतन्ये बालकस्य स्तन्यपाने प्रवृत्तिर्न स्यात्, इष्टसाधनताज्ञानस्य तद्धेतुत्वात्, तदानीमिष्टसाधनत्वानुभावकाभावात्। वही*
4. *तदेवं सत्त्वभेदे कृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्यते। न्यायसूत्रभाष्य 3–1–4*
5. *वर्तमानशरीरेण कृतानामभुक्तफलानां कर्मणां धर्माधर्मव्यापारभाजनस्य तदधिष्ठातृमनसो नूतने तदर्जितादृष्टजनिते देहे प्रवेशेन तत्र तत्कर्मणा फलभोगसम्भवने तेषां सार्थक्यात्। सर्वथा नूतने देहऽपि पूर्वकृतकर्मणामेव फलोदयेनाकृताभ्यागमस्याभावाच्च। देहात्मवादे नायं नियमो यद् यो यत्कर्म करोति स एव तत्फलं भुङ्क्ते, तस्यातिरिक्तात्मवादस्य चिरप्ररूढवासनामूलकतया प्रकृतवादेऽभ्युपगमात्। तत्स्थाने यन्मनोऽधिष्ठितेन देहेन यत्कर्म क्रियते, तत्फलं तन्मनोधिष्ठितेनैव देहेन भुज्यत इति नियमोपगमात्।*
6. *लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्त। न्यायसूत्र– 1–1–25*
7. *द्रष्टव्य–पृ. 96, वैशेषिकपदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श, प्रकाशक – दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर 2001.*
8. *द्रष्टव्य–पृ. 95, वैशेषिकपदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श*
9. *द्रष्टव्य– पृ. 68–69, वही*
10. *मात्रग्रहणेन च सन्तानं सन्तानिव्यतिरिक्तमपाकरोति। तदभ्युपगमे वा स एवात्मेति सिद्धं न समीहितम्। न्यायसूत्र 1–1–10 पर न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ. 211.*
11. *द्रष्टव्य– पृ. 96, वैशेषिक पदार्थमीमांसा का पद्धतिमूलक विमर्श*
12. *इस आकस्मिक का तात्पर्य चार्वाक परम्परा के आकस्मिक से न लिया जाये, बल्कि केवल किसी खास समय में भाविता से इसका तात्पर्य लिया जाये।*

योगवासिष्ठ में देहात्मवाद

डॉ. मनोज कुमार तिवारी

आत्मा क्या है? इसके विषय में नाना प्रकार के मत हैं। कोई शरीर को ही आत्मा मानता है, कोई मन को, कोई आत्मा को शरीर और मन आदि से परे की कोई ऐसी वस्तु मानते हैं जो इनसे बिल्कुल कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखती। इन सब मतों में *योगवासिष्ठ* का मत अत्यधिक विशिष्ट है जिसके अनुसार आत्मा कोई यह या वह, भीतर या बाहर की वस्तु विशेष नहीं है, बल्कि वह अनन्त और विभु, सच्चिदानन्द तत्व है जिसका प्रकाश सारा विश्व है, जो सब कुछ है, सब जगह है, सदा है, और जिससे बाहर कुछ भी नहीं है। आत्मा सम्बन्धी इन चारों मतों को *योगवासिष्ठ* में बड़े ही तर्क संगत ढंग विवेचित किया गया है।

प्रथम मत की मान्यता है कि मैं माता–पिता से उत्पन्न सिर से पैर तक विस्तार वाला स्थूल देह अर्थात् शरीर हूं। किन्तु यह मत सही नहीं है, बन्धन में डालने वाला है।[1]

इस प्रकार से अपने आपको स्थूल देह मात्र समझना दुःख का ही कारण है, शान्ति का साधन नहीं। यह विश्वास हमारा शत्रु है। अतः इसको जहां तक हो सके दूर करना चाहिए। नाना प्रकार के मानसिक क्लेशों के देने वाले इस बलवान शत्रु द्वारा मारा हुआ जीव कभी नहीं पनपता।

दूसरे मत की मान्यता है कि वह स्वयं को सूक्ष्म शरीर मानता है। इसका विश्वास है कि संकल्पस्वरूपात्मक, सूक्ष्म शरीर वाला 'मन' ही जीव का वास्तविक स्वरूप है।[2] यह विश्वास भी बन्धन में ही डालने वाला है क्योंकि अज्ञानी बालक की भांति यह जीवात्मा ज्ञान के कारण ही चित्तस्वरूप को प्राप्त हुआ है, इसलिए चित्त के चलने पर अपने आपको चलता हुआ देखता है और चित्त के स्थिर होने पर अपने आपको भी स्थिर देखता है। जीवात्मा अज्ञान से इस उपद्रवयुक्त चित्त को ही अपना स्वरूप समझता है। चित्त विवेशून्य है, इसलिए वह चित्तप्राय मनुष्य रेशम के कीड़े की भांति अपने को चित्तगत वासनारूप दीर्घ तन्तुओं से भीतर ही भीतर बंधता हुआ भी नहीं जानता कि वह बंध रहा है।

तीसरे मत में वे हैं जो स्वयं को स्थूल–सूक्ष्म शरीर से परे सब भावों से मुक्त, बाल की नोक के सौवें भाग से भी सूक्ष्म, अणु से भी गणु, सब दृश्य पदार्थों से परे

और सब वस्तुओं से पृथक् रहने वाला आत्मा मानता है।[3] यह मान्यता आनन्द की ओर ले जाने वाला और आत्मोद्धारक है।

चौथा मत वह हैं, जो स्वयं को (सारा विश्व मानता) जगत् के कण–कण में व्याप्त मानता है। आकाश मैं हूं, सूर्य मैं हूं; नीचे मैं हूं, ऊपर मैं हूं, दैत्य मैं हूं, देवता मैं हूं, सब लोक मैं हूं, यज्ञ मैं हूं, तम मैं हूं, बादल मैं हूं, समुद्र मैं हूं, पृथ्वी मैं हूं, रज मैं हूं, वायु मैं हूं, अग्नि मैं हूं, मैं सब जगत् हूं। मैं चिति हूं जो आकाश में सूर्य के रूप में चमकती है, जो सब प्राणियों में, सुर–असुर में, जड़–चेतन सब ही वस्तुओं में प्रकट अथवा अप्रकट रूप से विद्यमान है। फूलों में सुगन्ध हूं, फूलपत्तियों का मैं सौंदर्य हूं, सुन्दर वस्तुओं की रूपकला में हूं, और सब रूपों में अनुभव में हूं। जैसे तरंग सागर का एक क्षुद्र अंशमात्र है, वैसे ही तीनों लोकों में जो कुछ भी है, वह मेरा ही अंश है।[4] सुख, दुःख, संसार अर्थात् देह में विद्यमान गुरु, देवता, शास्त्र में श्रद्धा, उसमें नित्य–अनित्य आदि के विवेक से उत्पन्न श्रवण आदि के क्रम से आत्मज्ञान में तारतम्य के भेद मैं ही हूं, इस तरह जो निश्चयपूर्वक देखता है, वह आत्मतत्व से च्युत नहीं होता। हृदय की उच्चतम अवस्था से निःसृत यह विश्वास भी मोक्ष का प्रतिपादक है।

मनुष्य को उपर्युक्त प्रथम दो मतों को प्रयत्नपूर्वक त्याग देना चाहिये क्योंकि –

मैं शरीरादि नहीं हो सकता

प्रतिदिन के अनुभव से मैं शरीरादि कदापि नहीं हो सकता। शरीर मेरा है, मन मेरा है, बुद्धि मेरी है, अहंकार मेरा है, प्राण मेरे हैं इस बात को बालक तक भी जान सकता है। अतः जो मेरे हैं, वह 'मैं' कैसे हो सकता हूं? निःसन्देह 'मैं' स्वामी हूं, अधिकारी हूं और देहादि सब मेरे आधिपत्य में हैं तथा मेरे सेवक हैं। *कठोपनिषद्* में भी इसका उल्लेख हैं–

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।। कठ, 1/3/3

अर्थात् शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है तथा जीवात्मा इनका स्वामी।

मैं जड़ और ज्ञानहीन स्थूल शरीर नहीं हो सकता, क्योंकि मैं आत्म–स्वरूप नित्य मुक्त और चेतन हूं, जबकि कर्मेन्द्रियां, मन, बुद्धि, अहंकार–सब एक दूसरे के आश्रित और जड़ हैं। जैसे लकड़ी के द्वारा मिट्टी का ढेला इधर से उधर फेंक दिया जाता है उसी प्रकार इन्द्रियां मन की प्रेरणा से ही क्रियाशील हैं, स्वतः नहीं। संकल्पात्मक मन भी स्वयं जड़ ही है क्योंकि वह बुद्धि के निश्चयों के द्वारा उसी प्रकार इधर–उधर होता रहता है, जैसे फेंके जाने पर पत्थर। निश्चय करने वाली बुद्धि भी जड़ ही है, क्योंकि उसका संचालन अहंकार द्वारा उसी प्रकार होता है, जैसे

नदी का प्रवाह ढलान की ओर हुआ करता है।[5] अहंकार भी स्वयं चेतन नहीं है, वह तो असार और शव के समान जड़ एवं निर्जीव है क्योंकि जीव उसको उसी प्रकार उत्पन्न कर लेता है जैसे बालक भूत के भ्रम को। विषयभ्रम से युक्त जीव चिति द्वारा प्रेरित होता है। जैसे–जैसी सत्य–असत्य भावनाएं चिति में उठती हैं– चिति अपने स्वरूप को छोड़कर तदनुसार ही रूप धारण कर लेती है। इसलिये विषय की ओर प्रवृत्त चेतनात्मा असत् और जड़ है तथा चैतन्य द्वारा प्रेरित होती है। सत्य तो केवल एक ही वस्तु है वह है महाचिति जिसे महासत्ता भी कहते हैं। वह निष्कलंक, सम, शुद्ध, निरहंकार, शुद्ध–ज्ञान–स्वरूप, शिव, सन्मात्र और अच्युत है। वह मल रहित है और सदैव प्रकाशमान है।[6]

शरीर–मन और आत्मा का परस्पर सम्बन्ध भी नहीं हो सकता

शरीर और आत्मा का परस्पर सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। जिस प्रकार कमल सरिताओं के गोद में निरन्तर शोभायमान होते हुए भी सरिता के जल से कोई सम्बन्ध न रखकर निर्लेप बने रहते हैं बिल्कुल उसी प्रकार शरीर का भी आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।[7] जैसे परस्पर अत्यन्त विरुद्ध प्रकाश और अंधकार का एक दूसरे से सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता, वैसे ही परस्पर अत्यन्त विरुद्ध आत्मा और शरीर का भी परस्पर सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता।[8] जैसे छाया और धूप का तथा शीत और उष्ण का एक दूसरे से संबंध नहीं हो सकता, वैसे ही देह और आत्मा का भी परस्पर कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता।[9] कीचड़ में पड़े हुए स्वर्ण से कीचड़ के कणों का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, वैसे ही शुद्ध स्वरूप वाले आत्मा का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है।[10] जैसे वायु के निरन्तर आकाश में रहने पर भी आकाश उस वायु के गुणों से स्पर्श नहीं होता, उसी प्रकार जन्म, जरा, मरण, आपत्ति, दुःख–सुख, आना–जाना आदि शरीर की अवस्थाओं का भी आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं होता।[11] जिस प्रकार चित्र–लिखित पुरुष का क्षय या विनाश हो जाने पर बिम्बस्वरूप देह की क्षति नहीं होती अथवा जिस प्रकार मनोराज्य में उत्पन्न शरीर आदि पदार्थों का क्षय या विनाश हो जाने पर भी आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती अथवा जिस प्रकार स्वप्न में उत्पन्न पदार्थों का क्षय होने पर आत्मा की क्षति नहीं होती अथवा जिस प्रकार मृगतृष्णा–नदी के जल का क्षय होने पर वास्तविक जल की कुछ भी हानि नहीं होती बिल्कुल उसी प्रकार एक मात्र संकल्प से उत्पन्न, स्वभावतः विनाशशील इस शरीर रूप यन्त्र का विनाश हो जाने पर भी चेतनात्मा की कुछ भी क्षति नहीं होती। देह के विनाश होने पर चेतन आत्मा विनष्ट नहीं होता।[12]

गीता[13] में भी कहा गया है कि आत्मा शरीर की भांति विकारी नहीं है। शरीर में छः प्रकार के रूपान्तर होते हैं, वह माता के गर्भ से जन्म लेता है, कुछ काल तक रहता है, बढ़ता है, कुछ परिणाम उत्पन्न करता है, धीरे–धीरे क्षीण होता

है और अन्त में समाप्त हो जाता है। किन्तु आत्मा में ऐसे परिवर्तन नहीं होते। आत्मा अजन्मा है, किन्तु चूंकि वह भौतिक शरीर धारण करता है, अतः शरीर जन्म लेता है। आत्मा न तो जन्म लेता है, न मरता है। जन्म और मरण शरीर का होता है, आत्मा का नहीं।

आगे *गीता*[14] में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि शरीर में रहने वाले देही का कभी भी वध नहीं किया जा सकता। अतः कृष्ण को प्रमाण मानकर भौतिक देह से भिन्न आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना ही होगा।

शरीर जड़ और मिथ्या है तथा आत्मा चेतन और सत्य है। इसी से न आत्मा शरीर का संबंधी है और न शरीर ही आत्मा का संबंधी। समस्त भाव–विकारों से नित्यमुक्त एवं निर्लिप्त आत्मा न कभी उत्पन्न होता है और न कभी विनष्ट ही, वरन् वह सदा सर्वदा एकरूप रहता है। पत्थर के सदृश जड़, ज्ञान रहित, तुच्छ तथा विनाशशील इस शरीर का जो कुछ भी होने वाला हो– वह भले ही हो, इससे न तो आत्मा की हानि है और न उससे उसका कोई संबंध ही है।[15] जैसे स्वप्न में स्त्री के साथ रतिक्रीड़ा आदि व्यापार में वास्तव में किसी प्रकार का कोई दैहिक सम्बन्ध न होने पर भी वह वास्तविक–सा प्रतीत होता है तथा जैसे वास्तविक प्रेत न होने पर भी अंधेरे में सूखे वृक्ष का ठूंठ प्रेत के समान दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार यद्यपि यह सत्य है कि आत्मा के साथ देहादि का कोई संबंध नहीं है, फिर भी अज्ञान के कारण संबंध–सा दिखाई देता है। जैसे जल और काष्ठ का संबंध मिथ्या है, उसी प्रकार शरीर और आत्मा का संबंध भी मिथ्या ही है।[16]

सुख–दुःख आदि के अनुभव केवल शुद्ध चेतन आत्मा और केवल जड़ देह को नहीं होते, बल्कि देह और आत्मा के तादात्म्य के कारण होते हैं।[17] देह में अहंभावना करने से ही आत्मा दैहिक दुःखों के वशीभूत होता है तथा उस देह–भावना का त्याग कर देने से वह उस दुःख–जाल से मुक्त हो जाता है।[18] आत्मा से सर्वथा पृथक् जड़ चित्त का भी चेतन आत्मा के साथ कभी संबंध नहीं हो सकता। चित्त ही आत्मा है– ऐसा अज्ञान से प्रतीत होता है।[19] जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक आकाश किसी से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक आत्मा भी अहंकार से लिप्त नहीं होता।[20]

विभिन्न दार्शनिक मतावलंबियों द्वारा आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादन में जिन श्रुति, युक्ति और अनुभवों को आधार बनाते हैं, वे एक–दूसरे का विरोध ही करते हैं, एक–दूसरे द्वारा बाधित ही होते जैसे– 'आत्मा वै पुत्रनामसि' श्रुति का 'कश्चिद्धरीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्' से वाधित होता है। इसी प्रकार आगे अन्य श्रुतियां भी जैसे– स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः, अस्थूलमनण्वह्स्वमदीर्घम्, ते ह प्राणाः प्रजापतिम्, अचक्षु श्रोतं तदपाणिपादम्, अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः, अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः, अप्राणो ह्यमना शुभ्रः, अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः, अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता,

अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः, न चास्ति वेता मम चित्सदाऽहम्, प्रज्ञानघन एवानन्दमयः, चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः, असदेवेदमग्र–आसीत्, सदेव सोम्येदमग्र आसीत्– एक दूसरे का बाधा ही करती हैं। अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि श्रुतियों से आत्मा का कोई निश्चित स्वरूप सिद्ध नहीं किया जा सकता।

यह सत्य है कि श्रुति के सभी ऋचाओं के समानरूप से प्रमाण होने से आत्मा की परस्पर विरुद्ध विविधरूपता बताने वाले श्रुतिवाक्यों से आत्मा का निश्चित स्वरूप जान पाने में समस्या होती है, परन्तु थोड़ा विचार करने पर इस समस्या से बचा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी श्रुतिवाक्यों के मोटे अर्थ को ग्रहण करने पर कठिनाई अवश्य है पर उसके तात्पर्यार्थ को ग्रहण करने पर कोई विरोध नहीं रह जाता है। आत्मा के संबंध में चर्चा करने वाले सभी वाक्य मोटे तौर पर चाहे जो कुछ भी कहते हों पर तात्पर्य की दृष्टि से सब उसी वाक्य के प्रतिपाद्य आत्मस्वरूप के बोधक हैं।

दर्शन विभाग,
सिंदरी कॉलेज,
सिंदरी, धनबाद, झारखण्ड

संदर्भ

1. *आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः। योगवासिष्ठ, 5/17/14*
2. *स्वसंकल्पमयाकारं यावत्संसारभावि यत्।*
   चितं तद्विद्धि जीवस्य रूपं रामतिवाहिकम्।। वही, 6/1/124/19
3. *अतीतः सर्वभावेभ्यो बालाग्रादप्यहं तनुः।*
   इति तृतीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम्।। वही, 5/17/15
   परोऽणुः सकलातीतोऽहं चेत्यहंकृति।
   सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं बालाग्रशतकल्पितः। वही, 4/33/11
4. *अहं खमहमादित्यो दिशोऽहमहमप्यधः।*
   अहं दैत्या अहं लोकाश्चाहमहं महः।। वही, 5/73/3
   अहं तमोऽहमभ्राणि भूः समुद्रादिकं त्वहम्।
   रजो वायुरथाऽग्निश्च जगत्सर्वमिदं त्वहम्।। वही, 5/73/4
   अहं चिदम्बरे भानावहं चिद्भूतंजरे।
   सुरासुरेषु चिदहं स्थावरेषु च रेषु च।। वही, 5/27/12
   कुसुमेवहमामोदः पुष्पपत्रेष्वहं छविः।
   छविष्वहं रूपकला रूपेष्वनुभवोऽप्यहम्।। वही, 5/34/52
   यन्नामं किंचित्रैलोक्यं स एवाऽवयवो मम।
   तरंगोऽब्धाविवेन्त्यन्तर्यः पश्यति स पश्यति।। वही, 4/22/33
   सुखं दुःखं भवो भावो विवेककलनाश्च याः।
   अहमेवेति वा नूनं पश्यन्नपि न हीयते।। वही 4/22/37

5. प्रेर्यते मनसा चस्माद्यष्टये भुवि लोष्टकः।
मनश्चैव जडं मन्ये संकल्पात्मकशक्ति यत्।। वही, 6/1/78/20
क्षेपणैरिव पाषाणः प्रेर्यते बुद्धिनिश्चयैः।
बुद्धिर्निश्चयरूपैवं जडा सत्तैव निश्चयः।। वही, 6/1/78/21
खातेनैव सरिन्नूनं साहंकारेण बाह्यते।
अहंकारोऽपि निःसारो जड़ एवं शवात्मकः।। वही, 6/1/68/22

6. जीवेन जन्यते यक्षो बालेन भ्रमात्मकः।
जीवश्च चेतनाकाशो वातात्मा हृदये स्थितः।। वही, 6/1/78/23
जीवो जीवति जीर्णेन चिद्रूपेणात्मरूपिणा।
चेत्यभ्रमवता जीवश्चिद्रूपेणेव जीवति।। वही, 6/1/78/25
सद्वाऽसद्वा यदाभाति चित्समाधौ सति स्वतः। वही, 6/1/78/27
स्वरूपमलमुत्सृज्य तदेव भवति क्षणात्।
एवं चिद्रपमप्येतच्चेत्योन्मुखतया स्वयम्। वही, 6/1/78/28
जडं शून्यमसत्कल्पं चैतन्येन प्रबोध्यते। वही, 6/1/78/29
एते ही चिद्विलासान्ता मनोबुद्धिन्द्रियादयः। वही, 6/1/78/31
असन्तः सर्व एवाहो द्वितीयेन्दुपदस्थिताः।
महाचिदेकैवास्तीह महासत्तेति योच्यते।। वही, 6/1/78/32
निष्कलंका समा शुद्धा निरहंकाररूपिणी।
शुद्धसंवेदनाकारा शिवं सन्मात्रमच्युतम्।। वही, 6/1/78/33
सकृद्विभाता विमला नित्योदयवती सदा। वही, 6/1/78/34

7. अप्युत्संगोह्यमानानि पद्मानि सरिदम्भसाम्।
कानि नाम भवन्तीह शरीराणि तथात्मनः।। वही, 5/67/9
देहेन देहगस्याऽपि कमलस्येव वारिणा।
मनागपि न संश्लेषो ब्रह्मणों देहसत्तया।। वही, 6/1/6/14

8. यथा तेजस्तिमिरयोर्न संबन्धो न तुल्यता।
अत्यन्ताभिन्नयो राम तथैवात्मशरीरयोः।। वही, 5/61/31

9. छायातपप्रसरयोः प्रकाशतमसोर्यथा।
न संभवति संबन्धस्तथा वै देहदेहिनोः।। वही, 5/71/19
यथा शीतोष्णयोर्नित्यं परस्परविरुद्धयो।
न संभवति संबंधो राम देहात्मनोस्तथा।। वही, 5/71/20

10. देहेनाऽस्य न सम्बन्धो मनागेवाऽमलात्मनः।
हेम्नः पंकलबेनेव तदगतस्यापि मानवाः।। वही, 5/5/25

11. तदगतस्याऽप्यतद् वृत्तेरम्बरस्येव वायुतः।
जरामरणापच्च सुखदुःखे भवाभवौ।। वही, 6/1/6/15
मनागपि न सन्तीह तस्मात्त्वं निवृतो भव। वही 6/1/6/16

12. द्रष्टव्य, 6/1/29/22–28

13. न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता व न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। गीता, 2/20

14. देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत। गीता, 2/30

15. द्रष्टव्य, योगवासिष्ठ, 6/1/6/6–8

16. असंबंधोऽपि सम्बन्धो भवत्यन्तर्विनिश्चयात्।
स्वप्नांगसुरतवत्स्थाणुवेतालसंगवत्।। वही, 5/67/23
असत्प्रायो हि सम्बन्धो यथा सलिलकाष्ठयोः।
तथैव मिथ्यासंबन्धः शरीरपरमात्मनोः।। वही, 5/67/24

17. दारूसंश्लेषितात्तोयात् कम्पशब्दादयो यथा।
प्रजायन्ते तथैवाऽस्माद्देहाच्चित्परिबोधितात्।। वही, 5/67/14

18. देहभावनयैवात्मा देहदुःखवशे स्थितः।
तत्त्यागेन ततो मुक्तो भवतीति विदुर्बुधाः।। वही, 5/67/26

19. अपि विश्लिष्टयो राम ! नित्यमेवाऽऽत्मचित्तयोः।
द्यावापृथिव्योरिव कः सम्बन्धः प्रकाटन्धयोः।। वही, 6/1/29/62

20. सर्वगोऽपि यथाकाशः संबन्धो नेह केनचित्।
सर्वगोऽपि तथैवात्मा नाहंकारेण संगतः।। वही, 6/1/29/58

देहात्मवाद

डॉ. ज्ञानन्जय द्विवेदी

काल, महाकाल, प्रलयकाल के चक्र में घूमती हुयी आत्मा ने अपनी अखण्डता, अजरता–अमरता रूपी सौन्दर्य को प्रतिबिम्बित करने के लिए देह का अवलम्बन ग्रहण किया, पर इस देह के अवलम्बन ग्रहण करने के साथ ही उसके स्वरूप पर विविध प्रश्न होने लगे। चिन्तकों ने भी अपने चिन्तन की दृष्टि को एक नया आयाम देना प्रारंभ किया इस उद्देश्य से कि देह ही आत्मा है? क्या आत्मा की अजरता–अमरता जिस देह में यह रहती है उसको भी अजर–अमर बना देती है? या फिर देह में तो यह सिर्फ अवलम्बन के लिए रहती है? ज्ञान इसके स्वरूप में समाहित है या फिर इन्द्रिय, मन आदि के सम्पर्क होने पर होता है? मरणोपरान्त देह और आत्मा की क्या गति होती है? स्मृति आदि का क्या स्वरूप बनता है? नैतिकता क्या इसी देह तक रह जाती है या फिर दूसरे देह तक पीछा किये रहती है? नैतिक कर्मों का क्या अस्तित्व और महत्त्व बनता है, आदि–आदि। इसी तरह के प्रश्नों के मूल रूप से समाधान हेतु दर्शन या फिर दार्शनिकों की दृष्टि विविध रूपों में शनैःशनैः अग्रसर होती प्रतीत होती है। देहात्मवाद नामक संगोष्ठी के प्रस्तुत विषय पर मैं आज इसी देह और आत्मा के इन विविध आयामों को लेकर इनमें छिपे दार्शनिक व नैतिक मूल्यों को उजागर करने का प्रयास कर रहा हूं।

अपने विचारों का प्रारंभ मैं इस सामान्य बिन्दु से करना चाहता हूं, जिस बिन्दु पर आत्मा का देह यानि भौतिक वस्तु से सम्बन्ध छूट जाता है और वह सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाती है। पर ज्ञातव्य यह भी है कि आत्मा को मुक्त होने के लिए देह से विच्छेदित होना आवश्यक नहीं। वह तो वर्तमान देह में रहते हुए भी मुक्त ही थी। दूसरे शब्दों में कहें तो वह तो कभी बन्धन में थी ही नहीं, वह तो सर्वथा–सर्वथा मुक्त ही थी। 'देह' तो उसके लिए एक अस्थायी घोंसला था। पर उस घोंसले में प्रविष्ट होते ही यह आत्मा देहात्मा बन गयी और इसी के साथ विविध आरोप–प्रत्यारोप भी होने लगे। विचार प्रधान प्रत्ययवादी दर्शन तो आत्मा एवं चेतना को एक दूसरे का पर्यायवाची बताते हुए उनके बीच तादात्म्य सम्बन्ध (Identity Relation) स्थापित करने में जुट गया। इसे न केवल प्रधान एवं प्राथमिक सत् तत्व

ही माना अपितु अपने विशुद्ध स्वरूप में इसे बिना देह की अवस्था भी बता डाला। मनस् जीव जो कि देहयुक्त चेतन तत्त्व है, ज्ञान प्राप्त करने का उपकरण होने के कारण भौतिक शरीर का एक अंग एवं गौण विषय है। उपनिषद्, जैन, सांख्य, योग, अद्वैत वेदान्त इसी वैचारिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हुए प्रतीत होते हैं। बौद्ध, न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसा चेतना एवं आत्मा में यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण विभेद करते हैं। किन्तु इन सभी सम्प्रदायों में मनस् अनिवार्यतः जीव का लक्षण एवं ज्ञान–प्राप्ति की आन्तरिक इन्द्रिय एवं उपकरण मात्र है।

विवेच्य विषय को विवेचना करने के साथ आत्मा, मन और इन्द्रिय से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं व इनके बीच विविध सम्बन्धों को जान लेना भी आवश्यक है। *बृहदारण्यकोपनिषद* में याज्ञवल्क्य आत्मा, ब्रह्म एवं चेतना को एक बताते हुए, उन्हीं को समस्त वस्तुओं का उपादान एवं निमित्त कारण मानते हुए कहते हैं कि यह आत्मा, ब्रह्म सभी भूतों (प्राणियों) का राजा है। जैसे कि रथ की नाभि और नेमि में सारे अरे समर्पित होते हैं इसी तरह इस आत्मा में सारे भूत, सारे देव, सारे लोग और ये सारी जीवात्माएं समर्पित हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ को मैं और भी स्पष्ट करते हुए कहना चाहता हूं कि आत्म–प्रधान उपनिषदों में मन, आत्मा से अलग शरीरी जीव की विशेषता होने के कारण भौतिक वस्तु है, शारीरिक सत्ता है जो कि अन्न से बना है। *छान्दोग्योपनिषद्* में स्पष्ट कहा गया कि अन्न का अति सूक्ष्म भाग मन है। पर ज्ञान–प्राप्ति में आन्तरिक इन्द्रिय होने के कारण आत्मा को मनस् से महान् बताते हुए स्पष्ट रूप से बताया गया कि इन्द्रियों से परे अर्थ हैं, अर्थों से परे मन, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे महान् आत्मा है। मन को जीव का लक्षण बताते हुए कहा गया कि देहात्म वह आत्म है जिसके साथ इन्द्रियों एवं मन का सम्बन्ध है। इसीलिए उपनिषदों का विषय मनस् नहीं अपितु आत्मा जो ज्ञाता है, का स्वरूप जानने पर जोर दिया गया है। *कठोपनिषद्* यह कहता है कि आत्मा को रथी जानो और शरीर को रथ, वहीं पर *मुण्डकोपनिषद* इन्द्रियों को घोड़ा तथा मन को पकड़ने की रास कहता है।

आत्मा और मन के इसी संदर्भ में जैन दर्शन पर दृष्टि डालते हैं तो हम पाते हैं कि जैन दार्शनिक मन को अनिन्द्रिय की श्रेणी में रखते हैं और बताते हैं कि यद्यपि मन भी ज्ञान–प्राप्ति का साधन होने से इन्द्रिय ही है किन्तु रूप आदि विषयों में प्रवृत्त होने के लिए उसे नेत्र आदि इन्द्रिय का सहारा लेना पड़ता है। इसी पराधीनता के कारण उसे अनिन्द्रिय कहा गया है। मन सम्पूर्ण इन्द्रियों की गति का कारण भी है। यह मति–ज्ञान का साधन है। *तत्त्वार्थसूत्र* में मन को अन्तःकरण कहा गया। यह ज्ञान का साधन है पर बाह्य इन्द्रियों की तरह परिमित या सीमित नहीं है। बाह्य इन्द्रियां केवल मूर्त्त पदार्थों को ग्रहण करती हैं और वह भी अंश रूप में, जबकि मन मूर्त्त, अमूर्त सभी पदार्थों को ग्रहण करता है। मन का कार्य बाह्य इन्द्रियों

द्वारा ग्रहण किये गए और नहीं ग्रहण किये गए सभी सम्बन्धों पर विचार करना है। जैनियों के अनुसार जीव या आत्मा का स्वरूप शरीर से बिल्कुल भिन्न है। आत्मा और शरीर कभी भी एक नहीं हो सकते। यह बात अवश्य है कि जीव या आत्मा शरीर में आकर कुछ देर टिकती है। जीव शरीर में व्याप्त है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जीव (आत्मा) और शरीर दोनों एक ही है। जैनियों के अनुसार यह आत्मा या जीव शुद्ध चैतन्य स्वरूप है।

सांख्य दर्शन में मन जड़ प्रकृति के सात्विक अहंकार से उत्पन्न आन्तरिक इन्द्रिय होने के कारण स्वभाव से अचेतन है। बुद्धि, मन एवं अहंकार अन्तःकरण हैं जो पुरुष के चैतन्य के प्रकाश से चेतनवत् होते हैं। मन का कार्य संकल्प अथवा सम्यक् संकल्प करना है। मन का ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय से सम्बद्ध होने के कारण इसे उभयात्मक भी कहा गया है तथा यह भौतिक प्रकृति का विकार होने के कारण स्वभाव से अनित्य भी है। सांख्य दर्शन में आत्मा को पुरुष कहा गया है एवं चैतन्य इसका स्वरूप है। वह मन, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, अहंकार आदि से भिन्न स्व–प्रकाश्य, विशुद्ध विषयी एवं परात्पर चैतन्य है।

यद्यपि शरीर को ज्ञान आदि का आश्रय मानने पर उसका रूप आदि गुण जिस प्रकार दूसरों से देखे जाते हैं वैसे ही ज्ञान आदि भी दूसरे से देखे जाने वाले होने चाहिए। दूसरे शब्दों में जैसे किसी वस्तु के रूप गुण का प्रत्यक्ष हम करते हैं वैसे अन्य दूसरे लोग भी करते हैं। इसी प्रकार ज्ञान आदि के सन्दर्भ में भी होना चाहिए अर्थात् किसी वस्तु का जैसे हम ज्ञान प्राप्त करते हैं वैसे ही दूसरों को भी ज्ञान होना चाहिए। अतः यहां इस प्रकार की शंका स्वाभाविक हो जाती है, क्योंकि ज्ञान के सन्दर्भ में ऐसा नहीं होता। पर ऐसी शंका निराधार प्रतीत होती है क्योंकि एक शरीर में रहने वाले रूपादि गुणों का अन्य शरीर में होने वाले चक्षु आदि के समीप होने के कारण दूसरे के द्वारा उनका प्रत्यक्ष होने पर भी एक शरीर में रहने वाले गुण परिमाणी मन के समीप न होने से (उसे उनका ज्ञान होने की) उक्त शंका निराधार प्रतीत होती है। किसी भी प्रत्यक्षात्मक अनुभव का विषय इन्द्रिय से संबंधित पदार्थ ही होते हैं। पर ज्ञानादि के लिए ऐसी बात नहीं होती। ज्ञानादि के लिए मन का सम्बन्ध होना आवश्यक है। चक्षु आदि इन्द्रियों के समान रहने पर भी चूंकि मन समान नहीं होता अतः ज्ञानादि में भिन्नता पायी जाती है।

इसी स्थल पर इस शंका का भी समाधान करता चलूं कि शरीर को ज्ञानादिमान मानने पर बाल्यकाल में अनुभूत वस्तुओं का वृद्धावस्था में स्मरण नहीं होना चाहिए। बाल्य और वृद्ध शरीर दोनों भिन्न होने से बाल्य शरीर के अनुभव से उत्पन्न संस्कार वृद्ध शरीर में नहीं होने चाहिए। देहात्मवाद में इसका समाधान करते हुए स्पष्ट किया गया कि शरीर अनुभव से उत्पन्न संस्कार मन में मानने से बाल शरीरगत मन, वृद्ध शरीर में प्रविष्ट होने से मन में रहने वाले संस्कार की महिमा से बाल्यकाल में अनुभूत वस्तुओं का वृद्ध शरीर में स्मरण हो सकता है।

इसी स्थल पर यह भी स्पष्ट करना चाहता हूं कि वर्त्तमान शरीर से सहयोगी मन उस शरीर से उत्पन्न अदृष्ट के कारण उत्पन्न नूतन बालक शरीर में विजातीय संयोग सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर उसमें भी पूर्ण शरीर के द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण होने से कोई बाधा न होने से सद्यःजात शिशु की दुग्धपान प्रवृत्ति पर भी कोई शंका नहीं करनी चाहिए। पूर्व शरीर में स्थित मन पूर्व शरीरगत स्तनपान के विषय में इष्टसाधनताज्ञान के फलस्वरूप उत्पन्न संकार से युक्त है। शिशु–शरीर में प्रविष्ट होने से उसमें रहने वाले आधार में वहां स्तनपान विषयक इष्टसधानताज्ञान के फलस्वरूप उत्पन्न संस्कार से युक्त है। इस प्रकार शिशु–शरीर में प्रविष्ट होने से उसमें रहने वाले आधार को वहां स्तनपान विषयक इष्टसाधनता का स्मरण होने में कोई शंका की गुंजाइश नहीं है।

ऐसा देखा जाता है कि वर्त्तमान देहस्वरूप आत्मा आजीवन विविध कर्मों को करती तो रहती है पर उसके सभी कर्मों का फल उसे इस देह रूपी आत्मा को प्राप्त नहीं हो पाता। देह के नष्ट होने जाने पर उसके अभुक्त फल वाले कर्मों की व्यर्थता हो जाने से कृतप्रणाश तथा नूतन देह स्वरूप आत्मा के जन्म काल से ही अकृत कर्मों का फलोपभोग करने से अकृताभ्यागम का दोष देहात्मवाद में पाया जाता है। पर इस दोष के निराकरण स्वरूप यह कहा जाता है कि वर्त्तमान शरीर से किये गये अभुक्त फल वाले कर्मों का फल धर्माधर्म व्यापार के आश्रय मन के दूसरे शरीर में प्रवेश करने पर उसी शरीर में उत्पन्न होने से वे सार्थक हैं। बिल्कुल नए शरीर में भी पूर्वदेहकृत कर्मों के ही फल उत्पन्न होने से अकृताभ्यागम दोष नहीं होता। देहात्मवाद का यह नियम नहीं है कि जो जिस कर्म को करता है वही उसका फल प्राप्त करता है। उक्त नियम अतिरिक्त आत्मवाद में चिरकाल से उत्पन्न संस्कारमूलक है। उसके स्थान पर यह नियम माना है कि जिस मन–अधिष्ठित देह से जो कर्म किया जाता है उसका फल उस मन के आश्रित देह के द्वारा ही भोगा जाता है। मन के देहाधिष्ठित होने का अर्थ है देह अनुयोगी वाले विजातीय संयोग का प्रतियोगी होना तथा देह का मन–अधिष्ठित होने का अर्थ है मन जिसका प्रतियोगी है ऐसे विजातीय संयोग का अनुयोगी होना। पाप–पुण्य के सन्दर्भ को लेकर भी यहां पर शंका की जा सकती है कि शरीर के द्वारा किये गए विहित तथा निषिद्ध कर्म मन में न रहने से वहां पर तज्जनित पाप–पुण्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है। इसका समाधान भी देहात्मवाद में यह कहकर दिया जाता है कि शरीर के कर्म से शरीर के साथ मन के विजातीय संयोग से अदृष्ट (पाप–पुण्य) के लिए मन में रहने वाला अदृष्ट भी विजातीय संयोग–सम्बन्ध से कारण मानने पर उपरोक्त शंका का समाधान हो जाता है।

आत्मा के सम्बन्ध में न्याय–वैशेषिक का मत सुस्पष्ट है। इनके अनुसार आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग ये प्रमेय हैं तथा पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये द्रव्य हैं।

आत्मा शरीरेन्द्रियार्थ बुद्धि मन, प्रवृत्ति दोषः, प्रेत्यभाव फल, दुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्।।

पृथिवी व्यापस्ते वायुराकाशं काल दिगात्मा मन इति द्रव्याणि। *वै. सू.* 1/1/5

आत्मा इन्द्रियों का अधिष्ठाता है क्योंकि सभी करण कर्त्ता वाले होते हैं। शरीर को चैतन्य मानना उचित नहीं है, क्योंकि मृत शरीर में चैतन्य नहीं रहता। इन्द्रियां चैतन्य हैं यह मानना भी उचित नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर इन्द्रियों के नष्ट होने पर स्मरण कैसे हो सकेगा? मन को भी चैतन्य का आश्रय नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा करने से ज्ञान आदि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। इसलिए जैसे रथ की गति से सारथि का अनुमान होता है उसी प्रकार प्रवृत्ति के द्वारा और विशेष गुणों के सम्बन्ध के द्वारा इन्द्रियों के अध्यक्ष आत्मा का अनुमान होता है, जो धर्म और अहंकार का आश्रय है और जो मन मात्र के द्वारा जाना जा सकता है, जो विभु है और बुद्धि आदि गुणों का आधार है। आत्मत्व जाति हैं जिसकी सिद्धि सुख दुःख आदि की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में सिद्ध होती है। यह आत्मत्व जाति ईश्वर में रहती है। किन्तु अदृष्ट आदि कारण ईश्वर में नहीं रहते। अतः उसमें सुख–दुःख नहीं होता। यहां पर विचार किया जा रहा है कि आत्मा, आत्मत्व रूप जातिवाला है, वह देह इन्द्रिय आदि से भिन्न प्रति शरीर के अलग–अलग होते हुए भी नित्य एवं विभु है। उसका मन द्वारा प्रत्यक्ष होता है। विवाद होने पर बुद्धि आदि गुणों से उसका अनुमान किया जा सकता है।

आत्मा ज्ञान का आश्रय है। यह दो प्रकार का है– जीवात्मा और परमात्मा। जैसा कि हम जानते हैं चैतन्य आत्मा का गुण है पर यह गुण आवश्यक नहीं अपितु आकस्मिक है। शरीर धारण करने के पहले जीव में चेतना नहीं रहती। पर शरीर निर्माण के बाद चेतना का भी जन्म हो जाता है। उसके बाद तो चेतना सम्पूर्ण शरीर को गतिशील बनाकर उसे निश्चित दिशा में आगे बढ़ाती है। इसलिए जीवात्मा या जीव वह है जिसे शरीर धारण करना पड़ता है। जीवात्माएं अनेक हैं क्योंकि संसार में शरीर अनेक है। और जीव शरीर में ही निवास करता है। जीवात्माओं के अनेक होने के कारण उन्हें अलग–अलग रूप में ज्ञान भी होता है। परमात्मा जीवात्मा से भिन्न अद्वितीय (एकमात्र) जगत् का कर्त्ता, वेदप्रणेता और उपासना से जीवों को भौतिक तथा दिव्य सुख देने वाला है। जीवों को उनके अर्जित कर्म के फल–भोग तथा मोक्ष–लाभ में सहायक है। नित्यज्ञान, इच्छा, प्रयत्न तथा संख्या, परिमाण,

पृथकत्व, संयोग, विभाग इन आठ गुणों का आश्रय है। वह ईश्वर, प्रभु, भगवान आदि नामों से जाना जाता है। जगत् की सृष्टि, रक्षा और संहार रूपी कर्मों के कारण क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश के नामों से भी जाना जाता है।

प्रस्तुत विषय पर एक शंका यह उठती है कि देह और मन से भिन्न आत्मा के निराकरण का प्रयास देह और मन इन दोनों को आत्मा सिद्ध करने में पर्यवसित होता है। मेरे विचार में यह शंका स्वीकार करने योग्य नहीं है कि देह अनित्य है और मन नित्य। ऐसी स्थिति में देह और मन दोनों को मिलाकर आत्मा मानने पर आत्मा को भी नित्य और अनित्य दोनों ही मानना पड़ेगा। कभी मैं नित्य हूं तो कभी मैं अनित्य हूं, इस प्रकार की अनुभव–विरुद्ध प्रतीतियां होने लगेंगी। अतः यह कथन स्वीकार्य नहीं है। देहात्मवाद में गौतम के सूत्र "इच्छाद्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञानात्मनो लिंगम्" से आत्मा के चिन्ह के रूप में कथित वे गुण देहात्मवाद में देह ही में होने से और उसी को आत्मा मानने से तथा मन को उसका आश्रय न मानकर धर्माधर्म भावना मात्र का आश्रय स्वीकार करके तथा उसे कारण मानकर देह और मन से जीवात्म के निराकरण का प्रयास देह और मन इन दोनों को आत्मा मानने में पर्यवसित होता है। यह कथन बुद्धि की अवधारणा के कारण निष्पन्न होता है।

शरीर ही आत्मा है इस प्रकार का संदेह विचारवान मनीषियों को भी होता है। यदि शरीर ही आत्मा है तो उसमें आत्मत्व का सन्देह होने पर मैं हूं या नहीं, इस प्रकार का सन्देह क्यों नहीं होता। पर ध्यान पूर्वक देखने पर उपरोक्त सन्देह निराधार प्रतीत होता है क्योंकि जिस प्रकार अतिरिक्त आत्मवाद में शरीर अनात्म है यह निश्चय है, उसी प्रकार देहात्मवाद में शरीर आत्मा है यह निश्चय है। अतः दोनों ही सिद्धान्तों में उक्त सन्देह आहार्य है तथा मैं का निश्चय अनाहार्य है। यह दोनों ही सिद्धान्तों में समान है। वह निश्चय मैं हूं या नहीं इस संशय का विरोधी है।

वस्तुतः कहने का आशय यह है कि मैं इस शब्द का उच्चारण करने वाला ही "मैं" का अर्थ होता है। इसलिए अतिरिक्त आत्मवाद में "मैं" इस शब्द का प्रयोग करने वाला अतिरिक्त आत्मा ही मैं शब्द का अर्थ है। इसके विपरीत देहात्मवाद में मैं शब्द का प्रयोग करने वाला शरीर ही मैं शब्द का अर्थ होता है। दोनों ही सिद्धान्तों में अपने–अपने मत के अनुसार मैं का अर्थ सुनिश्चित है। अतः मैं हूं या नहीं, इस प्रकार के स्वरूप में पर्यवसित होने वाला मैं हूं अथवा नहीं, इस प्रकार का संशय मैं हूं इस निश्चय से प्रतिबध्य होने के कारण उसकी उत्पत्ति की संभावना नहीं रहती है। शरीर को आत्मा मानने के आहार्य संशय के रहने पर भी "मैं" हूं इस प्रकार का संशय अक्षुण्ण है।

देहात्मवाद के सन्दर्भ में यह शंका करना कि "मैं" शरीर हूं या नहीं अत्यन्त विचित्र प्रतीत होता है, क्योंकि जैसे– अतिरिक्त आत्मवाद से यह सुस्पष्ट है कि मैं शरीर नहीं हूं वैसे ही देहात्मवाद से इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि

मैं शरीर हूं। मैं यह प्रतीति अन्य सभी शरीर सुख दुःखादि प्रतीतियों से बिल्कुल भिन्न है ऐसा सभी लोग मानते–समझते हैं। अतः शरीर तथा मन से भिन्न कोई वस्तु उसके अधिष्ठान स्वरूप होना आवश्यक है। यह कथन भी बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। केवल मैं इस प्रकार की प्रतीति अतिरिक्त आत्मवादी भी नहीं मानते। मैं इस शब्द से होने वाला बोध मैं शब्द का उच्चारण करने वाले के विषय में होने से देहात्मवाद में मैं शब्द का उच्चारण करने वाले देह के विषय में ही वह होता है। ऐसी स्थिति में उसके लिए किसी दूसरे अधिष्ठान की क्या आवश्यकता ?

देह ही आत्मा है इस विचार की स्वीकारोक्ति ही यह प्रमाणित करती है कि शारीरिक सुख–समृद्धि की प्राप्ति ही मानव का परम पुरुषार्थ है। ऐसा मानने पर उन विचारों की उपेक्षा होती है जो विचार मानव प्रवृत्ति में लोक–कल्याण व परार्थभाव को स्वीकारते हैं। पर देहात्मवाद पर स्व–सुख की प्रवृत्ति का आरोप लगाना मेरे विचार में पूर्णतया उपयुक्त नहीं है क्योंकि देहात्मवादी यदि स्व–विवेक के आधार पर स्व–सुख चाहता है तो उसमें परहित का भाव भी सम्मिलित है। ऐसे बहुत से देहात्मवाद के पोषक हैं जो लोक–कल्याण हेतु धनराशि का प्रयोग कर चिकित्सालय, विद्यालय, अनाथालय, आदि धार्मिक, सामाजिक संस्थानों का संचालन करते हैं और ऐसा करके भी वे आह्लादित रहते हैं। अतः मेरे विचार में देहात्मवाद पर पूर्णतया शारीरिक व स्वसुख का आरोप लगाना गलत है।

इसी सन्दर्भ में एक शंका यह भी की जाती है कि इसमें मनुष्य आजीवन कर्म में प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि देहात्मवाद के अनुसार अन्तिमावस्था में किये जाने वाले कर्म व तत्काल फल न देने वाले कर्मों से जीवन में फल–प्राप्ति संभव नहीं। पर यह शंका भी उचित नहीं क्योंकि अपने से अधिक जीने वाले तथा बाद में उत्पन्न होने वालों को उन कर्मों की फल–प्राप्ति की कामना से आजीवन कर्म में लगे रहना संभव हो सकता है। मनुष्य पूर्णरूपेण अपने स्वार्थ के लिए ही कर्म करता है ऐसा कहना भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि लोक–कल्याण में भी मानव की प्रवृत्ति देखी–सुनी जाती है।

देहात्मवाद के सन्दर्भ में कुछ लोगों को आपत्ति है कि यदि देह ही आत्मा है तब तो सभी प्रकार की उच्च दार्शनिक व नैतिक मान्यताएं देहात्मवाद में स्थान नहीं पा सकेंगी। सिर्फ वैसी ही दार्शनिक या नैतिक मान्यताएं स्थान पा सकेंगी जो देह की पुष्टि या फिर देह के संवर्धन की बातें करती हैं। पर ऐसी बात नहीं है। अतिरिक्त आत्मवाद जो कि उच्च दार्शनिक व नैतिक मूल्यों के प्रतिनिधित्व का दावा करता है, की भांति देहात्मवादी भी अपने विचारों में उच्च दार्शनिक व नैतिक मान्यताओं के प्रतिनिधित्व का दावा करते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में मैं कुछ ऐसे ही उच्च दार्शनिक व नैतिक मान्यताएं जैसे लोक–कल्याण, बन्धन–मोक्ष, यज्ञ, पुनर्जन्म आदि को लेकर भी देहात्मवाद को समझने का प्रयास कर रहा हूं।

पुनर्जन्म जैसे दार्शनिक मूल्यों के सन्दर्भ में कुछ विचारक यह कहते हैं कि देहात्मवाद से पुनर्जन्म की व्याख्या नहीं हो सकती क्योंकि यदि देह ही आत्मा है और देह के विनाश होने के साथ आत्मा का भी अस्तित्व समाप्त हो जाता है तो फिर पुनर्जन्म जैसे मूल्य देहात्मवाद में कैसे संभव हो सकते हैं? पर यदि इस प्रकार की शंका देहात्मवाद के सन्दर्भ में उठायी जा सकती है तो यह शंका अतिरिक्त आत्मवाद में भी उठायी जा सकती है। जैसे हम यह कह सकते हैं कि अपने आधार रूपी देह के ध्वंस होने के बाद अनाधार के सम्बन्ध रूप जन्म नित्य–आत्मा में भी संभव नहीं हो सकता, क्योंकि उसके आधार रूपी सभी क्षण तो उसके पहले के देह से संबंधित थे जो कि विनष्ट हो गए, फिर पुनर्जन्म संभव नहीं प्रतीत होता। और यदि नए उत्पन्न देह के साथ आत्मा का पहला विलक्षण संयोग ही जन्म के रूप में माना जाय तो इस प्रकार के जन्म का समाधान मन के द्वारा देहात्मवाद में भी लागू हो सकता है। देहात्मवाद के अतिरिक्त वाद में देह का उस रूप में जन्म न होने पर भी देहोत्पन्न अदृष्ट से युक्त मनका भावी देह के साथ उस प्रकार का सम्बन्ध संभव है, और उस सम्बन्ध को ही जन्म माना जा सकता है।

देहात्मवाद में बन्धन और मोक्ष संभव नहीं प्रतीत होता, ऐसी आपत्ति भी कुछ विचारक करते हैं। उनके विचार में बन्धन और मोक्ष नामक प्रत्यय जो कि किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण विचार माना जाता है ऐसे विचारों का अभाव देहात्मवाद में पाया जाता है। अतः इसे हम एक उपयुक्त दार्शनिक विचार नहीं मान सकते। पर ऐसी आपत्ति निराधार प्रतीत होती है क्योंकि दूसरे शरीर से भोगने योग्य फलोपयोगी, अदृष्टोत्पादक कर्म का कर्त्ता होना ही बन्धन है तथा उसका अभाव ही मोक्ष है। इस रूप में देहात्मवाद में भी बन्धन और मोक्ष की व्याख्या की जा सकती है। अतः जिस देह को देहात्मतत्व के योग से उत्पन्न साक्षात्कार नहीं हुआ है वह शरीरान्तर में भोग्यफल के लिए कारण होने वाले अदृष्ट के उत्पादक कर्म करने के कारण बद्ध होता है। और जो उस आत्मतत्त्व को साक्षात्कार करके उस प्रकार के कर्म से विमुख है वह मुक्त है। बद्ध के समान मुक्त भी नष्ट होता है तो कोई भी देह मुक्ति हेतु तत्त्व साक्षात्कार के लिए विषयिक सुख की उपेक्षा क्यों करें। यहां इस प्रकार की शंका भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि अतिरिक्त आत्मवाद में भी मुक्तात्मा मृतक के समान होने से वहां भी इस प्रकार की शंका हो सकती है।

नैतिकता की आवश्यक मान्यता संकल्प–स्वातंत्र्य (Freedom of will) की दृष्टि से देहात्मवाद को देखते हैं तो हम पाते हैं कि देहात्मवाद एक स्वस्थ, सुन्दर, कल्याणकारी और भयमुक्त (free from ethical fear) समाज के निर्माण में योगदान कर सकता है क्योंकि देहात्मवादी यह मानकर आगे बढ़ते हैं कि उनका पूर्वकृत कुछ भी कर्म नहीं है जिसके कारण वे समाज के अन्य लोगों द्वारा शोषण, उत्पीड़न

आदि सहन करें। आज विभिन्न पंथों, सम्प्रदायों, विचारों में हम रोज स्थानीय स्तरों पर ऐसे वर्चस्व को देख सकते हैं जिसमें किसी को अपने विचारों के अनुकूल बना लेना और प्रकारान्तर में उसे यह समझाते रहना कि मैं तुम्हारा शोषण नहीं कर रहा अपितु यह तो तुम्हारे पूर्व जन्म के किये गये कर्मों का फल है। और वह भी इसे अपने पूर्व कृत कर्मफल मानकर शोषित होता रहता है। पर देहात्मवाद में इस प्रकार के विचार सामने आते ही नहीं। अतः इस प्रकार के शोषण आदि का देहात्मवाद में दूर-दूर तक सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता। अतिरिक्त आत्मवादी जो कि नियतिवाद के अनुयायी हैं वे दूसरों द्वारा किये गए शोषण-उत्पीड़न को मौन भाव से अपनी नियति मानकर स्वीकार करते रहते हैं। अतः सामाजिक, आर्थिक विषमता नियतिवाद के नाम पर फलती-फूलती रहती है जो कि किसी भी स्वस्थ समाज के लिए लाभकारी नहीं है। इसके विपरीत देहात्मवादी अपने इच्छा-स्वातंत्र्य के बल पर पूर्व-कृत कर्म-फल को न मानते हुए अपनी सामाजिक-आर्थिक स्थिति मजबूत कर सकते हैं, किसी के द्वारा शोषित होने के बजाय उसका जबाव दे सकते हैं। अतः देहात्मवाद को हम एक स्वस्थ समाज के निर्माणकर्त्ता के रूप में मान सकते हैं।

कुछ विचारक देहात्मवाद पर निरंकुशता का आरोप लगाते हुए कहते हैं कि देहात्मवाद निरंकुशता को बढ़ावा देता है क्योंकि इसमें मनुष्य अपने सुख को ही श्रेयस्कर समझता है तथा मृत्योपरान्त उत्तरदायित्व के न रहने से वह अपने सुख-शान्ति व अपनी प्रगति के लिए दूसरों का अहित भी कर सकता है। परोपकार की बात कौन कहे? अपने स्वार्थसिद्धि के लिए परोत्पीड़न ही उसका उद्देश्य हो जाता है। जैसा कि हम जानते हैं कि व्यक्ति पर परलोक व नरक में जाने के भय आदि का अंकुश बहुत बड़ा होता है, जिस भय के कारण ही वह परोपकार व लोक-कल्याण की बातें सोचता है, अन्यथा सचमुच उसमें निरंकुशता अपना स्थान बना ही लेती है। अतः देहात्मवाद निरंकुशता को बढ़ावा देता है। पर मेरे विचार में उपरोक्त आरोप निराधार है क्योंकि परलोक व नरक में जाने आदि के भय के कारण किया गया परोपकार या फिर लोक-कल्याण वास्तविक नैतिकता का प्रतीक नहीं माना जा सकता। क्योंकि हम जानते हैं कि दण्ड के भय तथा पुरस्कार के प्रलोभन से जो नैतिक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं उसे विशुद्ध नैतिकता की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। इसके विपरीत देहात्मवादी परोपकार व लोक-कल्याण के तरफ इसलिए उन्मुख रहता है कि वह वर्त्तमान समाज को देखता है व उससे यह सीख ग्रहण करता है कि समाज में जो परोपकारी थे या फिर जिन्होंने जनहित में अपना सबकुछ न्यौछावर कर दिया, मरणोपरान्त समाज में उनकी इज्जत ज्यादा है। मरने के पश्चात् भी उन्हें आदर की दृष्टि से देखा जाता है। समय-दर समय

उन्हें याद कर श्रद्धांजलि अर्पित की जाती है। अतः वह भी यह चाह रखता है कि मैं भी इसी शरीर से ऐसा कुछ करूं ताकि मेरे मरने के बाद भी लोग मेरा नाम आदर के साथ लें। इन्हीं प्रेरणाओं से प्रेरित होकर देहात्मवादी भी लोक–कल्याण व परोपकार करता है। अतः निरंकुशता का आरोप देहात्मवाद के महत्त्व को कम नहीं कर पाता।

इसी सन्दर्भ में एक बात यह भी कहना चाहता हूं कि देहात्मवादी लोक–निन्दा को देखते हुए तथा मृत्योपरान्त भी समाज में मान–सम्मान को देखते हुए इसी देह से यानि वर्त्तमान शरीर से ही अनैतिकता, दुराचारता, स्वेच्छाचारिता, स्वार्थता आदि अमंगलकारी तत्त्वों को निकाल फेंकने का प्रयास करते हैं। फलतः वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था एक नैतिक व निर्दोष सामाजिक व्यवस्था के रूप में स्थान पाती है तथा व्यक्ति और समाज दोनों का ही मंगल होता है। इस प्रकार इसे हम देहात्मवाद की एक अमूल्य देन मान सकते हैं।

देहात्मवाद पर एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि इसमें यज्ञ आदि का कोई स्थान नहीं है क्योंकि इन यज्ञादि विधि–विधानों का सम्बन्ध स्वर्ग की प्राप्ति या फिर उन परोक्ष फलों से होता है जिनका सम्बन्ध परलोक आदि से होता है। और देहात्मवाद में इस प्रकार के फलों का कोई महत्व नहीं है। अतः देहात्मवाद में मानव की प्रवृत्ति इन यज्ञादि विधि–विधानों की ओर नहीं होती। पर मेरे विचार में देहात्मवाद पर इस प्रकार का आक्षेप करने वाले विचारक यह भूल जाते हैं कि वर्त्तमान शरीर से ही बहुत सी ऐसी आशाएं या बहुत से ऐसे फल हैं जिनकी प्राप्ति हेतु यज्ञ, अनुष्ठान आदि करना अनिवार्य होता है। और देहात्मवादी विचारक इन्हीं आशाओं और इन्हीं फलादि प्राप्ति की अपेक्षाओं से इसी देह से यज्ञादि करते हैं। इस प्रकार देहात्मवाद में भी यज्ञ आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। या फिर देहात्मवादियों की प्रवृत्ति भी यज्ञ अनुष्ठानादि की ओर देखी जा सकती है। हां, इन यज्ञों का उद्देश्य भले ही अतिरिक्त आत्मवादियों की तरह स्वर्ग की कामना या फिर परोक्ष फलादि के लिए न हो, पर वर्त्तमान में ही पुत्र, यश, वीर्य आदि की प्राप्ति हेतु देहात्मवादी भी यज्ञादि में प्रवृत्त होते देखे जा सकते हैं। मेरे विचार में इहलोक–कल्याण हेतु यदि यज्ञ अनुष्ठानादि किये जाते हैं तो वे परलोक–कल्याण हेतु किये जाने वाले यज्ञ अनुष्ठानादि से अधिक समीचीन, संवृद्ध, सार्थक और नैतिक, जन–कल्याणकारी फल देने वाले होते हैं।

अपने इस आलेख के अन्त में देहात्मवाद के विभिन्न विवेचनों के विचारोपरान्त हम यह बात स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि देहात्मवाद महत्वपूर्ण दार्शनिक विचारों का प्रतिपादित करने के साथ नैतिक व जन–कल्याणकारी भी है। देहात्मवाद का उद्देश्य अतिरिक्त आत्मवाद के मूल्य को कम करना नहीं है अपितु उसके अतिशय दावों को कम करना अवश्य है। हम यह मानते हैं कि विभिन्न दार्शनिक विचार ही

हमें देह और आत्मा (देहात्मा) के विभिन्न पक्षों के मूल्यों के सम्बन्ध में खरे–खोटे या फिर प्रामाणिक और अप्रामाणिक होने के विवेक की क्षमता प्रदान करते हैं। देहात्मवाद क्या, सभी दार्शनिक विचार इसी विवेक का परिणाम है। इनके मूलभूत विचारों में प्रवेश कर इनमें निहित दार्शनिक व नैतिक मूल्यों को उजागर करना ही विचारों की सार्थकता भी है। हम आशा करते हैं कि मानव मानवोत्कर्षकारी जीवन–मूल्यों की प्राप्ति देहात्मवादी विचारों में प्रवेशकर प्राप्त कर सकता है तथा हम यह भी आशा करते हैं कि मुक्ति और संवृद्धि जैसी चुनौतियों का सामना भी देहात्मवाद द्वारा किया जा सकता है।

रीडर एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
बी.एस.एस. कालेज, सुपौल, बिहार

देहात्मवाद : एक विश्लेषण

डॉ. विजय कुमार

देहात्मवाद का विवेचन भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही दर्शनों में देखने को मिलता है। बहुत कम ही ऐसे दार्शनिक होंगे जिन्होंने देह और आत्मा के सम्बन्धों पर विचार न किया हो। चाहे वैदिक, जैन और बौद्ध परम्पराएँ हों या चाहे पाश्चात्य बुद्धिवादी दार्शनिक, सभी ने किसी न किसी रूप में देह और आत्मा के सम्बन्धों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। भारतीय सन्दर्भ में जो व्याख्या मिलती है उसमें 'देह ही आत्मा है' केन्द्रित है जबकि पाश्चात्य चिन्तन में 'देह और आत्मा के सम्बन्ध' को केन्द्रित किया गया है।

देहात्म की समस्या के सन्दर्भ में जो प्रायः प्रश्न उठाये जाते हैं वे हैं– देह और आत्मा का सम्बन्ध क्या है, क्या आत्मा भिन्न है और देह भिन्न है अथवा आत्मा वही है जो देह है ?

इस सम्बन्ध में भारतीय सन्दर्भ में तीन प्रकार के मत देखने को मिलते हैं–

(1) पहला मत यह है कि देह और आत्मा अभिन्न हैं, अर्थात् देह ही आत्मा है। इसके अन्तर्गत लोकायत मत आता है।

(2) दूसरा मत यह है कि देह और आत्मा दोनों अलग–अलग हैं। इस मत को माननेवालों में न्याय दर्शन तथा वेदान्ती आदि आते हैं।

(3) तीसरा मत यह है कि देह और आत्मा अलग–अलग भी हैं और साथ–साथ भी हैं। इस मत का पोषण जैन दर्शन करता है।

चार्वाक दर्शन की यह स्पष्ट घोषणा है कि देह ही आत्मा है। 'मैं' शब्द से सम्बोधित होने वाला यह शरीर ही आत्मा है। 'मैं मोटा हूँ', 'मैं दुबला हैं', 'मैं गोरा हूँ आदि सम्बोधन शरीर के लिए ही किये जाते हैं। *'चार्वाक षष्टि'* से भी इस कथन को समर्थन प्राप्त होता है। कहा गया है–

> अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामान्याधिकरण्यतः ।
> देहः स्थौल्यादि योगाच्च स एवात्मा न चापरः ।
> मम देहोयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी ।। 49 ।।[1]

(अर्थात् मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ, इस प्रकार एक आधार होने के कारण तथा

एक मोटाई आदि के संयोग होने के कारण देह आत्मा है। आत्मा कोई दूसरी नहीं है। यह मेरा शरीर इस प्रकार की युक्ति तो औपचारिक है।)

यह सत्य भी है क्योंकि जब भी व्यक्ति स्वयं के विषय में जानने, कुछ करने या भोगने का अनुभव करता है तो शरीर में ही करता है। साथ ही दूसरे व्यक्तियों को भी जब भी जानते, करते और भोगते देखता है, तो शरीर में ही देखता है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है। चार्वाक का कहना है कि जिसे हम चेतना कहते हैं वह वस्तुतः चार भूतों के संयोग से उत्पन्न होती है। यद्यपि अलग–अलग भूतों में चेतना–शक्ति नहीं होती, लेकिन उन भूत तत्त्वों के संयोग–शक्ति से चेतना उत्पन्न हो जाती है, जो संयोग–शक्ति की विलक्षणता ही कही जायेगी। जैसे गुड़ और पिष्टि आदि में मादकता की शक्ति नहीं होती है परन्तु उनके संयोग से निर्मित मदिरा में मादकता उत्पन्न हो जाती है। *'चार्वाक षष्टि'* में कहा गया है–

> अत्र चत्वारि भूतानि भूमिर्वायनलानिलाः ।
> चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ।
> किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्योमदशक्तिवत् ।।48।।[2]

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु ये चार तत्त्व हैं। निश्चय ही इन्हीं चार तत्त्वों के संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति होती है, जैसे किण्व (मदिरा के निर्माण में खमीर उठाने वाला बीज) आदि द्रव्य से मादकता उत्पन्न होती है। आकाश को चार्वाक तत्त्व रूप में स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु– इन्हीं चारों तत्त्वों के शरीर रूप में परिवर्तन होने पर परिणाम–विशेष के स्वभाव से चैतन्य की उत्पत्ति होती है। शरीर के नष्ट होने पर चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। तात्पर्य है ऐसी कोई सत्ता नहीं है जिसे शरीर से अलग माना जाए या जिसके कारण शरीर चेतन हो जाता है। जो लोग प्राण, चेष्टा, चेतनता, स्मृति आदि को अलग आत्मा का धर्म मानते हैं, वे भी तो इसे देह में ही स्वीकार करते हैं। इनको देह से अलग आत्मा का धर्म मानने के लिए ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है जो इसे प्रामाणित कर सके। अतः आत्मा देह का ही नाम है। यदि हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो वहाँ भी यह मान्यता है कि मन की जितनी अवस्थायें हैं उन सब के साथ–साथ किसी न किसी प्रकार की शारीरिक क्रिया अवश्य होती है। चाहे उनमें हमारे शरीर के अंगों में इच्छित परिवर्तन न हो तो भी प्राण की गति, रक्त–संचालन, सामान्य संचालन, सामान्य पुट्ठों के संकोचन–प्रसारण, ग्रन्थियों इत्यादि के कार्यों में कुछ न कुछ तब्दीली अवश्य होती है।[3] जितने भी मानसिक व्यापार हैं उनका कारण मस्तिष्क की अवस्थाएं ही हैं। ऐसा देखा जाता है कि जब मस्तिष्क में परिवर्तन होता है तो मन में भी परिवर्तन हो जाता है, जैसे नशे की वस्तु खा लेने पर या अधिक ज्वर हो जाने पर। पागलपन की अवस्था में भी मानसिक पतिवर्तन देखा जाता है। चूँकि मस्तिष्क शरीर का ही एक अंग है अतः यह मानना पड़ता है कि चेतनता शरीर का ही गुण है। अतः आत्मा शरीर से अलग नहीं है।

न्याय दर्शन, जो देह और आत्मा को अलग–अलग मानता है, का कहना है कि जिस चीज को हम आँख से देखते हैं उसी को हाथ से छूते हैं। जैसे आँख ने कलम को देखा, फिर हाथ ने छूकर मालूम किया तब हमको यह ज्ञान हुआ कि आँख से देखी हुई वस्तु और हाथ से छुई हुई वस्तु दोनों एक ही है।[4] आँख से प्राप्त कलम का ज्ञान और हाथ से प्राप्त कलम के ज्ञान में जो साधन रूप हैं, उन्हें जो काम में ला रही है, वह आँख और हाथ से अवश्य भिन्न है और वही आत्मा है। यहाँ कोई कह सकता है कि विषयों की व्यवस्था ही ऐसी है कि आँख रूप को देखे और हाथ कठोरता को छूये। यदि इन इन्द्रियों से अलग आत्मा नाम की कोई चीज होती तो विषयों की अलग–अलग व्यवस्था करने की क्या आवश्यकता थी। फिर भी हम आँख से खट्टापन चखते और जीभ से देखते। न्याय दर्शन कहता है कि अलग–अलग इन्द्रियाँ अलग–अलग विषयों को ग्रहण करती हैं, यही व्यवस्था तो आत्मा की सत्ता को प्रमाणित करती है। ऐसा भ्रम इसलिए होता है कि हम नीबू में मात्र दो ही व्यापार को स्वीकार करते हैं – पीलेपन को देखने का और खट्टेपन को चखने का, जबकि उसमें तीन व्यापार होते हैं। एक पीलेपन को देखने का, दूसरा खट्टेपन को चखने का और तीसरा जिसे हम अनदेखा कर देते हैं वह है जो यह कहता है कि जिसमें हमने आँख से पीलापन देखा उसी में खट्टापन भी चखा। यही कहनेवाला आत्मा है। यह भावना न तो आँख की है और न ही जीभ की।

'एक आत्मनः शरीरे भावात्', पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है कि चूँकि देह के साथ ही ज्ञान आदि व्यापार देखे जाते हैं इसलिए लोग ऐसा मान लेते हैं कि यह देह का ही धर्म है। यदि ऐसा है तो फिर देह होते हुए भी ज्ञान का अभाव क्यों देखा जाता है? क्यों नहीं माना जाता कि ज्ञान शरीर का धर्म नहीं है।[5] मरने पर शरीर तो रहता है लेकिन उसमें प्राण आदि की चेष्टायें नहीं होती हैं,[6] जबकि रूप आदि जो शरीर के धर्म हैं वे रहते हैं। स्मृति आदि जो शरीर के धर्म नहीं हैं मरने के उपरान्त नहीं रहते।[7] इस प्रकार शंकराचार्य आत्मा और देह की भिन्नता को मानते हुए कहते हैं कि यदि चेतनता शरीर का गुण होती तो शरीर में सदा पाई जाती। इससे यह प्रमाणित होता है कि चेतनता शरीर का धर्म नहीं है। यदि कोई यह कहता है कि चेतनता या ज्ञान चार भूतों के मिलने से उत्पन्न हो जाता है, जैसे– शराब में नशा, तो प्रश्न होता है कि भूतादि क्या हैं? विषय या विषयी? जड़ कभी भी विषयी नहीं हो सकता। आग अपने को नहीं जलाया करती और न ही नट अपने ही कंधों पर चढ़ सकता है। रूप आदि स्वयं के रूप को या दूसरे के रूप को नहीं देख सकते, अतः देखने वाला और जानने वाला कोई और ही है।[8] वह है आत्मा। यहाँ आचार्य शंकर कहते हैं कि ज्ञान में स्मृति और विस्मृति का विशेष स्थान होता है। लेकिन यह स्मृति और विस्मृति किसको होती है? क्या यह स्मृति आँख के पास रहती है या वह किसी को दे देती है? यदि यह मानते हैं कि वह आँख

के पास ही रहती है तो दूसरे ज्ञान को प्राप्त करना असंभव हो जायेगा, क्योंकि वह ज्ञान सदैव आँख के सामने बना रहेगा। लेकिन देखा यह जाता है कि जब कोई वस्तु आँख के सामने से हट जाती है तो उसका ज्ञान भी धुँधला हो जाता है। मन्दिर में रहनेवाले पुजारी को मन्दिर का सौन्दर्य उतना स्पष्ट नहीं होता जितना पहली बार देखने वाले व्यक्ति को। इसका मतलब है कि हमारी इन्द्रियाँ प्राप्त ज्ञान को कहीं जमा करती हैं या प्रेषित कर देती हैं और वह स्थान है– आत्मा। यदि स्मृति आँख का धर्म होती तो हमारी बायीं आँख द्वारा देखी गई वस्तु दायीं आँख किसी भी कीमत पर नहीं पहचान सकती। जहाँ तक शरीर के रहने पर स्मृति के रहने और शरीर के न रहने पर उसकी अनुपस्थिति का प्रश्न है तो यह उसी प्रकार है जिस प्रकार दीपक के रहने पर वस्तु दिखाई देती है और न रहने पर वस्तु दिखाई नहीं देती।[9] इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वस्तु देखने वाला दीपक है बल्कि वह तो एक उपकरण मात्र है। ठीक इसी प्रकार शरीर के रहने पर स्मृति रहती है और शरीर के न रहने पर स्मृति नहीं रहती। शरीर तो एक उपकरण मात्र है। वस्तुतः स्मृति तो आत्मा को होती है।

अब प्रश्न उठता है कि हम आत्मा और शरीर को एक मानें या अलग–अलग। यदि हम आत्मा और शरीर को एक–दूसरे से अलग मानते हैं तो शरीर–धर्म जैसे भूख, प्यास, मैथुन, निद्रा आदि का सम्बन्ध नैतिकता से नहीं रहेगा और न ही हिंसा–व्यभिचार आदि अनैतिक कर्म होंगे। साथ ही समस्त शारीरिक कर्मों की शुभता–अशुभता के लिए आत्मा को उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है। कायकृत कर्मों का फल उसे नहीं मिलना चाहिए। यह न्यायसंगत नहीं होगा कि इस जन्म के शरीर द्वारा किये गये कर्मों का फल दूसरे जन्म का शरीर भोगे। ऐसी स्थिति में अकृतागम का दोष होगा। यदि हम आत्मा और शरीर दोनों को एक ही मानते हैं तो शरीर के विनाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जायेगा और शुभाशुभ कर्मों का प्रतिफल अभोग्य रह जायेगा। इस तरह कृतप्रणाश के दोष से वंचित नहीं रहा जा सकता।

गीता की दृष्टि से अगर इन समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने का प्रयास करें तो वहाँ शरीर नष्ट होता है आत्मा नष्ट नहीं होती है। जैसे व्यक्ति वस्त्रों को जीर्ण होने पर बदल देता है वैसे यह आत्मा भी जीर्ण शरीरों को बदल देती है।[10] साथ ही शरीर को क्षेत्र और आत्मा को क्षेत्रज्ञ मानते हुए[11] यह भी कहा गया है कि हमारा वर्तमान व्यक्तित्व क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ या शरीर और आत्मा के संयोग से उत्पन्न हुआ है।[12]

जैन दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो वहाँ आत्मा और शरीर को भिन्न तथा अभिन्न दोनों माना गया है। *राजप्रश्नीयसूत्र* में देहात्मवाद के पूर्व पक्ष को और उनका खण्डन करने वाले उत्तर पक्ष को राजा पएसी और श्रमण केशीकुमार के बीच संवाद रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो निम्न रूप है :

राजा पएसी श्रमण केशीकुमार के सामने प्रश्न उपस्थित करते हैं कि हे श्रमण! मेरे दादा अत्यन्त अधार्मिक थे। आपके कथनानुसार वे अवश्य ही नरक में उत्पन्न हुए होंगे। मैं अपने पितामह को इष्ट, कान्त यानी अभिलषित, प्रिय, मनोज्ञ, मणाम (अतीव प्रिय), धैर्य और विश्वासपात्र था, अतः मेरे पितामह को आकर मुझसे यह कहना चाहिए कि हे पौत्र! मैं तुम्हारा पितामह इसी श्वेताम्बिका नगरी में अधार्मिक कृत्य करता था यावत् प्रजाजनों से राजकर लेकर भी यथोचित रूप में उनका पालन व रक्षण नहीं करता था। इस कारण बहुत एवं अतीव कलुषित पापकर्मों का संचय करके मैं नरक में उत्पन्न हुआ हूँ। किन्तु हे पौत्र! तुम अधार्मिक मत होना, प्रजाजनों से कर लेकर उनके पालन–रक्षण में प्रमाद मत करना और न बहुत से मलिन पाप कर्मों का उपार्जन–संचय ही करना।[13]

देहात्मवादियों के इस तर्क के प्रतिउत्तर में केशीकुमार श्रमण ने कहा– हे राजन्! जिस प्रकार तुम अपने अपराधी को इसलिए नहीं छोड़ देते हो कि वह जाकर अपने पुत्र–मित्र और ज्ञातजनों को यह बताये कि मैं पापी हूँ और अपने पाप के कारण दण्ड भोग रहा हूँ, तुम ऐसा मत करना। इसी प्रकार नरक में उत्पन्न तुम्हारे पितामह तुम्हें प्रतिबोध देने के लिए आना चाहकर भी यहाँ आने में समर्थ नहीं हैं। नारकीय जीव चार कारणों से मनुष्य लोक में नहीं आ सकते। सर्वप्रथम तो उनमें नरक से निकल कर मनुष्य लोक में आने की सामर्थ्य ही नहीं होती। दूसरे नरकपाल उन्हें नरक से बाहर निकलने की अनुमति भी नहीं देते। तीसरे नरक सम्बन्धी असातावेदनीय कर्म के क्षय नहीं होने से वे वहां से नहीं निकल पाते। चौथे उनका नरक सम्बन्धी आयुष्य कर्म जब तक क्षीण नहीं होता तब तक वे वहाँ से नहीं आ सकते। अतः तुम्हारे पितामह के द्वारा तुम्हें आकर प्रतिबोध न दे पाने के कारण यह मान्यता मत रखो कि जीव और शरीर एक ही हैं, अपितु यह मान्यता रखो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है।[14] केशिकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने दूसरा तर्क किया।

हे श्रमण! मेरी दादी अत्यन्त धार्मिक थीं। आप लोगों के मत के अनुसार वह निश्चित ही स्वर्ग में उत्पन्न हुई होंगी। मैं अपनी दादी का अत्यन्त प्रिय व मनोज्ञ था, अतः उन्हें तो मुझे आकर यह बताना चाहिए कि, हे पौत्र! अपने पुण्य कर्मों के कारण मैं स्वर्ग में उत्पन्न हुई हूँ। तुम भी मेरे समान धार्मिक जीवन बिताओ, जिससे तुम भी विपुल पुण्य का उपार्जन कर स्वर्ग में उत्पन्न होओ। क्योंकि मेरी दादी ने स्वर्ग से आकर मुझे ऐसा प्रतिबोध नहीं दिया, अतः मैं यही मानता हूँ कि जीवन और शरीर भिन्न–भिन्न नहीं हैं।[15]

राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशिकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया– हे राजन्! यदि तुम स्नान, बलिकर्म और कौतुकमंगल करके देवकुल में प्रविष्ट हो रहे हो, उस समय कोई पुरुष शौचालय में खड़ा होकर यह कहे कि, हे स्वामिन्! यहाँ आओ! कुछ समय के लिए यहाँ बैठो तो क्या तुम उस पुरुष की बात

को स्वीकार करोगे। नहीं, क्योंकि निश्चय ही तुम उस अपवित्र स्थान पर जाना नहीं चाहोगे।[16] इसी प्रकार हे राजन्! देवलोक में उत्पन्न देव वहाँ के दिव्य काम–भोगों में इतने मूर्छित और तल्लीन हो जाते हैं कि वे मनुष्य लोक में आने की इच्छा नहीं करते। दूसरे, देवलोक सम्बन्धी दिव्य भोगों में तल्लीन हो जाने के कारण उनका मनुष्य सम्बन्धी प्रेम व्युच्छिन्न हो जाता है, अतः वे मनुष्य लोक में नहीं आ पाते। पुनः, मनुष्य लोक इतना दुर्गन्धित और अनिष्टकर है कि उसकी दुर्गन्ध के कारण देव मनुष्य लोक में आना नहीं चाहते हैं। अतः तुम्हारी दादी के स्वर्ग से नहीं आने पर यह श्रद्धा रखना उचित नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न–भिन्न नहीं हैं।

अब राजा पएसी ने केशिकुमार श्रमण के समक्ष एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया। राजा ने कहा कि मैंने एक चोर को जीवित ही लोहे की कुम्भी में बन्द करवा कर उसे अच्छी तरह से लाह से उसका मुख ढ़क दिया, फिर उस पर गरम लोहे और रांगे से लेप करा दिया तथा उसकी देख–रेख के लिए अपने विश्वासपात्र पुरुषों को रख दिया। कुछ दिन पश्चात् मैंने जब उस कुम्भी को खुलवाया तो वह मनुष्य मर चुका था किन्तु उस कुम्भी में कोई भी छिद्र या दरार नहीं थी जिससे उसमें बन्द पुरुष का जीव बाहर निकला हो।

इसी प्रकार मैंने एक पुरुष को प्राण रहित करके एक लौह कुम्भी में डाल दिया तथा ढक्कन से उसे बन्द करके उस पर रांगे का लेप करवा दिया, कुछ समय पश्चात् जब उस कुम्भी को खोला गया तो उसका शरीर कृमिकुल से व्याप्त हो गया था, किन्तु उसमें कोई दरार या छिद्र नहीं था जिससे उसमें जीव प्रवेश करता। अतः जीव और शरीर भिन्न–भिन्न नहीं है।

राजा पएसी की इस शंका का समाधान करते हुए केशिकुमार ने कहा– हे राजन्! जिस प्रकार एक ऐसी कुटागारशाला जो अच्छी तरह से आच्छादित हो, उसका द्वार गुप्त हो, यहाँ तक कि उसमें कुछ भी प्रवेश नहीं कर सके वैसी कुटागारशाला में कोई व्यक्ति यदि जोर से भेरी बजाये तो तुम बताओ कि वह आवाज बाहर सुनायी देगी कि नहीं? निश्चय ही वह आवाज सुनायी देगी। अतः जिस प्रकार शब्द अप्रतिहत गति वाला है उसी प्रकार आत्मा भी अप्रतिहत गति वाला है। अतः तुम यहाँ श्रद्धा करो कि जीव और शरीर भिन्न–भिन्न हैं।[17]

इसी तरह जिस प्रकार लोहे के गोले में छेद नहीं होने पर भी अग्नि उसमें प्रवेश कर जाती है, उसी प्रकार जीव भी अप्रतिहत गति वाला होने से कहीं भी प्रवेश कर जाता है।

राजा ने फिर एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया और कहा कि मैंने एक चोर के शरीर के विभिन्न अंगों को काटकर, चीरकर देखा लेकिन मुझे कहीं भी जीव नहीं दिखाई दिया। अतः शरीर से पृथक् जीव की सत्ता सिद्ध नहीं होती। इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार ने कहा कि 'हे राजन्! जैसे जलती हुई लकड़ी के बुझ जाने पर लकड़ी को चीर कर आग पाने की इच्छा रखने वाला मनुष्य मूर्ख है, वैसे ही शरीर

को चीर कर जीव देखने की इच्छा वाले तुम भी कुछ कम मूर्ख नहीं हो। जिस प्रकार अरणि के माध्यम से अग्नि अभिव्यक्त होती है उसी प्रकार आत्मा भी शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, किन्तु शरीर को चीरकर उसे देखने की प्रक्रिया उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है जैसे अरणि को चीर–फाड़कर अग्नि को देखने की प्रक्रिया। अतः हे राजन् यह श्रद्धा करो कि आत्मा अन्य है और शरीर अन्य है।[18]

जैन ग्रन्थ *'भगवतीसूत्र'* में गौतम महावीर से पूछते हैं– भगवन्! जीव वही है जो शरीर है या जीव भिन्न है या शरीर भिन्न है। गौतम के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महावीर कहते हैं– हे गौतम! जीव शरीर भी है और शरीर से भिन्न भी है।[19] आचार्य कुन्दकुन्द ने भी यह माना है कि आत्मा और शरीर एक है लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से लेकिन नैश्चयिक दृष्टि से कदापि एक नहीं हैं।[20] यह सत्य भी है क्योंकि आत्मा और शरीर के एकत्व को स्वीकार किये बिना स्तुति, वंदन, सेवा आदि नैतिक क्रियाएँ असंभव हैं तथा आत्मा और देह की भिन्नता माने बिना आसक्तिनाश और भेदविज्ञान की संभावना नहीं हो सकती।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आत्मा और शरीर दोनों की सत्ता है और दोनों के संयोग का नाम ही व्यक्त्वि है। एक कथन है 'मैं खाता हूँ।' इस कथन के सन्दर्भ में पहला प्रश्न होता है कि कौन खाता है? क्या शरीर खाना खाता है, नहीं। क्योंकि यदि शरीर खाना खाता तो मृत शरीर को भी खाना खिलाया जा सकता। लेकिन ऐसा नहीं होता है। तब दूसरा प्रश्न उठता है कि क्या आत्मा है जो खाना खाती है, नहीं। एक चेतन पदार्थ, जड़ पदार्थ को कैसे खा सकती है। पीड़ा किसको होती है शरीर को या आत्मा को? यदि केवल शरीर ही होता तो पीड़ा नहीं होती और यदि शरीर भी होता और आत्मा भी होती लेकिन उनमें सम्बन्ध नहीं होता तो भी पीड़ा नहीं होती। अतः आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है इसे नकारा नहीं जा सकता।

प्राध्यापक,
पार्श्वनाथ विद्यापीठ,
आई.टी.आई. रोड, करौंदी, वाराणसी

सन्दर्भ

1. *चार्वाक षष्टि, गगनदेव गिरि, ज्योति प्रकाशन, पटना, 1980*
2. *वही*
3. *All mental states (no matter what their character as regards utility may be) are followed by bodily activity of some sort. They lead to inconspicious changes in breathing, circulation, general muscular tension and glandular or other viceral activity, even if they do not lead to conspicuous movements of the muscles of the voluntary life. Psychology, p. 5*
4. *दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्तग्रहणात्, न्यायदर्शनम् 3/1/1*

5. यदि देहभावे भावाद् देहधर्मत्वमात्मधर्माणां मन्येत, ततो देहभावेऽप्यभावादतद्धर्मत्वमेवैषां किं न मन्येत। ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, अनुवाद– यतिवर श्री भोलेबाबा, प्रका0–भारतीय विद्या प्रकाशन, 1898, 3/3/54, पृ0–2112
6. प्राण चेष्टादयस्तु सत्यपि देहे मृतावस्थायां न भवन्ति । वही, पृ0–2112–2113
7. देहधर्माश्च रूपादयः परैरप्युपलभयन्ते, न त्वात्मधर्माश्चैतन्यस्मृतादयः। वही, पृ0– 2113
8. यदनुभवनं भूतभौतिकानां तच्चैतन्यमिति चेत्, तर्हि विषयत्वात्तेषां न तद्धर्मत्वमश्नुवीत; स्वात्मनि क्रिया विरोधात् । न ह्यग्निरुग्णः सन् स्वात्मानं दहति, नहि नटः शिक्षितः सन् स्वस्कन्धमधिरोक्ष्यति। नहि भूतभौतिकधर्मेण सता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयीक्रियेत् । वही, पृ0– 2114
9. अपि च सत्सु प्रदीपादिषूपकरणेषूपलब्धिर्भवति, असत्सु न भवति। वही, पृ0–2116
10. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्नान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। श्रीमद्भगवद्गीता, 2/22
11. इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। वही, 13/1
12. यावत् संजायते किञ्चित सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि भरतर्षभ।। वही, 13/26
13. अहं तव अज्जए होत्था, इहेव सेयवियाए नयरीए अधम्मिए जाव नो सम्मं करभरवित्तिं पवत्तेमि, तए णं अहं सुबहुं पावं कम्मं कलिकलुसं समज्जिनित्ता नरएसु उववण्णे, तं मा णं नत्तया! तुमं पि भवाहि अधम्मिए जाव नो सम्मं करभरवित्तिं पवत्तेहि, मा णं तुमं पि एवं चेव सुबहुं पावकम्मं जाव उववज्जिहिसि। तं जइ णं से अज्जए ममं आगंतं वज्जा तो णं अहं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा जहा अन्नो जीवो अन्नं सरीरं। जम्हा णं अज्जए ममं आगंतुं नो एवं वयासी तम्हा सुपइट्ठिया मम पइन्ना समणाउसो! जहातज्जीवो तं सरीरं। राजप्रश्नीयसूत्र, 244, सम्पा0– युवाचार्य मधुकर मुनि, प्रका0–आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1992
14. वही, 245
15. वही, 246
16. तए णं केसी कुमारसमणे पएसीरां एवं वासी– जाति णं तुमं पएसी! ण्हायं कयबलिकम्मं कयकोउयमंगलपायच्छित्तं उल्लपडसाडगं भिंगारकडुच्छुयहत्थगयं देवकुलमणुपविसमाणं केइ य पुरिसे वच्चघरिंसि ठिच्चा एवं वदेच्चा– एह ताव सामी! इह मुहुत्तगं आसयह वा, चिट्ठह वा, निसीयह वा, तुयट्टह वा, तस्स नं तुमं पएसी! पुरिसस्स खणमवि पडिसुणिज्जासि? वही, 247
17. वही, 249
18. वही, 259
19. भगवतीसूत्र, 13/7/495, सम्पा0– युवाचार्य मधुकर मुनि, प्रका0–आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
20. समयसार, 27

देहात्म की समस्या और पाश्चात्य बुद्धिवादी दर्शन

डॉ. श्यामकिशोर सिंह

भारतीय दर्शन में शरीर और आत्मा के अन्तर सम्बन्ध पर व्यापक विमर्श हुआ है। सम्पूर्ण उपनिषद्–दर्शन आत्मा की वास्तविकता के अन्वेषण का एक अद्भुत प्रस्थान–बिन्दु प्रस्तुत करता है। *कठोपनिषद्* में यम और नचिकेता के संवाद, *छान्दोग्योपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्* आदि में इस पर गम्भीरता से विचार किया गया है। किन्तु देहात्मवाद के सम्बन्ध में सबसे अधिक स्पष्ट विचार भौतिकवादी चार्वाक दर्शन में प्राप्त होता है जहाँ चैतन्य–विशिष्ट देह को ही आत्मा मानते हुए इस सिद्धान्त का विवेचन किया गया है। आत्मा एवं शरीर के सम्बन्ध पर विचार करने के क्रम में कम से कम चार प्रमुख विचार दृष्टिगत होते हैं–

1. देहात्मवाद, 2. इन्द्रियात्मवाद, 3. मनात्मवाद, 4. प्राणात्मवाद

बौद्ध दर्शन में भी नित्य आत्मा का निरास करते हुए रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पाँच के समुदाय अर्थात् पंचस्कन्ध को ही आत्मा कहा गया है। सांख्य–योग दर्शन में पुरुष और प्रकृति अर्थात् भूत एवं चेतना के द्वैत का पारस्परिक सहभाग तथा क्रिया–प्रतिक्रिया का अद्भुत समन्वय हमें प्राप्त होता है।

पाश्चात्य बुद्धिवादी दर्शन के प्रमुख तीन स्तम्भ हैं– रेने देकार्त, बेनेडिक्ट स्पिनोजा और जी.डब्ल्यू लाइबनित्ज। बुद्धिवादी चिन्तन ने पूर्वाग्रहों का त्यागकर दर्शन को एक नई दिशा दी। रेने देकार्त दर्शन को मध्ययुगीन धार्मिक दासता से मुक्त कर एक स्वतंत्र वातावरण दिया। उनके द्वारा दिये गये दार्शनिक अवदानों को भुलाया नहीं जा सकता, जैसे– सन्देहवादी दार्शनिक पद्धत्ति, आत्मवादी चिन्तन, द्वैतवादी दृष्टिकोण इत्यादि। देकार्त द्वारा स्थापित बुद्धिवादी दार्शनिक पद्धत्ति को आगे बढ़ाने का कार्य बेनेडिक्ट स्पिनोजा ने किया जो लाइबनित्ज के दर्शन में जाकर पूर्णता को प्राप्त हुआ। इन तीनों दार्शनिकों में से किसी को भी अनदेखा कर के बुद्धिवादी दर्शन पर विचार नहीं किया जा सकता। बुद्धिवादी चिन्तन में 'द्रव्य' ही विचार का केन्द्र रहा है। द्रव्य के स्वरूप निर्धारण के साथ–साथ देहात्म की समस्या भी बुद्धिवादी दर्शन का प्रमुख विवेच्य विषय रहा है। शायद ही कोई ऐसा बुद्धिवादी दार्शनिक रहा होगा जिसने देहात्म का स्वरूप क्या है? क्या वह सापेक्ष

है या निरपेक्ष है ? या देह ही आत्मा है ? या दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं? आदि समस्याओं पर चिन्तन न किया हो। यदि हम आत्मा और शरीर को एक मानते हैं तो प्रश्न उठता है कि दोनों का सम्बन्ध कैसे बनता है? क्योंकि दोनों के गुण अलग–अलग हैं। आत्मा चेतन, अविभाज्य, विवेकी, अमूर्त, अप्रसारित, सरल, अभौतिक, बौद्धिक-है तो शरीर अचेतन, विभाज्य, अविवेकी, मूर्त, प्रसारित, जटिल भौतिक तथा अबौद्धिक है। सही माने में देखा जाए तो इस समस्या का मूल कारण है जड़ और चेतन का एक साथ दृष्टिगोचर होना है। व्यवहार में तो हम शरीर को ही 'मैं' से सम्बोधित करते हैं, जैसे– 'मैं दुबला हूँ', 'मैं मोटा हूँ' आदि।

देहात्म की समस्या के समाधान स्वरूप पाश्चात्य जगत् में हमें चार प्रकार के सिद्धान्त देखने को मिलते हैं–

1. क्रिया–प्रतिक्रियावाद (Interactionism) 2. निमित्तवाद (Occasionalism) 3. समानान्तरवाद (Parallelism) 4. पूर्व–स्थापित सामंजस्य (Pre-established Harmony)

क्रिया–प्रतिक्रियावाद (Interactionism) के प्रतिपादक रेने देकार्त हैं। देकार्त ने सन्देह की पद्धति के द्वारा आत्मा की सत्ता को प्रमाणित किया और कहा कि मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ (I think therefore I am)। अब प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा है तो वह रहती कहाँ हैं शरीर में या शरीर से बाहर। व्यावहारिक जगत् में तो हम शरीर और आत्मा को एक–दूसरे को प्रभावित करते हुए देखते हैं। जब हम कोई कार्य करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि मन का शरीर पर प्रभाव पड़ता है और जब ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि शरीर का मन पर प्रभाव है। अतः प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शरीर और आत्मा आपस में सापेक्ष नहीं है तो दिन–प्रतिदिन के हमारे कार्य कैसे सम्पादित होते हैं? इस समस्या के समाधान के लिए देकार्त ने क्रिया–प्रतिक्रियावाद को प्रस्तुत किया। क्रिया–प्रतिक्रियावाद के अनुसार शरीर और मन दोनों एक दूसरे पर क्रिया करते हैं। शरीर मन पर क्रिया करता है और मन शरीर पर क्रिया करता है। अपने इस मत के समर्थन में देकार्त ने घोड़े और घुड़सवार का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा कि जिस प्रकार घुड़सवार द्वारा एड़ लगाने पर घोड़ा गतिशील हो जाता है और घोड़े को गतिशील देखकर घुड़सवार प्रसन्न होता है, उसी प्रकार मन भी शारीरिक क्रियाओं को उत्तेजित करता है तथा शारीरिक क्रियाओं को देखकर तुष्टि को प्राप्त करता है। देकार्त द्वारा घोड़े और घुड़सवार का दिया गया यह उदाहरण सांख्य दर्शन मे दिये गये अन्धे और लंगड़े के उदाहरण के समान ही सटीक नहीं बैठता, क्योंकि यहाँ भी दृष्टान्त और द्राष्टान्त में अन्तर है। साथ ही दोनों का सम्बन्ध अँधे और लंगड़े के सम्बन्ध की भाँति चेतन सम्बन्ध है जबकि आत्मा और शरीर में एक चेतन है तो दूसरा अचेतन। घोड़े और घुड़सवार दोनों मे उद्देश्यगत साम्य है।

अब प्रश्न उठता है कि आत्मा और शरीर का सम्बन्ध हम मान भी लें तो यह सम्बन्ध घोड़े और घुड़सवार की भाँति हमें दिखाई नहीं पड़ता है। इसके जबाव में देकार्त ने ऐसी भूल कर डाली जिसने उन्हें द्वैतवादी की श्रेणी में ला खड़ा कर दिया। देकार्त ने कहा हमारे मस्तिष्क के अग्र भाग में पुरातत नाड़ी (Pineal Gland) है जहाँ पर आत्मा और शरीर का मिलन होता है। पुरातत नाड़ी पर ही आत्मा और शरीर का पारस्परिक आदान–प्रदान होता है। शरीर चलता है और चलने की अनुभूति आत्मा को होती है। इसी प्रकार मन में प्रेम उत्पन्न होता है और शरीर को इसका सुखद अनुभव होता है। लेकिन समस्या उत्पन्न होती है कि यदि आत्मा अमूर्त और निराकार है तो वह पुरातत नाड़ी में कैसे रह सकती है? यदि वह पुरातत नाड़ी में रहती है तो उसे अमूर्त और निराकार नहीं कहा जा सकता है? इस समस्या के समाधान हेतु देकार्त ने निरपेक्ष (ईश्वर) द्रव्य और सापेक्ष (चित् और अचित्) द्रव्य की सत्ता को स्वीकार कर अपने को द्वैतवादी घोषित कर लिया। फिर भी समस्या यथावत बनी रही, क्योंकि जड़ और चेतन तथा विस्तार और विचार में किसी प्रकार की समानता है ही नहीं।

निमित्तवाद (Occasionalism) अरनॉल्ड ग्यूलिंक्स (Arnold Geulinex) और निकोलस मेलेब्रान्श (Necolus Malebranche) की देन है। ग्यूलिंक्स और मेलेब्रान्श दोनों रेने देकार्त के शिष्य थे। इन्होंने देकार्त के क्रिया–प्रतिक्रियावाद में व्याप्त दोषों के समाधान स्वरूप निमित्तवाद को प्रस्तुत किया। इनका मानना है कि यदि वास्तव में शरीर और आत्मा एक दूसरे से भिन्न हैं, तो उनका वास्तविक संयोग नहीं हो सकता है, क्योंकि एक का गुण चेतन है तो दूसरे का विस्तार। इस समस्या के समाधान के लिए देकार्त ने क्रिया–प्रतिक्रियावाद को प्रस्तुत किया, लेकिन उनके शिष्यों ने कहा कि शरीर और आत्मा का संयोग ईश्वर की इच्छा के आधार पर होता है। ईश्वर ही गति का नियन्ता है, उसी की प्रेरक शक्ति से देह और आत्मा का सम्बन्ध बनता है। अपने कथन को पुष्ट करने के लिए उन्होंने बिलियर्ड के गेंद की उपमा दी है। बिलियर्ड की एक गतियुक्त गेंद दूसरे स्थिर गेंद से टकराती है और उसमें गति उत्पन्न हो जाती है। निमित्तवादी दूसरे गेंद में गति के कारण के रूप में प्रथम गेंद को कारण रूप में स्वीकृति नहीं देते हैं। उनका मानना है कि प्रथम गेंद में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि वह दूसरे गेंद में गति उत्पन्न कर सके। इसके लिए ईश्वर का होना आवश्यक है। ईश्वर के कारण ही गति उत्पन्न होती है। ईश्वर के कारण ही जब मेरे मन में कोई इच्छा उत्पन्न होती है तो उसके अनुरूप शरीर में गति उत्पन्न हो जाती है और जब गति उत्पन्न होती है तो इच्छा का भी अभ्युदय हो जाता है। ऐसा ईश्वर के कृत्यों की एकरूपता के कारण होता है। ज्ञान और गति की क्रिया का निमित्त कारण ईश्वर के सिवाय कोई दूसरा नहीं है।

ग्यूलिंक्स और मेलेब्रान्श का निमित्तवाद देकार्त के क्रिया–प्रतिक्रियावाद की तरह विसंगतियों से अछूता नहीं रह सका, क्योंकि यदि ईश्वर ही सबकुछ है तो फिर मानवीय स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व का कोई औचित्य नहीं रह जायेगा। इसी प्रकार ईश्वर ही सबकुछ है तो फिर जगत् में अन्याय, अनीति, दुराचार आदि नहीं होने चाहिए।

समानान्तरवाद (Parallelism) स्पिनोजा के चिन्तन की परिणति है। देह और आत्मा की समस्या के समाधान हेतु देकार्त ने क्रिया–प्रतिक्रियावाद को तो ग्यूलिंक्स और मेलेब्रान्श ने निमित्तवाद को प्रस्तुत किया। स्पिनोजा ने देकार्त तथा ग्यूलिंक्स और मेलेब्रान्श की मान्यताओं की अस्वीकार करते हुए कहा कि देकार्त की यह भूल थी कि उन्होंने पहले देह और आत्मा को एक दूसरे का विरोधी माना और फिर क्रिया–प्रतिक्रिया के द्वारा दोनों के बीच जबरदस्ती सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। इसी प्रकार ग्यूलिंक्स और मेलेब्रान्श ने भी देकार्त की भाँति देह और आत्मा को स्वतंत्र एवं विरोधी द्रव्य मानकर ईश्वर के माध्यम से इन दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का असफल प्रयास किया। स्पिनोजा ने कहा कि हम भौतिकवादियों की भाँति अचेतन से चेतन की और प्रत्ययवादियों की तरह चेतन से अचेतन की व्याख्या नहीं कर सकते। जड़ और चेतन, विस्तार और विचार दोनों ईश्वर के गुण हैं। अतः इन दोनों में कार्य–कारण सम्बन्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता। दोनों एक–दूसरे से स्वतंत्र, समानान्तर और सहयोगी हैं। सहयोगी और समानान्तर होने के कारण ही यदि आत्मा में कोई विचार उठता है तो शरीर उसके समानान्तर प्रतिक्रिया करता है और शरीर पर कोई आघात होता है तो आत्मा उससे प्रभावित होती है। ऐसा इसलिए होता है कि चेतन और अचेतन ईश्वर के गुण हैं और दोनों का स्तर समान है। दोनों ईश्वर के स्वरूप हैं। प्रत्यक्ष और संकल्प दोनों ही परिस्थितियों में देह और मनस् एक–दूसरे में परिवर्तन लाने में सक्षम नहीं हैं। जो भी परिवर्तन होता है उसका मूल कारण ईश्वर है.।

स्पिनोजा का समानान्तरवाद भी देहात्म की समस्या का समाधान पूर्णरूपेण नहीं कर पाया, क्योंकि जहाँ शारीरिक क्रिया है वहाँ मानसिक क्रिया भी अवश्य होगी, चाहे दोनों में कितनी ही भिन्नता क्यों न हो। दूसरी समस्या यह है कि एक ही सत्ता में आत्मा और शरीर दोनों समानान्तर रूप में रहते हैं तो दोनों एक दूसरे को बाधित नहीं करते होंगे जबकि व्यावहारिक जगत् में यह देखा जाता है कि किसी चिन्तन की ध्यानमग्न अवस्था में अचानक किसी आवाज से हम चौंक जाते हैं जो मानसिक क्रिया में शारीरिक बाधा है।

पूर्वस्थापित सामंजस्य (Pre-established Harmony) लाइबनित्ज द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त है। लाइबनित्ज ने देकार्त और स्पिनोजा की मान्यताओं को

अस्वीकार करते हुए कहा कि चेतना के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता है ही नहीं क्योंकि जिसे हम जड़ कहते हैं वह जड़ नहीं बल्कि ईषत् चेतना है। जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो चेतनाविहीन हो। पाषाण से लेकर ईश्वर तक चेतनता ही चेतनता है। आत्मा और शरीर दोनों ही चिद्णु हैं। एक श्रेष्ठ चिदणु है तो दूसरा निम्न चिदणु। लेकिन है चिदणु ही। चिदणु अनेक हैं और सभी अपने आप में स्वतंत्र हैं। किसी को किसी की अपेक्षा नहीं होती। अब प्रश्न होता है कि यदि सभी चिदणु निरपेक्ष हैं तो फिर जगत् में जो सामंजस्य बना रहता है वह कैसे होता है? लाइबनित्ज ने कहा कि चिदणु स्वतंत्र और निरपेक्ष होते हुए भी एक दूसरे के सहयोगी हैं। विश्व में जो भी व्यवस्था, एकता या सामंजस्य देखने को मिलता है उसका कारण चिदणुओं का चिद्णु अर्थात् ईश्वर है। ईश्वर ने चिदणुओं के निर्माण से पूर्व ही उनके बीच एक ऐसी व्यवस्था कायम कर दी है कि सभी चिदणुओं में समान परिवर्तन हो। यही लाइबनित्ज का पूर्वस्थापित सामंजस्य है। इसी पूर्व स्थापित सामंजस्य के आधार पर उन्होंने देहात्म की समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया है। देहात्म की समस्या के समाधान हेतु लाइबनित्ज ने दो घड़ियों का दृष्टांत दिया है तथा कहा है कि ईश्वर इतना बड़ा घड़ीसाज है जिसने आत्मा और शरीर का निर्माण करते समय ही उन्हें आपस में इस तरह व्यवस्थित कर दिया कि एक समान समय देना उसकी नियति है।

लाइबनित्ज द्वारा देहात्म की समस्या का दिया गया समाधान भी विसंगतियों से अछूता नहीं है, क्योंकि चिद्णुओं में पूर्व सामंजस्यता है तो फिर वे स्वतंत्र नहीं हो सकते। चिदणु अनादि और अनन्त हैं तो फिर आत्मचिदणु और शरीर चिदणु भी अनादि और अनन्त होने चाहिए। ईश्वर जो सर्वोत्तम चिदणु है वह चिदणुओं का स्रष्टा कैसे हो सकता है और कैसे पूर्व–स्थापित सामंजस्य स्थापित कर सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीरात्मवाद की समस्या जहाँ थी वहां की वहीं रह जाती है। सबने अपने–अपने ढंग से देहात्म की समस्या का समाधान ढूंढने का प्रयास किया। देकार्त ने देह और आत्मा को स्वतंत्र द्रव्य मानकर दोनों में क्रिया–प्रतिक्रिया स्वीकार किया। ग्यूलिंक्स और मेलेब्रांश ने ज्ञान और कर्म को ईश्वर पर आधारित माना तथा उसके आधार पर आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को स्थापित करने का प्रयत्न किया। स्पिनोजा ने एक द्रव्य की सत्ता मानकर शरीर और आत्मा को दो समानान्तर धाराओं के रूप में व्याख्यायित किया। लाइबनित्ज ने इस समस्या के लिए पूर्व–स्थापित सामंजस्य को प्रस्तुत किया, लेकिन किसी ने भी निर्विवाद समाधान प्रस्तुत नहीं किया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आत्मा और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक दार्शनिक चिंतन की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है – देहात्मवाद, जिस पर पूर्व एवं पश्चिम

दोनों ही दर्शनों में व्यापक रूप से व्याख्याएँ की गई हैं। किन्तु देहात्मवाद की समस्या दर्शन में आज भी इसी प्रकार बनी हुई है और इसके पक्ष और विपक्ष में इतना विमर्श हुआ है कि यह निर्विवाद रूप से कह पाना कठिन है कि देह और आत्मा के बीच में क्या सम्बन्ध है? और किस प्रकार चैतन्य युक्त आत्मा देह से सम्बद्ध होती है, किस प्रकार पृथक् होती है और किस प्रकार अन्तर सम्बन्ध की क्रिया–प्रतिक्रिया सम्पादित होती है।

व्याख्याता, दर्शन विभाग,
ए.बी.एस. कॉलेज, लालगंज,
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार

शंकर के मोक्ष का रहस्य

डॉ. अनिल कुमार

मोक्ष भारतीय दर्शन का परम पुरुषार्थ है। यह परम आनन्द की अवस्था है। वैसे मुक्ति का अर्थ ही होता है, छुटकारा। यानी दुःख और पीड़ा छूट जाती है, इसके लिए हमें अंतःकरण में प्रवेश करना होता है। *शिव–गीता* में कहा गया है–

मोक्ष्य न हि वासोस्ति न ग्रामान्तरम वा

अज्ञान हृदय–ग्रन्थिः–नासो मोक्ष इति स्मृतः (*शिव–गीता,* XIII, 32)

अर्थात्– मोक्ष किसी विशेष जगह में नहीं मिलता, न ही इसे प्राप्त करने के लिए किसी दूसरे 'गाँव' में जाना पड़ता है, अज्ञान का विनाश जो हृदय की गाँठ है, ही मोक्ष है। व्यक्ति के मरने पर शरीर छूटता है लेकिन दुःख नहीं छूटता है, जैसे– युद्धिष्ठिर महाराज ने कितने दान–पुण्य तीर्थ किये उसके बदले में स्वर्ग आदि भोगे फिर उनको नरक भी देखना पड़ा। चूँकि चित्त का स्वभाव है– मैं सुखी–दुःखी भोग करनेवाला हूँ। श्रीराम हनुमान जी को उपदेश देते हैं कि मैं दुःखी हूँ–सुखी हूँ। कर्त्ता और भोक्ता हूँ यही बन्धन का कारण है –

शंकराचार्य ने *प्रबोध सुधाकर* ग्रंथ में कहा है नाद के भीतर रहनेवाली जो ज्योति है, उसमें यदि मन चिरकाल तक लीन हो जाय तो फिर मनुष्य संसार–बन्धन में नहीं पड़ता (श्लोक 148)।

शंकराचार्य की मोक्ष विषयक अवधारणा वास्तव में रहस्यपूर्ण है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधक को साधन चतुष्टय का ज्ञान तो होना आवश्यक है क्योंकि इससे शरीर और मन की बाह्य शुद्धि हो जाती है। साथ ही साधक मोक्ष प्राप्त करने के लिए दृढ़–संकल्पित हो जाता है। यह वास्तव में समर्पण की भावना है। समर्पण का ताप्तर्य है तन और मन से समर्पण तब ही मोक्ष का मार्ग खुलता है। एलेक्जेन्डर दि ग्रेट की यह एक कथा है जिसमें सिकन्दर ने एक बड़े नामी डाकू को पकड़कर बाँध रखा था। उसने डाकू से पूछा ''तुम लोगों को लूटते क्यों हो ? डाकू ने कहा– मेरे शरीर को तुमने बाँधा है, मेरे मन को नहीं यही फर्क है कि तुम बड़ा डाकू हो और मैं छोटा डाकू हूँ। इस कथन–ताप्तर्य है कि – सिकन्दर ने डाकू के शरीर को बाँधा था उसके मन को नहीं। मन को समर्पित करने से मोक्ष का घर खुलता है

अतः समर्पण मन से होना चाहिए। इसलिए शंकराचार्य साधक को मोक्ष के लिए गुरु के शरण में जाने को कहते हैं क्योंकि गुरु के बिना अंतः प्रकाश नही होगा। अंधकार का अंधकार रहेगा। हमको जो बताया जाय कि ऐसे साधन करो, हम पूछने लगें कि अंधकार में ध्यान करने से क्या होगा ? उत्तर में कहें कि प्रकाश मिलेगा। फिर हम पूछें कि प्रकाश कैसे मिलेगा ? तो इसमें श्रद्धा नहीं रहती। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा हम पूछें कि प्रकाश कैसे मिलेगा ? तो इसमें श्रद्धा नही रहती। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा – ''श्रद्धावॉल्लभते ज्ञानम्।''

जो सीखता है वह गुरु की सेवा करता है। अपने समय में भगवान श्रीराम जी, श्री लक्ष्मण जी गुरु के पाँव दबाये थे। भगवान श्रीकृष्ण जी ने भी गुरु की सेवा की थी। क्योंकि गुरु सत्यमार्ग पर चलने के लिए उत्तप्रेरित करते हैं। *रामचरितमानस* में गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है –

बन्दो गुरूपद कंज, कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तमपुंज, जासु वचन रविकर निकर।।

गुरु के साथ–साथ श्रवण–मनन–निदिध्यासन का सहारा लेना पड़ता है। आत्मा और अनात्मा का विचार ही वेदान्त ज्ञान है। इससे आगे ज्ञान नहीं जाता। जहाँ वेदान्त ज्ञान है वहाँ कहा गया है कि ज्ञान को दो भागों में बाँटा गया है – परोक्ष और अपरोक्ष। परोक्ष ज्ञान में गलती भी हो सकती है किन्तु अपरोक्ष ज्ञान में गलती नहीं हो सकती है। परोक्ष ज्ञान के अन्दर ही श्रवण मनन ज्ञान है और जब तक साधन करते हैं तब तक का ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। यहाँ ज्ञान की पूर्णता नहीं है। पढ़कर–सुनकर जो ज्ञान होता है वह अधूरा ज्ञान है। जबतक निदिध्यासन में नहीं होंगे, तबतक ज्ञान पूरा नहीं होगा। निदिध्यासन का अन्त होने पर अनुभव ज्ञान होता है और तब पूर्ण ज्ञान होता है।

श्रवण ज्ञान अग्नि है। मनन ज्ञान बिजली है। निदिध्यासन ज्ञान बड़वानल के समान है और अनुभव ज्ञान प्रलयकाल की अग्नि है सारे द्वैत– प्रपंच को जलाकर भस्म कर देती है। तब साधक को गुरु 'तत्त्वमसि' (तू ही ब्रह्म हैं) की दीक्षा देते हैं। जब साधक इस तथ्य की अनुभूति करने लगता है तब वह ब्रह्म का साक्षात्कार कर पाता है, जिसके फलस्वरूप वह कह उठता है 'अहं ब्रह्मस्मि' (I am Brahman) जीव और ब्रह्म का भेद हट जाता है। बन्धन का अन्त हो जाता है तथा मोक्ष की अनुभूति हो जाती है। मोक्ष की अवस्था में जीव–ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। यद्यपि मोक्ष शंकर के अनुसार तद्रूप अवस्था ''क्योंकि 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई '' बाह्मी स्थिति है। इस भाव को दुनिया वैसे पागल कहती है 'लेकिन बड़े अहर्निश प्रयास के बाद यह अवस्था फलित होता है। जगत् गुरु शंकराचार्य जी महाराज कृत *देव्यपराधक्षमापन स्तोत्र* में कहा गया है –

न मोक्षास्याऽ कांक्षा भव विभवाज्छापि च न मे
न विज्ञानपेक्षा शशिमुखी सुखेच्छापि न पुनः
अतस्तत्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै
मृडानी रूद्राणी शिव–शिव भवानीति जपतः।

अर्थात मुख में चन्द्रमा की शोभा धारण करनेवाली मां मुझे मोक्ष की इच्छा नहीं है, संसार के वैभव को भी अभिलाषा नहीं है, न विज्ञान की अपेक्षा है, न सुख की आंकाक्षा, अतः तुमसे मेरी यही याचना है कि मेरा जन्म 'मृडानी, रूद्राणी, शिव, शिवा, भवानी' इन नामों का जाप करते हुए बीते। वास्तव में देखा जाय, तो शरीर आत्मा के रहने की जगह होने के कारण तीर्थ जैसा पवित्र है। यह देवताओं का एक ऐसा मंदिर है, जहाँ सूर्य आँख के स्थान में आकर अंशरूप में रह रहा है, वायु प्राण बनकर वक्षःस्थल में निवास कर रहा है, अग्नि वाणी के रूप में मुख में तथा जठराग्नि के रूप में पेट में है। इस प्रकार देवता अंशकाल में इसमें आकर रह रहे हैं। मन को आसक्ति से बचाने पर ही यह शरीर मथुरा बन सकता है तथा हृदय गोकुल। तन, मन, बुद्धि तथा अंतःकरण से – भगवत्प्रेरणा से कर्म करना ही अनासक्त योग है।

मुक्ति दुःख से छुटकांरा को कहते हैं। दुःख का छुटकारा शरीर के नाश होने पर संभव है। शरीर यह जो हाड़–माँस का है यही एक शरीर नहीं है। इसके अंदर सूक्ष्म–शरीर है। इसको कोई आँख से नहीं देख सकता है। जैसे स्थूल–शरीर को, मोटे शरीर को स्थूल नजर से देखते हैं, वैसे ही सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्म दृष्टि से देखने योग्य है। उसके बाद तीसरा शरीर है कारण शरीर। कारण शरीर के अन्दर एक और शरीर है जिसको महाकारण शरीर कहते हैं। इन चारों जड़ शरीरों से छूटने को मुक्ति कहते हैं।

आत्मा और शरीर का तादात्म्य मिथ्या है, भ्रांति है, अध्यास है। अंतः अधिष्ठानभूत आत्मा–साक्षात्कार से अविद्या–निवृत्ति होते ही शरीर के रहने पर भी अशरीरत्व को सुख–दुःख स्पर्श नही करते। जिस प्रकार सर्प की अपनी केंचुल को उतार फेंकने पर उसमें कोई आसक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार जीवन्मुक्त को अपने शरीर में कोई आसक्ति नहीं रहती, क्योंकि वह अशरीर अमृत ब्रह्म ही है। जिस प्रकार मदिरा–मदान्ध व्यक्ति को यह बुद्धि और चिन्ता नहीं रहती है कि उसका वस्त्र उसके शरीर पर है या गिर रहा है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त सिद्ध को यह बुद्धि और चिन्ता नहीं रहती कि उसका नश्वर शरीर पड़ा है या खड़ा है। जिस प्रकार कुम्हार का चाक, उसके हाथ हटा लेने के बाद भी पूर्व वेग के कारण कुछ देर घूमता है उसी प्रकार जीवन्मुक्त का शरीर प्रारब्ध कर्म के कारण कुछ समय तक बना रहता है, किन्तु इस अवधि में कर्मसंचय नहीं होता। प्रारब्ध–कर्म नष्ट होने पर देहपात होकर विदेहमुक्ति होती है। विदेह मुक्ति सिर्फ विधान का पालन है जैसे–राजा जनक इसके ज्वलंत उदाहरण है।

शंकर ने मोक्ष को प्राप्तस्य–प्राप्ति कहा है। मोक्ष–प्राप्ति की व्याख्या वेदान्त दर्शन में एक उपमा से की जाती है। जिस प्रकार कोई रमणी अपने गले में लटकते हुए हार को इधर–उधर ढूँढ़ती है उसी प्रकार मुक्त आत्मा मोक्ष के लिए प्रयत्नशील रहती है।

शंकर के इस कथन से ऐसा लगता है कि हमें मोक्ष के लिए कहीं दूर जाना नहीं है बल्कि शरीर में ही खोज करनी है क्योंकि शरीर समुद्र के समान गहरा है। इसमें ध्यान द्वारा डुबकी लगाने की जरूरत है जैसा कि कबीर साहब भी कहते है –

मैं मरजीवा समुद्रं का, डुबकी मारी एक।
मुट्ठी लाया ग्यान की, जामें वस्तु अनेक।।

इस प्रकार शरीर के अन्दर में प्रवेश करने से वह ब्रह्म प्राप्त होता है, जिसमें केवल कीमती वस्तुएँ ही हैं, जिसे पाकर व्यक्ति शुद्ध, सत्, शुद्ध चित और शुद्ध आनन्द में विहार करता है।

मोक्ष क्यों ? यह एक स्वाभाविक प्रश्न है। जीव में कुत्सित विचार हैं। उसके निराकरण की आवश्यकता है। मोक्ष शांत और आनन्द की अवस्था है। इसे प्राप्त हो जाने पर जीव खुश और प्रसन्न रहता है। वेदान्त में मन निग्रह के लिए ज्ञान को आवश्यक बतलाया है। उनकी मान्यता है कि केवल ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है (ज्ञानादेव मुक्तिः)। *गीता* के भी चौथे अध्याय के 38वें श्लोक में ज्ञान की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।

अर्थात् इसलिए इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितने काल से अपने–आप समत्व बुद्धिरूप योग के द्वारा अच्छी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण हुआ पुरुष आत्मा में अनुभव करता है। लेकिन ज्ञान के लिए गुरु की आवश्यकता है। कबीर ने भी कहा है–

बिनु गुरू ज्ञान नाम ना पैहो, बिरथा जनम गंवाई हो।
जल भरि कुंभ घरे जल भीतर, बाहर–भीतर पानी हो।।

इसलिए मनुष्य को शरीर पर अहंकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि शरीर अनित्य है। मनुष्य जन्म के पहले भी बिना शरीर के रहते हैं और मरने के बाद भी बिना शरीर के रहते हैं। भगवान् श्री कृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय के 28वें श्लोक में रहस्य का उद्घाटन बड़ा ही सटीक रूप में किया है–

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।28।।

वास्तव में ज्ञान से संशय दूर होता है। चिंता और परेशानी से भी मुक्ति मिल जाती है। यह आत्म–तत्व बड़ा गहन है। व्यावहारिक स्तर पर भी इसकी आवश्यकता है। ज्ञान से ही अनुशासन का पालन मन में पनपता है और अनुशासन हमारी प्रगति में सहायक है। अनुशासन से खुद का विकास होता है। राज्य और देश की तरक्की भी अनुशासन से सम्भव है। इसलिए शंकराचार्य साधन–चतुष्टय के पालन पर बल देते हैं, क्योंकि इससे चित्त का विकार दूर होता है। हमें नित्य और अनित्य वस्तुओं के भेद का ज्ञान प्राप्त होता है। शंकराचार्य की मोक्ष संबंधी अवधारणा अनुशासनात्मक होने की वजह से समाजीकरण में भी सहायक है। क्योंकि अरस्तू ने भी बतलाया कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति का विकास समाज में रहकर ही सम्भव है। और जहां ज्ञान और अनुशासन है, वहां रामराज है, क्योंकि स्वयं का बोध हमें ईमानदार और चरित्रवान बनाने का पाठ सिखलाता है। सरकार भी ईमानदार और चरित्रवान व्यक्ति को पुरस्कृत करते हैं और सामाजिक स्तर पर भी मनुष्य परस्पर इस व्यवहार की अपेक्षा रखते हैं, क्योंकि पारस्परिक सहयोग और सौहार्द पर ही नित्य नए अनुसंधान सम्भव हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकर के मोक्ष की अवधारणा बूंद का सागर में मिल जाना ही नहीं, बल्कि यह उद्घोष *तत्वमसि,* एकता, तादात्म्य का केवल आध्यात्मिक स्तर के लिए सत्य नहीं बल्कि मनुष्य जहां खड़ा है, वहां भी एकत्ववाद की आवश्यकता है। यह वसुधैव कुटुम्बकम् का भी उद्घोष करने में संजीवनी बूटी है और आज के ग्लोबलाईजेशन को मूर्त रूप देने का जबरदस्त हथियार है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि शंकर का मोक्ष एक अनुशासन की प्रक्रिया के तहत् प्राप्त हो सकता है। यह ध्यान योग के द्वारा संभव है। इस योग की क्रिया किसी ब्रह्मविद् गुरु के चरण में ही श्रद्धापूर्वक बैठकर हासिल किया जा सकता है। शंकर की यह यौगिक क्रिया बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग, जैन के त्रिरत्न और पंतजलि के अष्टांग–मार्ग के समान है जिस पथ पर चलकर कोई भी राही भवसागर से पार उतर सकता है। यद्यपि यह मार्ग ध्यानमार्ग है, दुरूह और कठिन तो जरूर है लेकिन वेद के *चरैवेति–चरैवेति* के मार्ग का अवलंबन करके ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है।

अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
एम.एल.आर्य कॉलेज, कसबा, पूर्णियाँ
बी.एन. मंडल विश्वविद्यालय, मधेपुरा

शिक्षा जगत् में दर्शन की अनिवार्यता

डॉ. विशाखा कुमारी

'दर्शन जोड़ है, घटाव नहीं' इसका तात्पर्य यह है कि दर्शन शब्द संकेत है पवित्रतम सत्ता की ओर, जिसके साक्षात्कार से सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास हो जाता है। वस्तुतः दर्शन दृश धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है देखना। यानी परम तत्व का साक्षात् करना। "आत्मानं विद्धि" भारतीय दर्शन का उद्घोष है। आत्मा परम मंगलमय है क्योंकि इसमें जीवात्मा का मिलन परमात्म तत्त्व से होता है। खण्ड का अखण्ड से, सान्त का आनन्द से होता है।

योग की प्रणाली के अनुसार मानसिक एवं धार्मिक नियन्त्रण के अन्दर से गुजरना आवश्यक है। उपनिषदें भी इसी बात पर बल देती हैं कि लक्ष्य पर पहुँचने से पूर्व कठोर तपस्या एवं धार्मिक जीवन बिताना आवश्यक है। *प्रश्न उपनिषद्* में पिप्पलाद ईश्वर के विषय की जिज्ञासा के लिए आए हुए छः जिज्ञासुओं को एक वर्ष और नियंत्रण में बिताने के लिए यह आदेश देकर वापस लौटा देता है कि "तुम जाओ और एक वर्ष और ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करो, तपस्या करो और श्रद्धा को धारण करो।" ब्रह्मचर्य के जीवन में परिवार से कोई संबंध नहीं रहने के कारण विद्यार्थी का मन विचलित नहीं होता और इसलिए वह अपने कार्य में पूरा–पूरा ध्यान दे सकता है। आत्मनिग्रह एवं तपश्चर्या उसे मानसिक शांति प्रदान करते हैं और मन निश्चल होकर ज्ञान का सम्पादन करने में समर्थ होता है। प्रत्येक कार्य के लिए श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है। योगदर्शन का एवं सभी प्रकार की आध्यात्मिक रहस्यमय शिक्षाओं का सारतत्त्व है कि मनुष्य को स्वयं को साधारण स्तर से ऊँचे उठाकर उच्चकोटि के स्तर पर पहुँचाने से ही दैवीय चेतना सत्ता के साथ साक्षात्कार हो सकता है अन्यथा नहीं।

ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा बाहर–भीतर की पवित्रता, आहार शुद्धि और इन्द्रियों का संयम ये योग के साधन हैं। इन सबके द्वारा साधक का तेज बढ़ता है। इन साधनों के द्वारा उसके संकल्प सिद्ध होने लगते हैं और हृदय में विज्ञान का आविर्भाव हो जाता है।

वर्तमान शिक्षा–प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व–बन्धुत्व की धारणा का प्रसार नहीं करती। वह मस्तिष्क को उन्मुक्त नहीं करती, न आत्म–साक्षात्कार के

लिए ले जाती है। राधाकृष्णन् के शब्दों में– "हमारी शिक्षा ने हमें बौद्धिक बन्धनों से स्वतंत्र नहीं किया है। वह मस्तिष्क को उत्तेजित तो करती है परन्तु तृप्त नहीं करती। हम कविता पढ़ते हैं, चलचित्र देखते हैं तथा उपन्यास पढ़ते हैं और समझ लेते हैं कि हम सुसंस्कृत हैं। हमारा विवेक केवल दिखावा है।" आज डाक्टर की दृष्टि रोगी की निरोगता की तरफ नहीं है अपितु रूपयों की तरफ है कि अब यह जाल में फँस गया, इससे अधिक–से–अधिक रूपये कैसे ऐंठे जायें। पहले वैद्य लोग रोग की नब्ज देखकर अपनी बुद्धि लगाते थे पर अब डॉक्टर सीधे तरह–तरह की मशीनी जाँच लिख देते हैं; क्योंकि उन्हें प्रत्येक जाँच में कमीशन मिलता है। स्कूल–कॉलेजों में भी घूस (डोनेशन) देकर दाखिला मिलता है। अध्यापक स्कूलों में भलीभाँति नहीं पढ़ाते, जिससे विद्यार्थी ट्यूशन लगाने के लिए मजबूर हो जाता है। कोई किसी की सहायता, सेवा या उपकार भी करता है तो उसकी दृष्टि पैसा कमाने के तरफ रहती है। बिना पैसे के कोई किसी के लिए कुछ नहीं करना चाहता।

रूपयों के लोभ से संसार में इतनी भयंकर–भयंकर बुराइयाँ फैल रही हैं, जिनकी कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। बड़े शहरों में युवा व्यक्तियों का अपहरण करके उनके गुर्दे आदि निकाल कर बेच दिये जाते हैं। इन सब गड़बड़ियों का कारण मन है। यह आधुनिक शिक्षा की देन है। जहाँ तक दर्शन का प्रश्न है यह सूक्ष्म का ज्ञान है। इसकी आवश्यकता आज के शिक्षा–व्यवस्था में महसूस की जा रही है। शिक्षा में उदंडता और अराजकता यह इंगित करती है कि स्कूल और कॉलेजों में दर्शन की अन्य शाखाओं, जैसे– नैतिक विज्ञान, नैतिक शिक्षा की पढ़ाई अनिवार्य की जानी चाहिए। इससे शिक्षा में संतुलन बना रहेगा। यद्यपि इसका जिक्र महात्मा गाँधी, श्री अरविन्द करते हैं। समकालीन शिक्षा दार्शनिकों के साथ–साथ राधाकृष्णन् भी नैतिक शिक्षा को पाठ्यक्रम का आवश्यक अंग मानते हैं। इसके बिना विद्यालय जिन युवक–युवतियों को समाज में भेजते हैं वे सामाजिक उत्तरदायित्व को पूरा नहीं कर सकते। भारतीय संस्कृति में नैतिक चरित्र को विशेष महत्त्व दिया गया है। नैतिक शिक्षा संकल्प की शिक्षा है। उसका प्रारम्भ परिवार में होता है। विद्यालय में विद्यार्थी शिक्षकों के अनुकरण से नैतिक नियम सीखता है। नैतिक शिक्षा से जीवन का लक्ष्य स्पष्ट होता है और जीवन का लक्ष्य स्पष्ट किये बिना जीवन अर्थपूर्ण नहीं हो सकता। किसी भी देश की महानता उसकी भौतिक सभ्यता से नहीं, किन्तु उसकी नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति से जांची जानी चाहिए। अस्तु, चाहे शिक्षा में व्यावसायिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कितना भी प्रयास किया जाय, नैतिक शिक्षा के बगैर शिक्षा पूर्ण नहीं हो सकती। आजकल भौतिक शिक्षा का महत्व इसलिए भी बढ़ गया है कि संसार को भावी विश्व–युद्ध की विभीषिका से बचाने के लिए मानव प्राणियों की नैतिकता ही एक मात्र आधार है। नैतिकता का यह बीज

विद्यालय में ही जमाया जाएगा। राधाकृष्णन् ने लिखा है ''हमें उचित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहिए, किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न मनुष्य ही पूर्ण मनुष्य न बन जायें। पूर्ण मनुष्य के लिए आत्मा का आनन्द एवं सौंदर्य आवश्यक है जो प्रेम तथा आस्था तथा पुनर्जीवित मावनता के लिए कार्य करने की क्षमता से लबालव भरा हो।''

शिक्षा – जगत् में दर्शन की पढ़ाई से अनेक त्वरित लाभ हो सकते हैं जैसे पंचशील या पंचमहाव्रत के पालन से सामाजिक समरसता का भाव उदय हो सकता है, सत्य के पालन से कोई अनाचार नहीं होगा। सत्य का आचरण ही प्रत्येक व्यक्ति परस्पर चाहता है। सत्य से ही देवलोक का मार्ग प्रशस्त होता है। शरीर में सत्य का ही प्रकाश है। महात्मा मनु के अनुसार सत्य ही सनातन धर्म है। अतः सत्य बोले, प्रिय बोले और अप्रिय सत्य न बोले। *महाभारत* में कहा गया है कि सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं और असत्य से बड़ा कोई पाप नहीं है।

अहिंसा – अहिंसा भी शिक्षा–जगत् में एक बहुत बड़ा वरदान है। अहिंसा यह सिखलाता है कि जिस प्रकार हमारा जीवन हमें प्रिय है उसी प्रकार दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है। किसी का वध करना पाप है। यह आचार का सनातन नियम है। इस आचार को मानने वाला किसी की हिंसा नहीं करता अथवा दूसरों के द्वारा की गयी हिंसा का समर्थन नहीं करता। अहिंसा को शाश्वत धर्म मानते हुए महात्मा मनु ने अग्रलिखित आठ प्रकार की हिंसा का वृर्णन किया है :–

01.	अनुमन्ता	–	जिसकी अनुमति के बिना बध नहीं हो सकता।
02.	विशसिता	–	वध किए हुए प्राणियों के अंग को काटना।
03.	निहन्ता	–	वध करनेवाला।
04.	विक्रेता	–	माँस बेचनेवाला।
05.	क्रेता	–	माँस खरीदनेवाला।
06.	संस्कर्ता	–	माँस को पकानेवाला।
07.	अपहर्त्ता	–	उपहार के रूप में माँस को देनेवाला।
08.	खादक	–	माँस खानेवाला।

इस प्रकार अहिंसा सद्भाव के लिए वरदान है। चूँकि इसमें दया भाव का उदय होता है और जिसके हृदय में दयाभाव का उदय हो जाय वह किसी की हिंसा नहीं कर सकता और यह सचमुच में ही ग्लोबलाइजेशन है।

अस्तेय – दर्शन का उपदेश है अस्तेय अर्थात् चोरी न करना। यह अनुशासन और शिष्टाचार का पाठ है। कोई भी व्यक्ति आज के दिन किसी का अपहरण करता है तो उसके अन्दर रूपया का लोभ छिप्रा रहता है। जब व्यक्ति के हृदय में त्याग भाव का उदय होगा तो चोरी क्या घर में बिना ताला के लोग आराम से सोयेंगे। भारतीय दर्शन में स्तेय के कई अंग बताये गए हैं :–

(क) स्वयं चोरी करना, चोरी करने की प्रेरणा देना या चोरी करने की प्रशंसा करना।

(ख) चोरी का माल खरीदना।

(ग) किसी को माप से कम या अधिक में बेचना।

(घ) कम कीमत की वस्तु अधिक में बेचना या अधिक कीमत की वस्तु कम में बेचना।

(ङ.) किसी असामान्य परिस्थिति में वस्तुओं के मूल्य में अनावश्यक वृद्धि करना।

इन सभी प्रकार की चौर–वृत्ति से बचना अस्तेय है।

अपरिग्रह – दर्शन का अपरिग्रह पंचशीलों में महत्वपूर्ण है। अपरिग्रह आवश्यकता से अधिक संग्रह की प्रवृत्ति नहीं है। जब मनुष्य सांसारिक वस्तुओं से अनासक्त रहता है तो उसे दुःख नहीं होता है क्योंकि वस्तु का मोह कष्टकर होता है। यही उपदेश *गीता* का अनासक्त कर्म भी देता है। फलतः मनुष्य को कष्ट नहीं होता है। आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य के हृदय की धड़कन फल के अनुरूप कम या तेज होती है। अतएव इस व्यस्त संसार में अपरिग्रह की शिक्षा दर्शन के माध्यम से फलदायी सिद्ध हो सकता है।

ब्रह्मचर्य – पंचमहाव्रत में ब्रह्मचर्य का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। ब्रह्मचर्य का अर्थ बुद्धि के द्वारा अपनी इन्द्रियों को नियंत्रित करना। इस शील से बहुत लाभ है क्योंकि आज मन इतना प्रदूषित हो गया है कि बाल यौन–शोषण समाजिक अभियान है। इसका उपचार दर्शन की शिक्षाओं में सन्निहित है। कम्प्यूटर या मोबाइल की दुनियाँ में आज भारत भी पश्चिमी सभ्यताओं का शिकार बनता जा रहा है। एड्स जैसी जानलेवा बीमारी आज की शिक्षा की उपज है। मेरी दृष्टि में वेदांत की शिक्षा की अनिवार्यता इस कदर बढ़ गई है कि योग और प्राकृतिक चिकित्सा के द्वारा मनुष्य का अस्तित्व बचाना संभव हो गया है। पाश्यात्य देशों में दार्शनिकों ने दर्शन का कार्य सिर्फ विज्ञान के कथनों का विश्लेषण करना माना था, जो समीचीन नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि दर्शन विज्ञानों का विज्ञान है। सिसेरो इस बात की पुष्टि करते हैं कि– ''ओ दर्शन जीवन के ध्रुवतारे, तेरे बिना न तो हमारा अस्तित्व हो सकता है न स्वयं मानव जीवन का।''

भारत में शिक्षा के प्रसार का दूसरा महत्वपूर्ण चरण लार्ड डलहौजी के शासनकाल से प्रारंभ होता है। 1853 ई० के नए चार्टर में शिक्षा के विकास की जांच करने के लिए एक समिति के गठन का प्रावधान किया गया था। बोर्ड ऑफ कंट्रोल के अध्यक्ष सर चार्ल्स उड की अध्यक्षता में कमिटि गठित की गई। उसने भारत में शिक्षा की एक वृहत् योजना तैयार की। इसे भारतीय शिक्षा का मेग्नाकार्टा कहा जाता है। इसमें उन्होंने दर्शन के प्रसार पर बल दिया था, साथ ही लार्ड रिपन ने 1882 ई० में W. W- हंटर की अध्यक्षता में एक कमीशन गठित किया, जिसका उद्देश्य प्राथमिक

शिक्षा के प्रसार के लिए उपाय भी सुझाने थे। उन्होंने माना कि सरकारी तथा गैरसरकारी स्कूलों में नैतिक शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य होनी चाहिए।

स्वामी दयानंद जो भारतीय शिक्षा व्यवस्था में जनतंत्रीय आदर्श के पोषक हैं, इनके अनुसार– शिक्षा, जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियता और अविद्या से मुक्ति दिलाना।

आज की दुनियाँ में नैतिक विज्ञान की शिक्षा अनिवार्यतः महसूस की जा रही है क्योंकि दर्शन भारत में जीवन के लिए है। सवाल उठता है कि स्वभावतः मन को दर्शन एक दिशा प्रदान करता है, जो आतंक जैसे कैंसर को मूलतः समाप्त करने में सहायक है, जैसे कोई वृक्ष के लगे फल पर सिंचाई करता है तो फल के बड़ा होने की सम्भावना कम नजर आती है। यदि जड़ में पानी डाला जाय तो वृक्ष और फल दोनों को समान रूप से पौष्टिक आहार मिलने की सम्भावना बनेगी। उसी प्रकार दर्शन मन में छिपे आतंक की भावना को नियंत्रण करने में सहायक हो सकता है। सचमुच में मन ही ईश्वर है। व्यावहारिक स्तर पर मन व्यर्थ हरकत में क्रिया करता रहता है। रविन्द्र नाथ ठाकुर की कविता में भी मूढ़ मन के बारे में बड़ा अच्छा वर्णन देखने को मिलता है –

मूढ़ मन पथ खोजता है व्यर्थ,
इतिहास में पाने स्वयं को।
निरुद्देश्य भटकता है कोठरियों से खुले में,
और आगे दूर मैदान को
सघन वनों को।
पटकता है पैरों को धूल उड़ाता
और सिर मारता है द्रुम–दल से,
दौड़ता है प्रवल वेग से,
देखकर आलोक किरण
और पकड़ने उसे चक्कर खाता जाता है
फिर गिरता है घास पर
नन्हें शिशु की नाई
नहीं जानता स्वप्न कहां है
और कहां है जीवन।

इसलिए *गीता* में भी मन को बन्धन और मोक्ष का कारण बताया गया है। *गीता* के छठवें अध्याय के बारहवें श्लोक में मन के निग्रह पर क्रियात्मक पक्ष को दर्शाया गया है, यथा–

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।।12।।

अर्थात्, आसन पर बैठकर तथा मन को एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में किया हुआ अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करना चाहिए।

अभी भारत सरकार ने भी 02 अक्टूबर, 2008 से पूज्य गाँधी के जन्म दिवस से धूम्रपान निषेध कानून लगाया है। यद्यपि यह एक पवित्र और सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में सरकार का स्वच्छ कदम है, किन्तु यह एक ऊपरी इलाज है। लेकिन भारतीय दर्शन में जो वैदिक अवधारणा है उसका संकेत मन में जन्मों से पड़ी काई हो हटाने के लिए योगाभ्यास की आवश्यकता पर बल दिया है। यह तभी सम्भव है, जब दर्शन की शिक्षा, खासकर नैतिक विज्ञान, जो दर्शन का महत्वपूर्ण अंग है, उसकी शिक्षा को प्राथमिक विद्यालय से ही लघु पाठ्यक्रम बनाकर पतंजलि और भगवान बुद्ध के बताये अष्टांगिक मार्ग की शिक्षा उच्च कक्षा तक चलाई जाय तभी समाज में स्वस्थ युवा–वर्ग का निर्माण हो सकता है। वैसे दर्शन की शिक्षा अथाह और समुद्र के जैसा है। इसकी सीमित बूंदों में भी समाज के चित्र को बदलने की अपार क्षमता है, क्योंकि मन से ही कोई साधु होते हैं तो कोई आतंकवादी होते हैं।

अतः भारत में दर्शन की शिक्षा मैकाले की शिक्षा में एक अभूतपूर्व परिवर्त्तन ला सकती है। हम भारतीय मूल शिक्षा को दरकिनार करके बेलगामपूर्वक पाश्चात्य शिक्षा को ग्रहण करते जा रहे हैं, जो आनेवाले भविष्य के लिए खतरे की लाल बत्ती है।

निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि शिक्षा जगत् में दर्शन ''एक पृथ्वी : एक मानव'' का उद्घोषक है। भारतीय दर्शन ''सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया'' का आदर्श प्रस्तुत करता है। ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' इसका नारा है। भगवान बुद्ध के बहुजनहिताय बहुजन सुखाय उत्कृष्ट सुखवाद का लक्ष्य Each one for all (अर्थात् वह अपने लिए ही नहीं वरन् सभी के लिए है)। सुकरात ने तो आज के ग्लोवलाइजेशन की बात बहुत अर्से पहले कह डाली कि मनुष्य केवल अपने नगर राज्य का सदस्य नहीं बल्कि मनुष्यों के सम्पूर्ण समुदाय का सदस्य भी है। वह केवल एथेंस और स्पार्टा का नागरिक नहीं, बल्कि ब्रह्माण्ड का नागरिक भी है। मेरी दृष्टि में शिक्षा जगत् में नैतिक मूल्यों के ह्रास होने की स्थिति में प्राथमिक और माध्यमिक कक्षाओं नैतिक दर्शन की पढ़ाई अनिवार्य महसूस होती है। 19वीं सदी में महान् जर्मन दार्शनिक हेगेल ने अपने 'प्रकृति के दर्शन' का निरूपण करने की कोशिश की। उनका विश्वास था कि सिर्फ दर्शन ही विश्व की सारी पहेलियों को सही तौर से हल कर सकता है। अतएव शिक्षा जगत् में दर्शन की अनिवार्यता एक अमिट छाप छोड़ सकती है।

दर्शनशास्त्र, वार्ड नं.– 2, मधेपुरा, बिहार

स्फोटवाद : एक विश्लेषण

डॉ. हर्षिता सिंह

शब्द–बोध की व्याख्या भारतीय दार्शनिक चिन्तन में अत्यन्त जटिल समस्याओं में से एक है। भारत के व्याकरण–दार्शनिकों ने मूलतः शब्द–ध्वनि के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए स्फोट–सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है। इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक स्फोटायन माने जाते हैं, जिसका उल्लेख हरदत्त ने *काशिका* की *पदमंजरी* टीका में किया है।[1] महान् व्याकरणाचार्य पतंजलि ने अपनी रचना में स्फोट की ओर इशारा किया तथा बाद के व्याकरणाचार्यों ने इस सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाया। अतः पतंजलि का *'पाणिनि सूत्र'*, पर महाभाष्य, माधवाचार्य का *'सर्व–दर्शन–संग्रह'* तथा भर्तृहरि का *'वाक्यपदीय'* स्फोट सिद्धान्त के पोषक–ग्रन्थ माने जा सकते हैं तथा इनके आधार पर स्फोट अपना स्वरूप ग्रहण करता है।

स्फोट की उत्पत्ति 'स्फुट' शब्द से है जिसका तात्पर्य होता है– व्यक्त होना (to express)। अतः इसकी परिभाषा के रूप में कहा जा सकता है– "The word *sphota* is explained either as that which is expressed or revealed by letter sounds or as that which expresses or reveals a meaning." अर्थात् अक्षर–ध्वनियों द्वारा व्यक्त तथ्यों के लिए स्फोट की व्याख्या की जाती है या अर्थ को प्रकट करने के लिए इसकी व्याख्या होती है। शब्द का अक्षर या अक्षर–समूह पहले सुना जाता है और फिर उसका अर्थ–बोध होता है। भतृहरि ने *वाक्यपदीय* में इस तथ्य का उल्लेख किया है कि संसार में कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है, जो शब्द–सम्पर्क के बिना उत्पन्न हो सके।[2] शब्द–ज्ञान से ही अर्थबोध संभव होता है। शब्दों के इस अर्थ–प्रकाशन की क्षमता को ही 'स्फोट' की संज्ञा दी जाती है जो 'शक्ति' या 'संकेत' का पर्यायवाची है। इसी संकेत या अर्थ को सूचित करने की शक्ति के कारण शब्दों को 'वाचक' कहा जाता है और इनसे जो विषय सूचित होता है उन्हें 'वाच्य' कहते हैं। एक समस्या यह सामने आती है कि उच्चरित भाषा के वाच्य अर्थ और वाचक शब्द में जो स्थान, करण आदि का भेद है, वह कैसे आ जाता है? यदि शब्द–तत्त्व में शब्द–अर्थ अविभाज्य है तो उसके प्रकाशक ध्वनिरूप शब्द में भी अखण्डता क्यों नहीं रह जाती? यदि उच्चरित ध्वनि समूह में क्रम या विभाग आ जाता है तो उच्चरित ध्वनि–समूह का अर्थ के साथ सम्बन्ध किस प्रकार हो जाता

है? स्फोटवादियों के मतानुसार इसका उत्तर यह होगा कि तात्त्विक शब्द अविभाज्य है। वह शब्द–रूप भी है और अर्थ–रूप भी। उसमें शब्द और अर्थ का विभाग नहीं। जब वैखरी भाषा में व्यक्त ध्वनियों से उस तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है तब व्यक्त ध्वनियों में क्रम या विभाग अवश्य रहता है, फिर भी उस क्रम युक्त व्यक्त ध्वनि समूह का बुद्धि में स्थित अखण्ड शब्द–तत्त्व से तादात्म्य हो जाने के कारण शब्द और उसके अर्थ का अभिन्न रूप में बोध हो जाता है।[3]

स्फोटवादी विचारकों की मान्यता है कि स्फोट अव्यक्त और नित्य है ध्वनि–या वर्ण उस नित्य और अव्यक्त स्फोट को व्यक्त करते हैं। जिस प्रकार अव्यक्त नित्य तथा व्यापक जाति की अभिव्यक्ति व्यक्तियों में होती है, उसी प्रकार अव्यक्त, नित्य तथा व्यापक स्फोट की अभिव्यक्ति ध्वनियों में होती है। इसलिए स्फोटरूप शब्द–तत्त्व की ही तात्त्विक सत्ता मानी जाती है। पतंजलि ने भाष्य में इस तथ्य का उल्लेख किया है कि स्फोट ही शब्द का तात्त्विक रूप है। ध्वनि शब्द का गुण है, जिस ध्वनि में स्फोटवाद शब्द की अभिव्यक्ति होती है।[4]

उस नित्य और अखण्ड शब्द–तत्त्व में, शब्द और अर्थ में कोई भेद नहीं। उस मूल रूप में शब्द–अर्थ एकाकार है। वह शब्द–तत्त्व अविभाज्य एवं नित्य है। व्यवहार में शब्द और अर्थ को पृथक्–पृथक् कल्पित कर लिया जाता है।[5]

पतंजलि ने *महाभाष्य* में शब्द तत्त्व की नित्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए स्फोट सिद्धान्त को पुष्टि की है। उनकी मान्यता है कि शब्द नित्य हैं। उन नित्य शब्दों में वर्णों की कूटस्थ अर्थात् अचल होना चाहिए, जिसमें जय, बुद्धि या विकास नहीं हो।[6] पतंजलि ने स्फोटवाद शब्द तत्त्व की परिभाषा में कहा है कि जिसकी कर्णेन्द्रिय से उपलब्ध होती है, जो बुद्धि से ग्रहण किया जाता है, जो प्रयोग से अर्थात् उच्चारण से प्रकाशित होता है, वह आकाश में रहने वाला तत्त्व शब्द है। उस शब्द का आश्रय भूत आकाश भी एक या अखण्ड है।[7] पतंजलि के इस शब्द–लक्षण पर टिप्पणी देते हुए नागेश ने यह सिद्ध किया है कि पतंजलि ने शब्द की इस परिभाषा में स्फोटवाद शब्द का स्परूप स्पष्ट किया है। शब्द का ग्रहण कान से होना इस बात का प्रमाण है कि शब्द आकाश का धर्म है। कान आकाश का अंश है। कान के भीतर आकाश श्रोत कहलाता है। अतः श्रोत आकाशगत तत्त्व को ही ग्रहण करता है। शब्द को आकाश में स्थित मान कर पतंजलि ने शब्द–तत्त्व की अंखडता की धारणा प्रकट की है। शब्द का आश्रय आकाश एक है, अखण्ड है। अतः उस पर आश्रित तत्त्व, शब्द तत्त्व भी एक है, अखण्ड है। प्रश्न उठता है कि यदि शब्द–अखण्ड है, तो शब्दों में पौर्वापर्य तथा देशगत भेद क्यों दिखाई पड़ता है? नागेश का उत्तर है कि जैसे आकाश के एक या अखण्ड होने पर भी घटाकाश एवं मठाकाश आदि के रूप में उसके भेद की कल्पना कर ली जाती है, उसी प्रकार शब्द के एक होने पर भी उसमें देशगत भेद विभिन्न देशों में रहने वाले व्यक्तियों

द्वारा उच्चरित प्रकाशक ध्वनियों के कारण दिखायी पड़ता है। शब्द तत्त्व को अभिव्यक्त करने वाली ध्वनियों के देश, काल आदि के भेद से उस मूल शब्द–तत्त्व की एकता या अखण्डता की धारणा खंडित नहीं हो जाती।

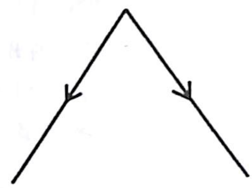
स्फोट सिद्धान्त के अनुसार एक शब्द का अक्षर जो एक सांस में बोला जाता है, साक्षात् रूप में शब्द का अर्थ व्यक्त नहीं करता, न अलग से और न ही संयुक्त रूप से अक्षर शब्द से सूचित अर्थ–प्रकट करता है। प्रत्येक ज्ञात तथ्य निरीक्षित शब्द के अनुरूप एक अज्ञात तथा अनिरीक्षित एवं निरवयव संकेत होता है जो उसके अर्थ को प्रत्यक्षतः व्यक्त तथा प्रकट करता है। इस संकेत को स्फोट कहा जाता है। किसी शब्द के विभिन्न अक्षर केवल इस संकेत को मस्तिष्क में प्रस्तुत करते हैं। पहला अक्षर इस अन्तर्निहित संकेत को मस्तिष्क में अस्पष्ट रूप में लाता है तथा उसके अनुगामी अक्षर जब क्रमिक रूप से सुने जाते हैं तब हमारी चेतना में अधिक से अधिक फोकस आता है। अन्त में अन्तिम अक्षर पूर्णतया संकेत को चेतना में प्रकट कर अर्थवान बना देता है।

जब एक व्यक्ति हमारे समक्ष कुछ बोलने का उपक्रम करता है तो हम उसके होने वाले कथन से बिल्कुल अनभिज्ञ रहते हैं। हमारे अन्दर एक blank expectancy रहती है जो अनुमान के लिए कोई जगह नहीं छोड़ती। लेकिन जैसे–जैसे हम उसके कथन को सुनते हैं, वैसे–वैसे अज्ञानता तथा अस्पष्टता दूर हो जाती है। अतः अज्ञानमूलक अवस्था में आंशिक ज्ञान और आंशिक ज्ञान से पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है। कहा भी गया है– "Meaning of a word is known through a gradually consumated process beginning from complete ignorance, passing through partial knowledge and ending in complete knowledge." अर्थात् अर्थ–बोध एक पूर्ण क्रमिक प्रक्रिया से गुजरता है, जिसकी शुरुआत पूर्ण अज्ञानता से होती है, फिर आंशिक ज्ञान की अवस्था आती है और अन्त पूर्ण ज्ञान में होता है। अतः स्फोट एक अविभाज्य इकाई का सूचक है जिसके व्यक्त होने पर अर्थ–बोध होता है। यह ध्वनि–क्रमों के बारे में उत्पन्न कठिनाई का समाधान करता है तथा यह भी बताता है कि शब्द के सभी विभिन्न अक्षरों की उपयोगिता है।

एक उदाहरण की मदद से स्फोट के स्वरूप तथा क्रम को स्पष्ट किया जा सकता है। जब कोई व्यक्ति Animal शब्द के प्रथम अक्षर "a" का उच्चारण करता है और हम उसे सुनते हैं तब कल्पना के द्वारा हम अपना ध्यान "a" से शुरू होने वाले शब्द पर केन्द्रित करते हैं और अन्य शब्दों से अपना ध्यान हटा लेते हैं। पुनः जब वह दूसरा अक्षर "ni" व्यक्त कहता है तब हमारी आशा और अधिक पारिभाषित होती है जिसके कारण हमारा ध्यान "ani" से प्रारम्भ होने वाले शब्द पर ही जाता है और उससे शुरू नहीं होने वाले शब्द की संभावना का निषेध हो जाता है। इसके

अलावा, जब अन्तिम अक्षर "mal" बोला जाता है तब हमारी चेतना का केन्द्र शब्द का अर्थ–बोध होता है क्योंकि यहां हमारी चेतना में शब्द का अर्थ पूर्णतः परिभाषित हो जाता है। अतः स्फोट शब्द–ध्वनि के अर्थ को व्यक्त करता है।

स्फोट–सिद्धान्त की व्याख्या तथा स्पष्टता के लिए एक रेखाचित्र का प्रयोग भी किया जा सकता है :–



जब हम "animal" शब्द सुनते हैं तब हमें "M" अर्थात् अर्थ–बोध की चेतना नहीं रहती क्योंकि न तो स्मृति से और न प्रत्यक्ष से तत्क्षण ही सम्पूर्ण शब्द को ग्रहण कर सकते हैं। इसका कारण बस इतना ही है कि शब्दों के अक्षर हमारी चेतना में एक के बाद एक आते हैं, न कि एक साथ। लेकिन "animal" शब्द के अनुरूप हमारे मस्तिष्क में कोई अविभाज्य इकाई स्फोट S रहना चाहिए जिसमें कोई अंश नहीं होता। इसलिए उसके विषय में ''पहले'' और ''बाद'' का प्रश्न ही नहीं उठता। यह S अपनी सम्पूर्णता में एक चेतन क्रिया द्वारा ग्रहण किया जाता है जो साक्षात् रूप में M अर्थात् अर्थ प्रकट करता है। शब्द केवल S संकेत को जगाने का काम करता है और जाग्रत होने पर यह S संकेत अर्थ की अभिव्यक्ति करता है।

पुनः, स्फोट सिद्धान्त को बल प्रदान करने के लिए एक दूसरी दृष्टि भी अपनायी जाती है। "Animal" शब्द का उच्चारण विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न समय और विभिन्न स्थान में विभिन्न प्रकार से किया जाता है। उसकी ध्वनि भी भिन्न–भिन्न होती है। फिर भी इन सबको एक माना जाना यह सूचित करता है कि शब्द देश, काल तथा पात्र की सीमा से परे नित्य तथा निरपेक्ष है। प्लेटो की "Idea" की तरह शब्द सामान्य तथा नित्य होता है जिसका अर्थ के साथ साक्षात् तथा नित्य संबंध है। जो ध्वनि सुनकर समाप्त हो जाता है वह तो केवल एक विशेष संवेदना है। किन्तु वह संवेदना एक अश्रव्य संकेत को जागृत करती है जो सामान्य, व्यापक तथा नित्य है। इसी कारण विभिन्न रीति से उच्चारण किया गया "Animal" एक ही अर्थ में प्रयुक्त होता है।

शब्द स्फोट रूप में नित्य, अखण्ड, अव्यक्त और व्यापक है, ध्वनि रूप में वह अनित्य और उत्पत्ति–विनाशशील है। ध्वनि से वह अव्यक्त शब्द–तत्त्व अभिव्यक्त होता है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर आचार्य व्याडि ने *'संग्रह'* नामक ग्रंथ में शब्द को नित्य और अनित्य दोनों माना है। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को नित्य, व्यापक, अखण्ड और अव्यक्त मानकर उसकी बीज–शक्ति माया से सृष्टि का आविर्भाव अर्थात् अव्यक्त ब्रह्म की नामरूपात्मक जगत् में अभिव्यक्ति माना गया है, उसी प्रकार स्फोटवाद में अव्यक्त और नित्य शब्द–तत्त्व की ध्वनि से अभिव्यक्ति मानी जाती है। वेदान्त में सृष्टि की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की जाती है। स्फोटवादी भी व्यक्त ध्वनि को भ्रमात्मक या प्रतिभास–रूप नहीं मानकर उसकी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं।

अद्वैत वेदान्तियों ने स्फोटवाद की कड़ी आलोचना कर उसका निषेध किया है जिसका उल्लेख शंकर के *'ब्रह्मसूत्र–भाष्य'*, वाचस्पति के *'भामति'* तथा *'तत्त्वबिन्दु'* में देखा जा सकता है। इस ग्रन्थों की सामान्य धारा है कि स्फोट की पूर्वकल्पना शब्द–ध्वनि की एकता और उसके अर्थ की संभावना व्यक्त करने के लिए असंतोषप्रद तथा अनावश्यक है। जहां तक असंतोषप्रद होने की बात है, इतना ही कहा जा सकता है कि क्रम–ज्ञान (knwoledge of series) की समस्या केवल शब्द की विशेषता नहीं है। अन्य उदाहरणों में भी क्रम या श्रृंखला या अनुक्रम की बात होती है। चींटी की पंक्तियां, वृक्षों का समूह, सेना या सिपाहियों का झुण्ड आदि ऐसे उदाहरण हैं जहां स्फोट–सिद्धान्त को लागू करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसके अलावा, स्फोटवाद को अनावश्यक कहा जाता है क्योंकि एक सामान्य व्याख्या ही दैशिक तथा कालिक सभी उदाहरणों के श्रृंखला–ज्ञान को स्पष्ट कर सकती है, न कि केवल शब्द–श्रृंखला की व्याख्या। चूंकि स्फोट–सिद्धान्त शब्द–श्रृंखला की विशेष व्याख्या तक सीमित है, इसलिए इससे मौलिक समस्या का समाधान नहीं हो पाता। अतः यदि सामान्य व्याख्या संभव है तो विशेष व्याख्या का कोई अर्थ नहीं होता।

पुनः, शंकर तथा उनके अनुयायी की आपत्ति है कि बुद्धि में समन्वय की शक्ति मौजूद है जिसके द्वारा दैशिक तथा कालिक सभी अंशों के आन्तरिक संबंध बनाए जाते हैं तथा हमें दैशिक तथा कालिक सभी श्रृंखला के उदाहरणों में सम्पूर्णता का ज्ञान रहता है। शंकर बुद्धि के व्यापार को "समस्त प्रत्यवमर्षिणी बुद्धिः" कहते हैं जिसका अर्थ होता है "intellect looking back on past experience as a whole." अतः स्फोट का सिद्धान्त केवल ध्वनि–क्रम की व्याख्या करता है, पर अन्य कालिक–क्रमों की व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। अतः उनके सिद्धान्त की तुलना काण्ट के "Synthetic Unity of apperception" से की जा सकती है जहां भूत

प्रत्यक्षों को बीता हुआ समझने के लिए "आत्मचेतना" की बात की जाती है। हम संवेदनाओं को एक साथ अपने ध्यान में रखते हैं। इसलिए apperception में आत्मचेतना परिलक्षित होती है।

अन्त में कहा जा सकता है कि जिस कठिनाई को स्फोटवाद दूर करना चाहता है, वह स्फोट की कल्पना में ही छिपा हुआ है। ध्वनि की अपने सविकल्पक व्यवस्था (determinate order) में ज्ञान ही वह कल्पना है जिसकी व्याख्या स्फोट–सिद्धान्त करता है। यदि यह ज्ञान संभव है तो शब्द स्वयं साक्षात् रूप में अर्थ व्यक्त कर सकता है तथा स्फोट नामक बीच की कड़ी की कल्पना बेकार है। अतः स्फोटवाद एक अयुक्तिसंगत विचार पर आधारित है, जिसे इनकार कर देना चाहिए।

सम्पूर्ण विवेचन में सरलता तथा स्पष्टता के लिए विभिन्न शब्दों के अनुरूप विभिन्न स्फोटों की सत्ता मान ली गई है। स्फोटवाद के समर्थकों ने स्फोट को अनेक मानने के बजाय परमार्थतः एक माना है। वास्तव में यक एकमात्र सत्ता है जिसका तादात्म्य ब्रह्म से है। लेकिन अद्वैत वेदांत की भांति इन विचारकों ने यह भी माना है कि यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से सत्ता एक है तथापि व्यावहारिक दृष्टि से यह अनेक है। स्फोटों के विभिन्न रूप विभिन्न शब्दों के द्वारा उसी प्रकार व्यक्त होते हैं जिस प्रकार एक ही आकृति के विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति विभिन्न दर्पणों में होती है। इसलिए कहा जा सकता है कि पारमार्थिक एकता (Noumenal unity) के बावजूद स्फोटों की व्यावहारिक अनेकता (Phenomenal plurality) होती है।

विनोबा भावे विश्वविद्यालय,
हजारीबाग, झारखण्ड

संदर्भ

1. *काशिका, पदमंजरी, 6:1:123*
2. *भर्तृहरि, वाक्यपदीय, 1:132*
3. *पतंजलि, महाभाष्य, 1:1:69*
4. *भर्तृहरि, वाक्यपदीय, 1:45*
5. *वही, 1:126*
6. *पतंजलि, महाभाष्य, आ.–2*
7. *वही, आ.–2*

डॉ. अम्बेदकर के सामाजिक न्याय की प्रासंगिकता

श्री सरोज राम

डॉ. अम्बेदकर ने जब "सामाजिक न्याय" के संघर्ष का आह्वान किया था, तो उन्होंने इसकी कल्पना भी न की थी कि बीसवीं सदी के अंत तक इसका स्वरूप इतना विकृत हो जायेगा कि इसे एक अर्थहीन व विवादित संकल्प माना जाने लगेगा। समय और परिस्थितियों के अनुसार आज इसमें व्यापक परिवर्तन आ गया है। आज सामाजिक न्याय की बात की जाती है तो औपचारिकता वश, न कि न्याय प्रदान करने के उद्देश्य से।

डॉ. अम्बेदकर ने समाज के दलित वर्गों के साथ–साथ अन्य पिछड़े वर्गों, महिलाओं, जनजातियों, कमजोर वर्गों इत्यादि में सामाजिक व राजनैतिक चेतना का संचार करने का अथक प्रयत्न किया था। सदियों से एक परम्परा के रूप में चली आ रही हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की कुरीतियों को चुनौती दी थी और उन्हें सचेत किया था कि वे समय के अनुसार अपनी रूढ़िगत प्रथाओं में लचीलापन लाएं तथा अपनी संकीर्ण विचारधारा में परिवर्तन करें। कहने का अभिप्राय यह है कि सामाजिक न्याय अभी तक भारतीय जनता को एक हद तक उपलब्ध नहीं हो पाया है। आज हमारी आजादी के साठ वर्षों के उपरान्त भी सामाजिक–न्याय समाज के लिए एक गंभीर समस्या और चुनौती है। इसमें संदेह नहीं कि देश में, विशेषकर ग्रामीण इलाकों में, गरीबी और दलितो की विशाल जनसंख्या की पीड़ा का मुख्य कारण उनका आर्थिक पिछड़ापन है। देश की 10 पूर्ण पंचवर्षीय योजनाओं की समाप्ति तथा ग्रामीण क्षेत्रों में भारी पूंजी–निवेश के बावजूद ग्रामीण आबादी जो कि, कुल भारत की दो–तिहाई से अधिक है, के जीवन स्तर में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं आ पाया है।

अनुसूचित जातियों व जनजातियों के आयुक्तों की रिपोर्ट से भी स्पष्ट होता जा रहा है कि हमारे समाज का निम्नस्तर पर जीवन–यापन करने वाला वर्ग अर्थात् अनुसूचित जातियों व जनजातियों के साथ–साथ पिछड़े वर्ग की स्थिति दिन प्रतिदिन और भी अधिक बदतर होती जा रही है जिसके कारण समाज में असमानता कम होने की बजाय बढ़ती जा रही है। इसी प्रकार जाति, वर्ग, धर्म, लिंग, भाषा

इत्यादि का सदियों पुराना प्रकोप आज भी जारी है। जात–पात ने हमारे सामाजिक ताने–बाने को इतना कमजोर बनाया हुआ है कि इससे सामाजिक व्यवस्था में पर्याप्त गिरावट आ गयी है और यही कारण भी है कि इसने समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को सदियों से उपेक्षित और आर्थिक दृष्टि से पिछड़ेपन का शिकार बना रखा है। शोषण और दमन पर आधारित इस व्यवस्था में आज करोड़ों लोगों में घोर गरीबी और दुर्दशा लगातार बढ़ती जा रही है। दूसरी ओर समाज का एक सीमित वर्ग इनके खून, पसीने के बल पर लगातार फलता–फूलता जा रहा है। समाज में विद्यमान इस असमानता की खाई के कारण, तनाव, अशांति और कई बार सामाजिक उथल–पुथल का संघर्ष भी हुआ है परन्तु आज भी शोषक वर्ग इस दमनकारी और अमानवीय व्यवस्था को तमाम तरह के हथकंडे अपनाकर कायम किये हुए है। इसी प्रकार सैकड़ों अन्य समस्याएं सुरसा के मुंह की भांति "सामाजिक न्याय" के मार्ग में आज भी बाधा बनी हुई हैं। तो प्रश्न उठता है कि आखिर गड़बड़ी कहां है, कहां कमी रह गयी है ?

डॉ. अम्बेदकर ने दलितों के उत्थान के लिए जो कुछ भी किया वह सदियों से शोषित व पीड़ित दलितों के लिए एक नये युग का सूत्रपात था। लेकिन आज स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद अनेक संवैधानिक संरक्षण होने के बावजूद भी सामाजिक न्याय के आदर्श की जो कल्पना की गई थी वह पूरी नहीं हो पा रही है। आज दलितों के नाम पर कुछ सुविधा–भोगी लोग तरह–तरह के नारे देकर भेदभाव को खत्म करने के बजाय अलगाववादी भावना को उभारने में लगे हुए हैं। अतः इस अलगवादी भावना से देश की एकता और अखण्डता को खतरा बढ़ता जा रहा है।

अगर हम सामाजिक न्याय की वास्तविक स्थिति का अवलोकन व अध्ययन करना चाहें तो इसके लिए मुख्यतः पांच प्रतिमान सामने रखे जा सकते हैं। आरक्षण नीति के रूप में राजनीतिक, जात–पात के रूप में सामाजिक, नारियों की दुर्दशा के रूप में समता की स्थिति, श्रमिकों तथा उत्पादक वर्गों के रूप में आर्थिक स्थिति तथा न्यायिक प्रक्रिया के रूप में कानूनी स्थिति का मूल्यांकन किया जा सकता है, जिससे सामाजिक न्याय के वर्तमान स्वरूप का मूल्यांकन संभव हो सकेगा। इन्हीं मापदण्डों को यहां आधार मानकर भारतीय संदर्भ में सामाजिक न्याय की यथार्थ स्थिति का अवलोकन किया गया है।

डॉ. अम्बेदकर ने 1932 में पूना पैक्ट के माध्यम से अनुसूचित जातियों के साथ–साथ अन्य अल्पसंख्यकों के लिए "आरक्षण" का विशेषाधिकार प्राप्त किया था। इस तरह आरक्षण की जड़ें इतिहास में पहली बार 1932 से प्रारम्भ हुईं। इसके बाद स्वतंत्र भारतीय संविधान में भी कम से कम दो तरह के आरक्षण का प्रावधान रखा गया। संविधान–निर्माताओं ने प्रथम तरह के आरक्षण के अन्तर्गत विधायिका सभाओं

में आरक्षण की व्यवस्था आरम्भिक दस वर्षों के लिए की थी। इन्हें ऐसा विश्वास था कि सरकार एक दशक में आरक्षण प्राप्त इन जातियों की आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक स्थिति में इस हद तक सुधार लाने में सफलता प्राप्त कर लेगी कि ऐसे लोगों को पुनः आरक्षण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। लेकिन आज ऐसा कुछ भी अभी तक संभव नहीं हो पाया है और सरकार अभी तक आरक्षण–भोगियों की स्थिति में कोई गुणात्मक सुधार नहीं ला पाई है। इस आरक्षण को लगातार दस–दस वर्ष तक चार बार बढ़ाने का औचित्य यह प्रतीत होता है कि आरक्षण–भोगी लोग अभी तक राजनीतिक प्रक्रिया में अपने वर्ग की जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं कर पाए हैं। आज भी इन लोगों को सरकारी कार्य–संचालन में कोई विशेष सकारात्मक प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हो पाया है क्योंकि इन विधायिका सभाओं में आरक्षित निर्वाचित स्थानों पर आज भी राजनीतिक दलों में अपना वर्चस्व कायम कर रखा है जिनसे आपसी होड़ व संघर्ष में सामाजिक न्याय का लगातार हनन जारी है। कहने का सार यह है कि आरक्षण प्रक्रिया, चाहे वह विधायिका सभाओं की है अथवा सार्वजनिक सेवाओं की अथवा किसी अन्य संस्थान की, यह पूरी तरह से निष्क्रिय हो गई है और इन सब का प्रयोग केवल स्वार्थगत कार्यों के लिए ही किया जा रहा है और सामाजिक न्याय के आदर्श को स्वार्थ से प्रेरित ढाल के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है।

हमारे समाज में सदियों से चली आ रही जाति–प्रथा की कुरीतियां आज भी विद्यमान हैं और यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो गई है कि भारत में सभी धर्मों अथवा मतों के लोग किसी न किसी रूप में जाति–प्रथा के विरुद्ध लोगों में चेतना जगाने के अथक प्रयास के बावजूद इसमें कोई विशेष सफलता आज तक नहीं पा सके हैं और न ही हमारा समाज जाति–पाति के नुकसान को अभी तक समझ सका है कि इसी के कारण हजारों वर्षों से हमारे समाज में वर्ग–विभाजन हुआ है, सैकड़ों बार विदेशी दासता की हथकड़ियां पहननी पड़ी हैं। आज जब हम भारतीय जाति–प्रथा के संदर्भ में बात करते हैं तो हमें यह देखने को मिलता है कि "अस्पृश्यता" की भावना को संविधान के अनुच्छेद 17 के माध्यम से समाप्त करने तथा किसी भी रूप में इसका व्यवहार निषिद्ध करने के बावजूद भी यह प्रथा समाप्त नहीं हुई है।

क्या इसी आदर्श समाज की कल्पना डॉ. अम्बेदकर, महात्मा गांधी इत्यादि राष्ट्रीय नेताओं ने की थी? डॉ. अम्बेदकर ने जिस अमानवीय प्रथा के विरुद्ध जीवन भर संघर्ष किया, वह आज भी कम या अधिक अपने उसी रूप में विद्यमान है। हमारी सरकार तथा हमारा संविधान अभी तक सामाजिक न्याय की रक्षा के लिए सक्रिय नहीं हो पाया है। और केवल जांच आयोग तथा सांत्वना के बल पर इस व्यवस्था को धीरे–धीरे घसीटा जा रहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक न्याय का आदर्श

जाति–प्रथा के कारण अभी तक इस रूप में सक्रिय नहीं हो पाया है जिसकी डॉ. अम्बेदकर ने कल्पना की थी और आजीवन प्रयास किया था।

जब बात न्याय की आती है तो नारी वर्ग की स्थिति की चर्चा करना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। भारतीय संघ की विशाल जनसंख्या का लगभग आधा भाग नारी वर्ग का है और हम यह भली भांति जानते हैं कि महिलाओं के साथ एक दूसरे ही प्रकार का भेदभाव हमारे समाज में सदियों से मौजूद है। आज महिलाओं की स्थिति अनुसूचित जातियों की शोचनीय स्थिति से कदापि भिन्न नहीं है। यह ठीक है कि सरकार द्वारा इनकी स्थिति में सुधार लाने के लिए भरसक प्रयत्न किए गए हैं। आज महिला सशक्तिकरण की बात की जा रही है। इसे समाज की मुख्य धारा में लाने की बात हो रही है। परन्तु ये सभी उपलब्धियां अभी तक केवल कागजी व सरकारी दस्तावेजों तक ही सीमित होकर रह गई हैं।

इसी प्रकार शिक्षा, भोजन एवं स्वास्थ्य–देखभाल, लाड़–प्यार, निगरानी, छूट विवाह, पारिवारिक बंधन, आचार–व्यवहार, इत्यादि हर मामले में आज भी स्त्री बंधनों में जकड़ी रहती है। भारत में विशाल जनसंख्या को देखते हुए सरकार ने अब कुछ सकारात्मक कदम उठाने का प्रयास आरम्भ किए हैं जिससे उनकी स्थिति में रचनात्मक सुधार संभव हो सके। इसी प्रकार सती प्रथा (निवारण) अधिनियम 1987, को भी दिसम्बर 1987 में संसद में पेश किया गया, जिससे इस प्रकार के अमानवीय व क्रूर प्रथा को समाप्त किया जा सके।

इन सब कानूनों व अधिनियमों का उद्देश्य भारतीय महिलाओं को 'सामाजिक न्याय' दिलाना है जिससे लिंग–विषमता के भेदभाव को समाप्त किया जा सके। इस कार्यक्रम में सरकार ने भी रचनात्मक सहयोग का हाथ बढ़ाया है। तभी तो महिलाओं के लिए अन्य अल्पसंख्यकों की भांति 33 प्रतिशत आरक्षण का विषय विचारार्थ है। अब 'महिला आयोग' की स्थापना के साथ अन्य महिला विकास के कार्यक्रम भी आरम्भ किए जा रहे हैं। आज महिलाओं पर होने वाले सामाजिक अन्याय पर प्रतिबंध लगाने के लिए न केवल भारत सरकार अपितु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी प्रयास किए जा रहे हैं। तभी तो 'सार्क' देशों द्वारा वर्ष 1991 'बालिका वर्ष' के रूप में मनाया गया।

उपरिलिखित कार्यक्रम के माध्यम से सामाजिक न्याय महिलाओं को उपलब्ध करवाने का प्रयास सराहनीय प्रतीत होता है। परन्तु यह भविष्य का विषय रह जाता है कि उससे महिलाओं की स्थिति में कितना परिवर्तन संभव हो सकेगा।

भारत की साख दुनिया में सर्वाधिक प्रगतिशील कानून बनाने वाले देश के रूप में है। भारतीय कानूनों की यह एक विशेषता है कि यहां के कानून तथा नियम तो ठोस हैं परन्तु मानवीय मूल्यों का कोई आधार नहीं है। इसीलिए छोटे–छोटे कानूनी उपबन्धों की ओट में संविधान का अथवा मानवीय अधिकारों के हनन को बढ़ावा मिल रहा है जो कि एक सामान्य बात हो गई है।

इसी प्रकार हमारी न्याय–प्रक्रिया भी काफी जटिल है। यहां न्याय केवल महंगा ही नहीं अपितु लेने में भी देर लग जाती है। यही कारण है कि आज भी अदालतों में लाखों मुकदमें लंबित पड़े हैं। इस प्रकार देरी से मिलने वाले न्याय के कारण, इससे मिलने वाला सुख भी जाता रहता है, जिससे आम आदमी का इन न्यायालयों से विश्वास उठ गया है।

आज हमारी कानूनी सहायता भी बड़ी मंहगी व खर्चीली हो गई है। इस कारण अधिकांश गरीब, कमजोर वर्ग सामाजिक न्याय से वंचित हो गए हैं। आज कानून के अभिपालन वाला तंत्र जो रक्षक की भूमिका के लिए है अक्सर उसे देखा जा रहा है कि वह भूमिका में असफल हो गया है। आए दिन देखने में आ रहा है कि समाज में दबदबा रखने वाला अपराधी तत्व कानून के रखवालों की मिली भगत से हरिजनों, कमजोर वर्गों, महिलाओं, इत्यादि के साथ–साथ अल्पसंख्यकों पर भी अत्याचार का कहर ढा रहा है।

अतः निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि समाज के सभी अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा करने तथा इनमें सामाजिक न्याय का प्रसार करने के लिए अनेक संवैधानिक प्रावधान किये गए हैं। साथ ही साथ अनेकों योजनाओं को भी प्रारंभ किया गया है जिससे समाज में सामाजिक न्याय का आदर्श कायम किया जा सके। यह ठीक है कि इन योजनाओं द्वारा विकास का कार्य भी हुआ है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता है। परन्तु इन योजनाओं के मूल्यांकन से ज्ञात होता है कि सदियों से चले आ रहे सामाजिक विभेद, छुआ–छूत, कठोर जातीय संस्तरण एवं अधंविश्वासों के चलते अभी तक ये योजनाएं सफल नहीं हो पा रही हैं जिससे परिवर्तन के चिन्ह दिखाई नहीं दे रहे हैं।

यह ठीक है कि स्थिति में कुछ परिवर्तन अवश्य आया है परन्तु अभी बहुत कुछ होना शेष है क्योंकि आज भी हमारे गांवों में अनुसूचित जातियों, जनजातियों के प्रति किये जा रहे भेद–भाव एवं अत्याचार के समाचार प्रकाश में आते ही रहते हैं। बंधुआ मजदूरों का शोषण और दहेज के लिए की जा रही महिलाओं की हत्याएं हमारे इन अधिनियमों का मखौल उड़ाने के लिए काफी हैं। भूमि–सीमा–निर्धारण के कार्य राज्यों के मनमाने बनाये गये कानूनों और उनके अनुपालन में की गई ढिलाई के कारण खोखले साबित हुए हैं।

अतः वर्तमान संदर्भ में यह आवश्यक है कि दलित वर्गों को सामाजिक न्याय दिलाने के लिए नये कानून बनाने के बजाय कुछ ठोस कदम उठाने की जरूरत है क्योंकि किसी स्थान पर डॉ. अम्बेडकर की मूर्ति–स्थापना से सामाजिक न्याय का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता है। इसके लिए जरूरी है कि हम अपनी सामन्ती धारणा को बदलें, वंश तथा जातिगत लाभों से ऊपर उठें, दलित वर्गों को आत्मनिरीक्षण

के लिये प्रेरित करें तथा उन्हें यह समझाने का प्रयास हो कि 'अनुदान अथवा आरक्षण' की वैशाखी उनके लिए स्थायी समाधान नहीं है। इस तरह सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए विषमता को हटाना होगा तभी सामाजिक न्याय का संकल्प सार्थक तथा यथार्थ धरातल पर स्थापित हो जायेगा।

शोघप्रज्ञ छात्र,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

संदर्भ

1. *डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, 'अनिहेलशन ऑफ कास्ट'*
2. *डॉ. बी.आर. अम्बेडकर 'राइटिंग एण्ड स्पीच : कास्ट इन इण्डिया, खण्ड 1'*
3. *अम्बेडकर, 'स्टेट्स एण्ड माइनोरटीज'*
4. *धनंजय कीर, 'डॉ. अम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन'*
5. *राजेश गुप्ता, 'डॉ. अम्बेडकर और सामाजिक न्याय'*
6. *डॉ. अम्बेडकर एण्ड सोशल जस्टिस– खण्ड 1'*
7. *दुर्गादास बासु 'भारतीय संविधान की रूपरेखा'*

जैव-नीतिशास्त्र

डॉ. बीरेन्द्र कुमार भारती

भाग– I

जैव नीतिशास्त्र का साधारण अर्थ है– 'जीवन से जुड़ा नीतिशास्त्र' या 'औषधि के क्षेत्र का नीतिशास्त्र'। इस प्रकार चिकित्सा नीतिशास्त्र से इसका क्षेत्र अधिक व्यापक है, जो संभवतः रोगी–चिकित्सक संबंध की ओर भी संकेत करता है। वस्तुतः जैव नीतिशास्त्र का कार्य एक ओर रोगग्रस्त और मरणासन्न मानवों तो दूसरी तरफ स्वास्थ्य और चिकित्सा पेशा से जुड़े लोगों के मध्य जीव और नैतिकता की स्थापना और इसका सम्पोषण करना है। रोगी, उसके परिवार और चिकित्सा से जुड़े लोगों के बीच संबंध के विषय में तीन प्रकार के विचार उपलब्ध हैं–

1) पितृवाद (Paternalism)
2) व्यक्तिवाद (Individualism)
3) पारस्परिक विचार (The Reciprocol View)

1) पितृवत् **(Paternalism)** - पितृवत् का आशय है कि – "स्वास्थ्य कर्मी को रोगी और उनके परिवार के प्रति पिता की तरह पेश आना चाहिए क्योंकि चिकित्सक समूह के पास दवाई और इलाज के बारे में अच्छा प्रशिक्षित ज्ञान तथा अनुभव होता है। अतः केवल वे ही तय कर सकते हैं कि रोगी और उनके परिवार के लिए क्या अच्छा है। रोगी को डॉक्टर के प्रति विश्वास और धैर्य रखना चाहिए तथा इलाज के संबंध में जो भी सलाह दे उसका पालन करना चाहिए।"

2) व्यक्तिवाद **(Individualism)** - इस सिद्धांत के अनुसार रोगी को अपने प्राण और शरीर पर पूर्ण अधिकार है। आज–कल जनसाधारण भी अपने शारीरिक और मानसिक बीमारियों एवं उसके प्रभावों की अच्छी जानकारी रखने लगें हैं। अतः डाक्टर समूह को चाहिए कि वह कृपापूर्वक विस्तार से रोगी को रोग के स्वरूप, कारण, प्रभाव, इलाज में आनेवाले सम्पूर्ण खर्च आदि को पहले ही स्पष्ट कर दें। किन्तु वे ऐसा नहीं करते। जैसा कि फिट्स दम्पति ने उल्लेख किया है कि– "इस पेशे में ऐसे भी लोग प्रवेश कर गये हैं जो इसे उच्च आर्दश से निम्न स्तर पर ला खड़ा कर दिए हैं। चिकित्सकों ने शुल्क संबंधी आर्थिक लाभ के लिए सेवा–भाव का

एकाकार त्याग कर दिया है।"[1] भारत के अस्पतालों में किडनी व्यवसाय तथा रोगियों के साथ दुर्व्यहार को रोकने के लिए Indian Medical Association समय–समय पर दिशा–निर्देश जारी करते रहे हैं जिसका निरंतर उल्लंघन भी होता रहा है, फिर भी इस पेशे पर कानूनी शिंकजा रहना चाहिए।

3) पारस्परिक विचार **(The Reciprocal View)** - इस विचार में इलाज हेतु टीम भावना पर जोर दिया जाता है, जिसमें चिकित्सक समेत सभी स्वास्थ्य कर्मियों को सेवा भाव से काम करना चाहिए। साथ ही साथ स्वयंसेवकों और समाज सेवियों की मदद भी मानवीय पहलुओं को ध्यान में रखकर लेना चाहिए तथा रोगी के वैयक्तिक अधिकार को भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि वह कैसे और कहां इलाज करवाये। रोगी के इस अधिकार को प्रत्येक अस्पताल और निजी क्लिनिकों में सूची पट पर अंकित होना चाहिए तथा रोगी और उनके परिवार को विश्वास में लेकर ही रोगी पर कोई प्रयोग किया जाना चाहिए और यदि वे सहमत नहीं हों तो ऐसे विचार को त्याग दिया जाना चाहिए।[2]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सभी प्रकार के निर्णय खुले विचार के आदान–प्रदान के आधार पर ही होना चाहिए, जिसमें देख–रेख और इलाज के सभी विकल्पों पर आवश्यक मंथन भी अनिवार्य है और अंतिम निर्णय रोगी, उसके परिवार और चिकित्सकों के संयुक्त प्रयासों से ही लिया जाना चाहिए।

भाग– II

सत्यवादिता और सुविज्ञ–सहमति

(Truth-telling and Informed Consent)

सत्यवादिता का आशय यहाँ इतना ही है कि– "किस सीमा तक रोगी और उसके परिवार को रोग तथा उससे होने वाले प्रभावों के संबंध में बतलाया जाय" तथा सुविज्ञ–सहमति का अर्थ है– "एक औपचारिक प्रक्रिया जिसमें रोगी या उसके परिवार के सदस्य की सहमति लिखित या मौखिक चिकित्सकीय इलाज के लिए लिया जाए क्योंकि शल्यक्रिया के दौरान रोगी की मृत्यु भी हो सकती है तथा कुछ दवाओं का गौण प्रभाव (Side effect) भी उत्पन्न होता है जो रोगी के भावी जीवन को प्रभावित कर सकता है।"

सत्यवादिता के संबंध में दो विचारधाराएँ उपलब्ध हैं–

1) पितृकल्पीय विचार तथा
2) रोगी को सूचना पाने का अधिकार।

1) सत्यवादिता का पितृकल्पीय विचार– इस विचार के पक्ष में अनेक युक्तियाँ हैं जैसे– रोगी चिकित्सा क्षेत्र में योग्य अनुभव नहीं रखते इसलिए उसे इससे कुछ अधिक जानने की जरूरत नहीं है कि चिकित्सक और उनके समूह उनकी देख–रेख अच्छी तरह से कर रहे हैं, रोगी को बुरी खबर देना उचित नहीं

है। खासतौर से जब पूर्वानुमान मृत्यु के संबंध में हो किन्तु उसके परिवार को बतला देना श्रेयष्कर है, तथा चिकित्सक एवं उसके समूह तथा परिवार के सदस्य जो भी रोगी के पास हों, उन्हें उसकी हौसला अफजाई करनी चाहिए और जहाँ तक संभव हो निराशाजनक बातों को नहीं करना चाहिए।

2) रोगी को सूचना पाने का अधिकार– इस मत के अनुसार रोगी को अपने रोग के संबंध में सूचना प्राप्त करने का अधिकार है क्योंकि रोगग्रस्त होने पर रोगी का ही शरीर और जीवन संलग्न है न कि चिकित्सक समूह तथा उसके परिवार के अन्य सदस्यों का। चूँकि रोगी को यदि उसके रोग तथा उपचार के बारे में जानकारी हो जाती है कि उसका रोग गंभीर नहीं है तथा वह मरने नहीं जा रहा है तो उसमें आशा–भाव का संचरण होता है। जब भी चिकित्सक समूह द्वारा सत्य कहा जाए तब स्पष्ट तथा मृदु भाषा का प्रयोग किया जाए और व्यवहार मानवीय होना चाहिए न कि पाशविक, कठोरतापूर्ण और निराशाजनक। साथ ही कभी रोगी और उसके परिवार को आशा मत त्यागने दें, क्योंकि केवल स्वास्थ्य कर्मी ही रोगी को सर्वोत्तम ढंग से चंगा कर सकते हैं।

गौरतलब है कि भारतीय संस्कृति में चिकित्सा शास्त्र और उसके नैतिक पहलू बहुत ही विकसित रहे हैं। हमारे देश में जीवक, सुश्रुत, चरक आदि महत्वपूर्ण चिकित्सक हुए हैं। नैतिक चिकित्सा के संबंध में हम एक उदाहरण का यहाँ उल्लेख करना चाहते है जो चरक द्वारा एक वैद्य को दिए गये उस उपदेश का एक अंश है जो वैद्य अपने शिष्यों को उनके प्रशिक्षण की समाप्ति पर एक पवित्र धार्मिक समारोह में दें– "यदि तुम्हें अपने चिकित्सा कार्य में सफलता, धन और यश तथा मृत्योपरान्त स्वर्ग प्राप्त करना है तो तुम्हें प्रातःकाल उठने और रात्रि में सोने से पूर्व समस्त प्राणिवर्ग और विशेषकर गौ एवं ब्राह्मणों के मंगल के लिए प्रार्थना करनी चाहिए और तुम्हें अपने तन,मन,धन से रोगी के स्वास्थ्य के लिए प्रयत्न करना चाहिए। अपने स्वंय के जीवन के मूल्य पर भी तुम्हें अपने रोगी को धोखा नहीं देना चाहिए, पाप कर्म नहीं करना चाहिए और न तुम्हारे साथी बुरे होने चाहिए.....तुम्हें मृदुभाषी.... विचारपूर्ण होना चाहिए तथा सर्वदा अपने ज्ञान की संवृद्धि में तत्पर रहना चाहिए।"[3]

स्पष्ट है कि उक्त उद्धरण में चिकित्सकों के लिए उत्कृष्ट नैतिक चरित्र के साथ–साथ पूर्ण समर्पित स्वास्थ्य सेवा की कल्पना की गई है।

"जब तुम्हें किसी रोगी के घर जाना हो तो तुम्हें अपने शब्द, मन, बुद्धि और इंद्रियों को अपने रोगी तथा उसकी चिकित्सा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं लगाना चाहिए..... रोगी के घर में जो भी होता हो उसकी चर्चा बाहर नहीं करना चाहिए और न ही रोगी की अवस्था का परिचय उस व्यक्ति को देना चाहिए जो उस ज्ञान के आधार पर रोगी अथवा अन्य किसी की कोई हानि कर सके।"[4]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यदि आवश्यकता हो तो रोगी तथा उसके परिवार को रोग के बारे में आवश्यक सूचना दे दी जानी चाहिए, किंतु इसे सर्वाजनिक नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि छुआ–छूत आदि महत्वपूर्ण रोग तथा गंभीर एड्स रोग के रोगी के प्रति आज समाज की जो उपेक्षापूर्ण नीति सामने आई है वह निदंनीय एवं अव्यावहारिक है।

भाग– **III**

दवाई में नैतिक समस्या

(Ethical Issue in Medicine)

उक्त विवेचन में हम जैव नीतिशास्त्र के पहलुओं पर चर्चा कर आये हैं वह जैव नीतिशास्त्र के लिए विषय–प्रवेश के समान है। इसके अलावे भी तीन क्षेत्र हैं जिनपर विचार किया जा सकता है –

1) व्यवहार नियंत्रण
2) मानव प्रयोग तथा
3) जेनेटिक्स

1) नीतिशास्त्र एवं व्यवहार नियंत्रण **(Ethics and Behaviour Control)-** व्यवहार नियंत्रण को परिभाषित करने हुए कहा जा सकता है कि– “यह एक प्रकार के व्यक्ति के व्यवहार, जैसे– मनोरोगी अथवा अभ्यस्त अपराधी आदि में अनेक प्रकार के तकनीकों द्वारा उस व्यक्ति की सहमति या असहमति के बिना और बिना शक्ति प्रयोग किये संशोधन अथवा परिवर्तन लाना है। व्यवहार नियंत्रण में साधन के रूप में कुछ दवाइयों का भी प्रयोग होता है और साथ ही साथ मानसिक उपचार और व्यवहार परिमार्जन तकनीक को भी प्रयुक्त किया जाता है। यदा –कदा पुरस्कार या प्रतिकूल अनुबंधन, विद्युत के झटके, सम्मोहन, शल्यक्रिया आदि का भी सहारा लिया जाता है।

अब प्रश्न है कि इस तरह के व्यवहार नियन्त्रण तकनीक का प्रयोग करना चाहिए अथवा नहीं? तो– उग्रव्यवहारवादी कहेंगे, हाँ क्योंकि उनके पास व्यवहार का एक अच्छा मापदण्ड है और जब किसी का व्यवहार उस कसौटी के अनुरूप नहीं हो तो उनके व्यवहार को उन्हीं के हित में और अन्यों के हित में परिवर्तित करने का प्रयास अवश्य किया जाना चाहिए। परन्तु जो व्यक्तिवादी हैं तथा व्यवहारवाद के विरोधी हैं वे इस विचार से सहमत नहीं हैं। इनका कहना है कि– “हमें यह पता नहीं कि सामान्य व्यवहार किसे कहते हैं और यह भी कि मनमाने ढंग से व्यवहार की एक कसौटी को स्थापित कर लेना खतरनाक है। वैयक्तिक स्वतंत्रता, विचित्रता और सर्जनात्मकता को प्रोत्साहित और पुरस्कृत करने की आवश्यकता है और इन सबों के अस्तित्व के लिए हमें सामान्य से कुछ अलग व्यवहार को स्वीकार करना ही पड़ेगा।” निःसन्देह कुछ व्यवहारों को हतोत्साहित और कुछ को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है।

2) मानव प्रयोग **(Human Experimentation)** - मानव प्रयोग का आशय है– "मानव का उपयोग प्रयोगात्मक उद्देश्य के लिए किया जाना जिसमें रोगी का भी हित सन्निहित होता है, मानवता का भी हित सन्निहित होता है और इस प्रकार के प्रयोग से वैज्ञानिक ज्ञान में निरंतर वृद्धि भी होती है।" प्रश्न है कि मानव प्रयोग पर प्रश्न क्यों उठाए जाते हैं? चूँकि मानव से पहले दवा का प्रयोग पशु पर किया जाता था जो अधिक कारगर सिद्ध नहीं होता था खासतौर से बच्चों के दवा इजाद करने में यह और भी मुश्किल कार्य था।

जो लोग मानव प्रयोग के पक्ष के सहमति व्यक्त करते हैं उनका विश्वास है कि जब तक विशिष्ट प्रयोग नहीं किये जायेंगे तब तक उच्च वैज्ञानिक ज्ञान का विकास या किसी तरह की मानवीय सहायता मानव के हित में कैसे उपलब्ध हो सकेगी, अतः मानव पर प्रयोग न्यायोचित है।

जो लोग मानव प्रयोग के विरोध में सहमति व्यक्त करते हैं उनके अनुसार मानव का उपयोग कभी प्रयोग के लिए नहीं होना चाहिए, क्योंकि डाक्टरों को यह छूट नहीं दी जा सकती कि वे मानव पर पशुवत व्यवहार करे। बावजूद इसके अंततः कोई भी मानव प्रयोग होना हो उसे उपर्युक्त शर्तों को पूरा करने के उपरांत ही तब किया जाय जब यह पूर्णतः सुरक्षित हो। इसमें किसी प्रकार का जान का खतरा नहीं होना चाहिए।

भाग– IV

जेनेटिक एवं अंग–प्रत्यारोपण

(Genetics and Organ Plantation)

वह प्रक्रिया जिसमें जानवर, जैसे सुअर, बंदर इत्यादि के जीवित अंग जैसे हृदय मस्तिष्क तथा पैर आदि का प्रयोग मानव के लिए किया जाता है और इसके द्वारा किसी मनुष्य के इहलीला को बचाया जाता है को जेनोग्राफ्टिंग (Xenografting) कहा जाता है। लेकिन यहाँ एक नैतिक प्रश्न यह है कि मानव के लिए किसी जानवर का किस हद तक प्रयोग किया जा सकता है। इसके लिए देवाशीष गुहा एक अलग नैतिक शाखा की माँग करते हैं जिसका नाम जेनोग्राफ्टिंग नीतिशास्त्र हो।[5]

इस क्षेत्र में अद्यतन आविष्कार जेनेटिक इंजिनीयरिंग है जिसे क्लोनिंग कहा जाता है। "इसमें किसी भी जीव का D.N.A. निकालकर उस अंडज में डाल दिया जाता है जिसका D.N.A. निकाल लिया गया हो। पुनः उसे रसायन द्वारा निषेचन करके एम्ब्रियो में विकसित किया जाता है। अब जो द्वितीय जीव विकसित होता है उसका सम्पूर्ण जेनेटिक कोड प्रथम जीव के समान होता है।"[6]

आज जेनेटिक इंजिनीयरिंग के द्वारा मानव व्यक्तित्व के जेनेटिक बनावट को प्रभावित करने की बातचीत चल रही है अर्थात् जैसा आप चाहते हैं वैसा बच्चा आपको मिलेगा। जेनेटिक शोध से शरीर में उत्पन्न होने वाली व्याधियों को पूर्व में ही ज्ञात किया जा सकता है और उसे उसी समय जीन–थेरेपी के द्वारा ठीक भी किया जा सकता है।

जेनेटिक प्रयोग और विकास के पक्ष में युक्ति– इस युक्ति के अनुसार जितना ही अधिक जेनेटिक के क्षेत्र में हमारे ज्ञान में वृद्धि होगी उतना ही हम मानव–नस्ल में सुधार कर सकेंगे। इसके तहत स्मृतिलोप, कैंसर, हाथ–पॉव में कम्पन्न की बीमारी और मधुमेह का सफल इलाज संभव है। अतः इन बिमारियों से लड़ने के लिये जीन–थेरेपी का उपयोग किया जाता है तो कोई बुराई नहीं है। जेनेटि़क प्रयोग और विकास के विरोध में युक्ति– इस युक्ति के अनुसार कोई भी कोई चीज जो प्राकृतिक जीवन–प्रक्रिया में हस्तक्षेप उपस्थित करता है तो वह एक प्रकार से ईश्वनीय व्यवस्था में व्यवधान डालने के समान है और इस क्षेत्र में कोई भी वैज्ञानिक प्रयोग, विशेष रूप से कृत्रिम जीवन निर्माण की अनुशंसा, नहीं की जानी चाहिए। प्रकृति या ईश्वर का मानव जाति के बीच अपूर्णता और त्रुटि को बनाए रखने के पीछे कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य रहता है और इस उद्देश्य को बाधित करना खतरनाक हो सकता है, क्योंकि इससे न केवल मानव का प्राकृतिक विकास और प्रगति ही अवरुद्ध होगी बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक विकास भी बाधित होगा। यदि हम एकदम पूर्ण मानव–प्राणी का निर्माण करेंगे और सभी अपूर्णताओं को दूर कर देंगे तो हम संभवतः मानवता को जैव–भौतिक और नैतिक– आध्यात्मिक दृष्टि से ही खो देंगे।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जैव नीतिशास्त्र का उपयोग मानव कल्याण को ध्यान में रखते हुए विकसित किया जाना चाहिए तथा यह मानव कल्याण ऐसा हो जिसमें प्राकृतिक संतुलन यथावत बना रहे।

दर्शनशास्त्र विभाग,
पटना विश्वविद्यायल, पटना

सन्दर्भ

1. *Herad H, titus & Moris T. Kiton (Ed.), Range of Ethics. Affiliated East West Press Pvt. Ltd., Dehi, 1975, P. 225-26*
2. *John A. Behnke and Sissela Bauk, The Dilemmas of Euthanasia. Garden City, N.Y. Anchor Books, 1975, P. 157-59.*
3. *Basam. A.L, The wonder that was India, P- 426, Shivlal Agrawal & Company, Agra.*
4. *Same P- 426*
5. *Berni G. Glesaav and Anselm L. Strauss, Awareness of dying, Chicago, Aldyne, 1965.*
6. *Guha Devashish, Ethics-talk, National Seminar on Current Issues in Bio-ethics, A.M.U., Aligarh, Feb., 2001.*

आर्य समाज एवं वैदिक शिक्षा

डॉ. मुकेश कुमार चौरसिया

बाल ब्रह्मचारी स्वामी दयानन्द सरस्वती सन् 1875 ई. में आर्यसमाज की स्थापना किये और इस संस्था के माध्यम से उन्होंने केवल वैदिक संहिताओं को ईश्वरीय ग्रन्थ मानते हुए उन्हें अपने सिद्धान्त का आधार बनाया तथा समाज में व्याप्त सभी प्रकार की बुराई एवं कुप्रथा का विरोध करते हुए पुनः "वेद की ओर चलो" (Back to the Vedas) का नारा दिया जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन उनकी कृति *'सत्यार्थ प्रकाश'* में मिलती है जो संस्कृत भाषा में लिखी गई है। *'सत्यार्थ प्रकाश'* में जहां धार्मिक सिद्धान्तों का अथवा मूल वैदिक धर्म का पुनराख्यान है वहीं समाज–व्यवस्था एवं राज्य–व्यवस्था की पूर्ण रूपरेखा देने का प्रयत्न भी है। वैसे तो वे स्त्री–शिक्षा के प्रबल समर्थक थे लेकिन साथ ही संस्कृत भाषा की शिक्षा और प्रचार को विशेष महत्व देते थे। सबसे बड़ी बात यह है कि वे जन्मजात जातिवाद के विरुद्ध थे। वे गुण–कर्मानुसार वर्ण–व्यवस्था के पक्षधर थे। साथ ही पौराणिक हिन्दू धर्म अर्थात् अवतारवाद तथा मूर्तिपूजा के विरोधी थे। जहां तक वैदिक शिक्षा की बात है उन्होंने भारत की गौरवपूर्ण परम्परा बनाये रखने के लिए वैदिक काल में शिक्षा की जो व्यवस्था थी, शिक्षा के लिए जो उम्र का निर्धारण था उसकी उन्होंने वकालत की तथा उस परम्परा को बनाये रखने का प्रयास भी किया ताकि मानव के लिए जो सबसे अति आवश्यक 'नैतिक शिक्षा' है वो बनी रहे। भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार बालक और बालिकाओं को उपनयन संस्कार के पश्चात् आचार्यकुल में ही निवास करना होता था और वहां ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हुए शिक्षा प्राप्त करनी होती थी। *बृहदारण्यक उपनिषद्* में लिखा है कि मनुष्य लोक, पितृलोक और देवलोक, इन तीनों लोकों में देवलोक सबसे श्रेष्ठ है। इसकी प्राप्ति विद्या द्वारा ही संभव है। अतः सबको विद्या प्राप्त करनी चाहिए। यह विद्या आचार्य से ही प्राप्त की जा सकती है। इस कारण यह विधान किया गया था कि एक निश्चित आयु में बालकों और बालिकाओं को शिक्षा के लिए आचार्य–कुलों या गुरुकुलों में भेज दिया जाए और वे वहां रहकर विद्या का अध्ययन किया करें। स्वामी दयानन्द इस प्रकार की शिक्षा का समर्थन करते थे। शिक्षा ही वह मूल मंत्र है जो मानव को ईश्वर रूप बनाते हैं। वह शिक्षा आचार्य

के अभाव में सम्भव नहीं है। इसी संदर्भ में गांधी जी की धारणा है कि "शिक्षा के क्षेत्र में नैतिकता और सदाचार पर बल देने की जरूरत है, क्योंकि चरित्र ही मानवता की सर्वोत्तम पूंजी है।" वैदिक काल में यह माना जाता था कि बालक के विकास के लिए उसे केवल माता–पिता के प्रभाव में रहना ही पर्याप्य नहीं है अपितु उसे आचार्य के प्रभाव में भी रहना चाहिए। "मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद" इस शास्त्र–वाक्य के अनुसार बालक पहले माता के प्रभाव में रहता है, फिर पिता के और बाद में आचार्य के। उनकी अन्तर्निहित शक्तियों व गुणों का विकास पहले माता करती है, फिर पिता और फिर आचार्य द्वारा शिक्षा प्राप्त कर वह अपना विकास करने में समर्थ होता है। माता–पिता बालक का पालन करते हैं पर जब वह पालन–पोषण के अनन्तर बड़ा हे जाता है तो उसे विद्याध्ययन के लिए आचार्य के पास भेज दिया जाता है। इसी संदर्भ में *छान्दोग्य उपनिषद्* में एक कथा आती है कि आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु जब बड़ा हो गया तो उसके पिता ने कहा– हे श्वेतकेतो, अब तू ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत कर। हमारे परिवार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं होता, जो शिक्षा प्राप्त न करे और स्वयं ब्राह्मण न बनकर अपने को केवल ब्राह्मणों का बन्धु बताए। पिता से ऐसा कहा जाने पर श्वेतकेतु आचार्य की सेवा में गया और चौबीस वर्ष की आयु तक उसने वेदशास्त्रों का अध्ययन यिका। इस प्रकार शिक्षा प्राप्त कर जब वह अपने घर वापस आया तो उसे यह अभिमान था कि वह विद्वान् हो गया है। इस कथा में स्पष्ट है कि प्राचीन काल में बालक आचार्य कुल में जाकर वेदशास्त्रों का अध्ययन किया करते थे और चौबीस साल की आयु तक आचार्यकुल में रहा करते थे।

आर्य समाज के अनुयायी वैदिक पद्धति पर आधारित शिक्षा के हिमायती थे, साथ ही शिक्षा–प्राप्ति के समय ब्रह्मचर्य–जीवन के भी हिमायती थे। प्राचीन शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की महिमा बड़े विशद रूप में लिखी गई है। *अथर्ववेद* के अनुसार ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है और ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य वह योग्यता प्राप्त करता है जिससे कि वह ब्रह्मचारियों को शिक्षा प्रदान कर सकता है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके ही मनुष्य तेजोमय ब्रह्म (ज्ञान) को धारण करता है और वह सब देवताओं का अधिवास बन पाता है। अर्थात् सब दैवी गुणों को वह प्राप्त करता है। एक अन्य स्थान पर वैदिक साहित्य में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य के तप से ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी। वैदिक शिक्षा वेद–आधारित होने के कारण छात्रों को वेद का अध्ययन कराया जाता था जिसमें *ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद,* इतिहास, पुराण, व्याकरण, ज्योतिष विद्या, योग–विद्या इत्यादि का ज्ञान दिया जाता था।

वैदिक शिक्षा वेद–आधारित होने के कारण विद्या का आरम्भ उपनयन संस्कार द्वारा कराया जाता है। इस अवसर पर बालकों और बालिकाओं को यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है। तीन तागों से बना हुआ यज्ञोपवीत उन व्रतों

का प्रतीक है जिन्हें ब्रह्मचारी ग्रहण करते हैं। *तैत्तिरीय उपनिषद* में जिस प्रकार की शिक्षा एवं नियम का प्रावधान है वैसी ही शिक्षा एवं नियम का पालन छात्रों को करने को कहा जाता है। जैसे– शिष्यों को सदा गुरुओं के सम्मुख रहने, गुरुओं को सदा प्रवचन देते हुए ऋत, सत्य, तप, दम, शम, अग्निहोत्र का अनुष्ठान, अतिथि–सेवा, सब मनुष्यों के प्रति समुचित व्यवहार, प्रजा के प्रति यथायोग्य बरताव और अपने साथियों के प्रति कर्त्तव्य–पालन का उपदेश दिया जाता है। इस प्रकार की शिक्षा–व्यवस्था में शिष्यों को उपदेश दिया जाता है कि गुरु पिता तुल्य होते हैं। *निरुक्त* में भी कहा गया है शिष्य गुरु को ही अपना पिता और माता माने और किसी भी दशा में उनके प्रति द्रोह–भाव न रखे। *मनुस्मृति* में भी कहा गया है कि ब्रह्मचारी के लिए आचार्य ही पिता होता है और सावित्री (विद्या) ही उसकी माता होती है, इसलिए गुरु की सेवा छात्र का आवश्यक गुण है। गुरु की सेवा (सुश्रूषा) के बिना शिष्य के लिए विद्या प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं है। मनु ने लिखा है कि जिस प्रकार खनित्र (फावड़े) से जमीन को खोदकर जल प्राप्त किया जाता है वैसे ही सुश्रूषा द्वारा शिष्य गुरु की विद्या को प्राप्त कर पाता है। शिष्य शिक्षा प्राप्त करने के बाद उनका दीक्षान्त (समावर्त्तन) संस्कार होता था। इस संस्कार के बाद ही वह अपने घर को लौटता था तथा गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकारी होता था।

स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके गुरु स्वामी विरजानन्द दोनों ही शुद्ध वैदिक परम्परा में विश्वास करते थे और उन्होंने "पुनः वेद की ओर चलो" का नारा दिया। उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज का मूल उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म की शुद्ध रूप से पुनः स्थापना करना था क्योंकि हिन्दू धर्म में कुछ झूठे धार्मिक विश्वास तथा सामाजिक कुरीतियां आ गई थीं जिनसे हिन्दू धर्म की आलोचना हो रही थी तथा लोग इस धर्म को छोड़ दूसरे धर्म को अपना रहे थे। उन्होंने तर्क आधारित धर्म पर विश्वास करने का नारा दिया। उन्होंने एकेश्वरवाद में विश्वास, सभी मनुष्यों का भ्रातृत्ववाद, स्त्री–पुरुष की समानता, मनुष्यों तथा जातियों के बीच पूर्ण न्याय तथा निष्पक्षता तथा प्रेम तथा दान की भावना पर जोर दिया। आर्य समाज द्वारा दी गई इस शिक्षा–पद्धति को लेकर मतभेद 1892 में सामने आया। एक पक्ष पाश्चात्य शिक्षा का विरोधी था। उन्होंने 1902 ई. में हरिद्वार में एक गुरुकुल स्थापित कर लिया जहां प्राचीन वैदिक शिक्षा प्राचीन पद्धति से दी जाती थी और उसी के नमूने पर कई अन्य स्थानों पर गुरुकुल बनाए गए। दूसरा पक्ष जो अंग्रेजी शिक्षा के पक्षधर थे दयानन्द ऐंगलो–वैदिक संस्थाओं की स्थापना की जो आज भी भारत के कोने–कोने में व्याप्त हैं तथा अच्छी शिक्षा दे रहे हैं।

आर्य समाज द्वारा स्थापित कुछ नियम हैं जिनका पालन करने को सभी अनुयायी से अपेक्षा रखता है, जो निम्नलिखित हैं :–

1. सब सत्य–विद्या और जो पदार्थ–विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।
2. ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वाधिक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी चाहिए।
3. वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना–पढ़ाना और सुनना–सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।
4. सत्य के ग्रहण करने और असत्य को त्यागने में सर्वथा उद्यत रहना चाहिए।
5. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करना चाहिए।
6. संसार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।
7. प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए। सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।
8. सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र हैं।

अतः आर्य समाज द्वारा शिक्षा की जो पद्धति अपनाई गई वो आज के समय की मांग है। लेकिन कुछ लोग आज के भोगवादी वैज्ञानिक युग में ऐसी शिक्षा को अनुपयोगी मानते हैं। शिक्षा रोजगार–परक होनी चाहिए। लेकिन मैं यह कहना चाहूंगा कि मानवता के विकास के लिए विज्ञान आवश्यक है लेकिन उससे भी ज्यादा आवश्यक है मानव चरित्रवान बने। आज मानव भौतिक सुख के पीछे भाग रहा है जिसके कारण समाज में अनेक समस्यायें खड़ी हो गई हैं। हिंसा, आतंकवाद, भ्रष्टाचार, ये सब उसी की देन हैं। मानव के सम्पूर्ण विकास के लिए वैज्ञानिक शिक्षा के साथ–साथ आध्यात्मिक, वैदिक एवं धर्म–दर्शन की शिक्षा भी उतनी ही आवश्यक है ताकि लोगों के चरित्र का निर्माण हो। इस प्रकार की शिक्षा आर्यसमाजियों ने देने का प्रयास किया है।

(यह आलेख स्वामी दयानन्द पुरस्कार से पुरूस्कृत है)

महेशखूंट, खगड़िया

संदर्भ

1. *Harijan-Mahatma Gandhi- 1.2.1933.*
2. *Harijan-Mahatma Gandhi- 1.2.1933.*
3. *वैदिक संस्कृति : डॉ. किरण कुमार थपलिया*
4. *वैदिक साहित्य और संस्कृति : बलदेव उपाध्याय*
5. *आधुनिक भारत का इतिहास : बी.एल. ग्रोवर*

जैन परम्परा में कर्मवाद

सुश्री अनामिका त्रिपाठी

रागो च दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभव वयंति।
कम्मं च जाई मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई मरणं वयंति।।[1]

अर्थात् जीव के राग–द्वेष रूप परिणामों के कारण से जो अचेतन द्रव्य जीव के साथ सम्बद्ध होकर संसार में भ्रमण कराते हैं, कर्म हैं। जैन परम्परा में कर्म को भौतिक या पौद्गलिक माना गया है। जैन दर्शन मानता है कि आत्मा बाह्य जगत् के सम्पर्क में आकर यौगिक अर्थों में सूक्ष्म प्रकृति के कणों द्वारा आच्छादित हो जाती है। यही कर्म बन जाते हैं। कर्म के अन्दर अच्छे एवं बुरे कर्मों के कार्यों को विकसित करने का विशेष गुण होता है और एक शरीर–विशेष की रचना करते हैं जिसे कर्म शरीर कहते हैं, जो मोक्ष से पूर्व आत्मा का साथ छोड़ता है। जैन दर्शन में कर्म की महती भूमिका है। यहां हम जैन परम्परा में कर्मवाद के सैद्धान्तिक व व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत करेंगे।

सैद्धान्तिक पक्ष :

जैन दर्शन स्पष्ट रूप से वास्तववादी तथा बहुत्ववादी है। विश्व के प्रत्येक जड़ व चेतन पदार्थ अनन्त धर्मों के भण्डार, अनादि तथा नित्य हैं। किसी भी पदार्थ का पूर्ण विनाश नहीं है, उसके गुण–धर्मों में दृश्य व अदृश्य परिवर्तन सदैव होता रहता है अतः वह अनित्य भी है। जैन दर्शन में जीव की सम्पूर्ण शारीरिक विशेषताएं कर्मजन्य मानी जाती हैं। जीव या आत्मा के बन्धन व मोक्ष के सन्दर्भ में ही कर्म की महती भूमिका है। जैन धर्म का आदर्श मोक्ष है। आत्मा के विभाव की अवस्था बंधन है, तथा स्वभाव या सिद्धावस्था मुक्ति है। आत्मा या जीव की स्वाभाविक अवस्था अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन (ज्ञानात्मक पक्ष), अनन्त सौख्य (भावात्मक या अनुभूत्यात्मक पक्ष), अनन्त शक्ति या वीर्य (संकल्पात्मक पक्ष) है जो कोई बाह्य या प्राप्यवान तत्व नहीं वरन् आन्तरिक उपलब्धि या पूर्व गुणों का पूर्ण प्रकटन है। साधक/आत्मा के ज्ञान, भाव (अनुभूति)– और संकल्प के तत्व ही मोक्ष की अवस्था में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सौख्य, अनन्त शक्ति के रूप में प्रकट हो जाते हैं लेकिन इससे पूर्व राग–द्वेष से युक्त होते हैं जो उन्हें बद्ध, सीमित, अपूर्ण बनाता

है, वही वीतराग होकर अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सौख्य और अनन्त शक्ति को प्राप्त कर मुक्त व पूर्ण बन जाता है, बन्धन से मुक्त अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाता है, जैसे मेघ और तुषार के आवरण रहित होने पर सूर्य।

जीव के बन्धन का अर्थ :

एक स्वाभाविक प्रश्न है कि जीव अनादि, अनन्त–चतुष्टय अर्थात् चार प्रकार की पूर्णता वाला है तो बन्धन–ग्रस्त क्यों होता है? जैन परम्परा बंधन का अर्थ 'जन्म ग्रहण' अर्थात् जीव का शरीर से सम्बन्ध होना मानती है। जीव और कर्म पुद्‌गलों का संयोग ही बंध है। जीव के बन्धन में आने के कारण को आस्रव (मल या क्लेश) कहा गया है। आस्रव दो माने गये हैं (1) भावास्रव (आत्मा की विकारी मनोदशा) और (2) द्रव्यास्रव (कर्म परमाणुओं का आगमन)। भावास्रव कारण है, द्रव्यास्रव कार्य या प्रक्रिया है। सामान्य रूप में मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियां ही आस्रव हैं।[2]

ये प्रवृत्तियां या क्रियाएं दो प्रकार की होती हैं– शुभ प्रवृत्तियां पुण्य कर्म का आस्रव और अशुभ प्रवृत्तियां पापकर्म का आस्रव।[3]

तत्वार्थ–सूत्र के आधार पर आस्रव के दो प्रकार हैं। 1. ईर्यापथिक, 2. साम्परायिक[4]। कषायवृत्ति के ऊपर उठे व्यक्ति के कर्म ईर्यापथिक आस्रव हैं क्योंकि ये एक क्षण सम्बन्धित होने के बाद अगले क्षण विलग हो जाते हैं जो विभाव को उत्पन्न नहीं कर पाते जबकि कषायवृत्ति से पूर्ण व्यक्ति की आत्मा के कर्म साम्परायिक आस्रव है, जो विभाव उत्पन्न करने में सक्षम हैं। *तत्वार्थसूत्र* में साम्परायिक आस्रव का आधार 3 प्रकार की क्रियाऐं मानी गयी है।

1–5	हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, मैथुन और परिग्रह (पांच अव्रत)
6–9	क्रोध, मान, माया, लोभ (चार कषाय)
10–14	पांच इन्द्रियों के विषयों का सेवन
15–38	चौबीस साम्परायिक क्रियाएं

आस्रवों का मूल कारण योग (क्रिया) है अतः जैन दर्शन के अनुसार कर्म ही बन्धन का मुख्य कारण है, जो भौतिक व पौद्‌गलिक होने से जीव से संयुक्त होकर उसके स्वरूप को दूषित कर देते हैं। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है, जो हमारे विषय का केन्द्र–बिन्दु है।

कर्म शब्द का अर्थ और परिभाषायें :

यह विदित है कि कर्म शब्द का साधारण अर्थ क्रिया होना है। *उत्तराध्ययन सूत्र* में कहा गया है कि जीव राग–द्वेष रूप परिणामों के निमित्त रूपी जो अचेतन द्रव्यजीव के साथ सम्बद्ध होकर संसार में भ्रमण कराते है, कर्म है।[5] आचार्य देवेन्द्र सूरि के अनुसार 'जीव की क्रिया' का हेतु कर्म है।[6]

पं. सुखलाल – मिथ्यात्व कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है वही कर्म कहलाता है।[7] इस प्रकार इस परिभाषा में कर्म के हेतु व क्रिया दोनों ही को कर्म के अन्तर्गत माना गया है। यद्यपि आस्रव का मूल कारण कर्म है परन्तु समग्र क्रिया–व्यापार स्वतः नहीं, प्रेरक से प्रेरित आस्रव द्वारा या बंध हेतु है। *समवायांग, ऋषिभाषित, तत्वार्थ सूत्र* में इनकी संख्या 5 मानी गयी है। 1. मिथ्यात्व, 2. अविरति, 3. प्रसाद, 4. कषाय, 5. योगक्रिया।

उपरोक्त बन्ध–हेतु आत्मा के प्रबल भावात्मक स्वरूप का क्षय करते हैं, अतः उपरोक्त पांच, तीन प्रमुख रूप में राग, द्वेष, मोह में परिणत में कर्म बीज कहे गये हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द राग को बंधन का प्रमुख कारण बताते हुये कहते हैं– आसक्त आत्मा ही कर्म–बंध करता है और अनासक्त मुक्त हो जाता है। यही जिन भगवान का उपदेश है इसलिए कर्मों में आसक्ति मत रखो।[8]

जैन दर्शन में कर्म के द्रव्य कर्म और भाव कर्म ऐसे दो पक्ष माने गये हैं। प्रत्येक कर्म संकल्प के हेतु के रूप में विचारक आत्मा (उपादान कारण) और उस विचार के प्रेरक के रूप में कर्म पुद्गल (निमित्त कारण) दोनों आवश्यक है। आत्मा में जो मिथ्यात्व (अज्ञान) और कषाय (अशुभ चित्तवृत्ति) रूपी राग–द्वेष आदि भाव है वही भावकर्म है। भावकर्म का आन्तरिक कारण आत्मा है। द्रव्य कर्म सूक्ष्म कर्मण जाति के परमाणुओं का विकार है जिसका निमित्त कारण आत्मा है।

आचार्य विद्यानन्दि ने *अष्टसहस्त्री* में द्रव्य के कर्म को आवरण और भावकर्म को दोष के नाम से अभिहित किया। द्रव्य कर्म आत्मशक्तियों के प्रकटन को रोकता है अतः वह आवरण स्वरूप है। वही भावकर्म स्वयं आत्मा की विभावावस्था है, अतः यह भी दोष है। इस प्रकार कर्म के चेतन और अचेतन दोनों पक्षों को जैन परम्परा में स्वीकारा गया है।

द्रव्यकर्म और भावकर्म का सम्बन्ध :

कर्म के चेतन पक्ष और जड़ पक्ष में बीजाकुंरवत् पारम्परिक कार्यकारण सम्बन्ध माना गया है। उपाध्याय अमर मुनि जी लिखते हैं– भाव कर्म के होने में पूर्व–बद्ध द्रव्य कर्म निमित्त है और वर्तमान में बध्यमान द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त है, जड़ कर्म परमाणु और चेतन आत्मा के पारस्परिक गहन सम्बन्ध का पता हम इस उदाहरण से ले सकते हैं कि जैसे पानी को शीतलता की स्वभाव–दशा से उष्णता की विभाव दशा में परिवर्तित होने के लिये स्वभाव से भिन्न अग्नि का सहारा लेना आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा को ज्ञान, दर्शन रूप स्वभाव का आवरण करने हेतु और कषाय रूप विभाव दशा को ग्रहण करने के लिये बाह्य निमित्त के रूप कर्म पुद्गलों का होना आवश्यक है। ये ठीक चुम्बक के गुण युक्त लौह समान हैं जो आकर्षण शक्ति के निकट लौह तत्व से आबद्ध होकर स्वयं उसे चुम्बक के गुण से युक्त बना देता है। उसी प्रकार कर्म युक्त आत्मा के कर्म अपने उदय काल में

नवीन कर्म परमाणुओं को आकर्षित कर कर्म रूप में बदलते रहते हैं। आत्मा के रागादि भाव से क्रियायें होती हैं, कर्मों के स्वभाव, प्रकृति, मात्रा, काल, मर्यादा, तीव्रता पर निश्चय कर सम्पन्न होती है,[9] जिसका संक्षिप्त वर्णन यथेष्ठ है।

(1) प्रकृति बन्ध – यह कर्म परमाणु के स्वभाव का निश्चय करती है।

(2) प्रदेश बन्ध – कर्म परमाणु आत्मा के किस विशेष भाग का आवरण करेंगे इसका निश्चय प्रदेश बन्ध करता है। यह मात्रात्मक है।

(3) स्थिति बन्ध – कर्म परमाणु कितने समय तक सत्ता में रहेंगे, फल–प्रक्रिया निर्धारण करती है।

(4) अनुभाग बन्ध – कर्मों के बन्ध एवं विपाक की तीव्रता/मन्दता का निर्धारण करता है।

जैन दर्शन में आठ प्रकार के कर्मों को स्वीकार किया गया है –

(1) ज्ञानावरणीय कर्म – ज्ञान का आच्छादन करने वाला कर्म ज्ञानावरणीय है।

(2) दर्शनावरणीय– आत्मा की आनुभविक एवं प्रत्यक्षीकरण शक्ति को कुंठित करता है।

(3) वेदनीय – आत्मा को सुख–दुःख की संवेदना देने वाला कर्म।

(4) मोहनीय – व्यक्ति के सदाचरण में बाधक कर्म।

(5) आयुष्य कर्म – यह व्यक्ति के भावी जीवन की योनि और आयुष्य का निर्धारण करता है।

(6) नाम कर्म – शरीर, सौंदर्य, असौंदर्य, व्यक्तित्व का निर्माता।

(7) गोत्र कर्म – व्यक्ति की जाति–कुल का निर्धारण करने वाला कर्म।

(8) अन्तराय कर्म – यह प्राणी की अभीष्ट उपलब्धियों में बाधा उत्पन्न करने वाला कर्म है।

उत्तराध्ययन[10] में सभी कर्मों की स्थितियां बताई हैं, जो मूल भेदों के सापेक्ष होती हैं। ये स्थिति सीमा के भीतर कर्म–फल दिखाकर नष्ट होती हैं तथा उनके स्थान पर नये कर्म आते हैं। यद्यपि पुद्गलरूपी कर्म हैं तथापि इनको नग्न नेत्रों से नहीं देखा जाता, अतः जैन ग्रन्थों में अमुक कर्म हुआ है, इसके ज्ञान हेतु कर्मलेश्या का विधान किया गया है, अर्थात् आत्मा के बंधे कर्मों के प्रभाव से व्यक्ति में उत्पन्न होने वाला अध्यवसाय–विशेष। लेश्या के छः स्वरूपों का वर्णन व्यक्ति के अच्छे, बुरे आचरण के भाव से किया गया है। लेश्या क्रमशः कृष्ण, नील, कपोत, तेज, पद्म, शुक्ल है। पुण्य रूप कर्मों से शुभ लेश्या और पाप कर्मों से अशुभ लेश्याओं की प्राप्ति होती है। कर्म रहित होने पर इनका अभाव भी हो जाता है। लेश्याओं के आधार पर उपरोक्त आठों कर्मों को घातीय और अघातीय कर्म में बांटा गया जिसमें ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय (घाती) तथा नाम, गोत्र, आयुष्य, वेदनीय को (अघातीय) माना गया है। यह स्पष्ट है कि घाती कर्म आत्मा के

स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, शक्ति, आनन्द गुणों का आवरण करते हैं जबकि अघातीय कर्म आत्मा की स्वभाव–दशा की उपलब्धि और विकास में बाधक नहीं होते।

कर्म की विभिन्न अवस्थाएं :

जैन विचारणा में कर्मों की दस अवस्थाओं को माना गया है। बन्ध, संक्रमण, उत्कर्षण, अपवर्तन, सत्ता, उदय, उदीरणा, उपशमन, निधत्ति, निकाचना[11]

कषाय और योग से कर्म परमाणुओं का आत्मा/जीव से सम्बन्ध बन्ध तथा अवान्तर कर्म प्रकृतियों का आदान–प्रदान संक्रमण कहा जाता है। संक्रमण नैतिक दृष्टि से प्रथमतः तो इसलिए उपयोगी है कि संक्रमण की क्षमता केवल आत्मा की पवित्रता के साथ ही बढ़ती जाती है। दूसरे, संक्रमण की धारणा भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद को सबल बनाती है। कर्म परमाणुओं की काल मर्यादा और तीव्रता को बढ़ाने की क्रिया उत्कर्षण कही जाती है, स्थिति और तीव्रता (अनुभाग) को बढ़ाया और कम किया जा सकता। यह क्रिया अपवर्तन कहलाती है। काल मर्यादा परिपक्व न होने के कारण जितने समय तक कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध बना रहता है वह अवस्था सत्ता कही जाती है। जब कर्म अपना फल विपाक देना प्रारम्भ कर देते हैं, वह उदय अवस्था है। नियम काल के पूर्व ही प्रयास पूर्वक कर्म को उदय में लाकर कर्म के फलों को भोग लेना उदीरणा कहा जाता है अर्थात् उदयमान कर्मों के सजातीय कर्मों की प्रकृति की उदीरणा संभव है। कर्मों के विद्यमान रहते हुये भी उनके फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिये दबाना, उन्हें किसी काल–विशेष के लिए फल देने में अक्षम बना देना उपशमन कहा जाता है। कर्म की वह अवस्था निधति है जिसमें कर्म न तो अपने अवान्तर भेदों में रूपान्तरित हो पाता है न अपना फल प्रदान करता है, मात्र कर्मों के समय मर्यादा और विपाक तीव्रता (परिणाम) को कम, ज्यादा किया जा सकता है। अतः यह अवस्था उत्कर्षण या आकर्षण हेतु सम्भव है। कर्मों का ऐसे प्रगाढ़ रूप में बन्धन होना कि उनकी काल–मर्यादा और तीव्रता (परिमाण) अवान्तर प्रकृति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सके, न समय के पूर्व उनका भोग ही किया जा सके, निकाचना कहा जाता है। कर्मों का विपाक नियत होने वाले कर्मों को निकाचित कर्म कहते हैं, बन्धन विपाक को लेकर होता है कि उसी विपाक द्वारा समाप्त होना अर्थात् उनके विपाक का उसी रूप में भोग अनिवार्य होता है विपाक की नियतता कहलाता है। कुछ ऐसे कर्म जिनका विपाक उसी रूप में अनिवार्य न होकर स्वरूप, मात्रा, समय, तीव्रता आदि में परिवर्तित होता है, अनिकाचित कर्म कहलाता है। अतः स्पष्ट है कि कर्म विपाक की नियतता और अनियतता दोनों ही जैन परम्परा में स्वीकार की गई है। यह धारणा जैन परम्परा को एकान्त नियतिवाद और एकान्त यदृच्छावाद के दोषों से मुक्त रखकर आत्म–निर्धारणवाद के दृढ़ धरातल पर खड़ा कर देती है।

मूर्त कर्म, अमूर्त आत्मा के ऊपर अपना प्रभाव उसी प्रकार डालता है जिस प्रकार वायु और अग्नि का अमूर्त आकाश पर, नीर–क्षीर तथा अग्निलौह–पिण्ड। जैन परम्परा मानती है कि संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्म–संतति से सम्बद्ध है, इस अपेक्षा से वह सवर्था अमूर्त नहीं अपितु मूलतः अमूर्त होते हुये भी कथंचित् मूर्त है। लेकिन इस प्रश्न पर कि जड़ कर्म और चेतन आत्मा में परस्पर प्रभाविकता स्वीकार करने पर मुक्तावस्था में भी प्रभाव को माना जा सकता है, इस पर आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है– स्वर्ण कीचड़ में रहने पर भी जंग नहीं खाता है, शुद्धात्मा कर्म परमाणुओं के मध्य रहते हुए भी उसके निमित्त से विकारी नहीं बनती जबकि अशुद्ध आत्मा विकारी बन जाती है। जड़ उसी आत्मा को विकारी बनाते हैं, जो राग–द्वेष युक्त अशुद्ध हो।[12] इसी प्रकार कर्म के अनादि और सादि होने के प्रश्न पर जैन दार्शनिकों ने सापेक्षिक सिद्धान्त को अपनाया जिसमें कर्म–विशेष की अपेक्षा से आदि और शान्त है और प्रवाह की दृष्टि से अनादि और अनन्त है। अतः यदि आत्मा नवीन कर्मों का उत्पादन रोक सके तो वह परम्परा समाप्त हो जायेगी। कर्मों की परम्परा अविद्या के कारण प्रारम होती है। जीव का बन्धन कर्म है, कर्म का कारण अविद्या।

डॉ. टाटिया के शब्दों में – कर्म अपने पूर्ण विश्लेषण में जड़ व चेतन के मध्य योजक कड़ी है। कर्म सिद्धान्त के सैद्धान्तिक पक्ष के अध्ययन से यही स्पष्ट होता है कि कर्म के भौतिक जड़ व चैतसिक पक्ष पर जोर देकर चेतन संयुक्त जड़ के पारस्परिक परिवर्तनों की सहयोगात्मकता पर बल दिया गया है। अतः स्पष्ट है संसार का अर्थ जड़ व चेतन का पारस्परिक बन्धन और मुक्ति का अर्थ है दोनों का अलग–अलग होना।[13]

कर्म का व्यावहारिक पक्ष

मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मानव अपनी सीमितता व अपूर्णता से मुक्ति चाहता है अतः व्यावहारिक जीवन के हमारे सम्पूर्ण प्रयास चेतना के ज्ञानात्मक, भावात्मक, संकल्पनात्मक शक्तियों के विकास के निमित्त होते हैं। हमारी चेतना में जो अपूर्णता का बोध है वह स्वयं ही हमारे अन्तस् में निहित पूर्णता की चाह के संकेत हैं। ब्रेडले का कथन है कि – ''चेतना अनन्त है क्योंकि वह अनुभव करती है कि उसकी क्षमताएं शान्त एवं सीमित हैं। उसका सीमित होने का यह ज्ञान स्वयं ही उसे इस सीमा के परे ले जाता है।''[14]

इसी इच्छा की पूर्ति जैन परम्परा में मोक्ष के प्रत्यय के रूप में अभिव्यक्त हुई है। अतः कर्म का व्यावहारिक पक्ष जिसमें जीव पूर्णता की अनुभूति हेतु कर्म करे। यद्यपि जैन दृष्टिकोण में कर्मणा बध्यते जन्तुः की बात उचित है लेकिन जैनाचार में सभी कर्म अथवा सभी क्रियाएं समान रूप से बन्धन–कारक नहीं हैं। साम्प्रदायिक क्रियाएं कर्म की श्रेणी में आती हैं जबकि दूसरे प्रकार का कर्म जो नैतिकता से परे अति नैतिक कर्म कहे गये हैं। यह ध्यान देना आवश्यक है कि सभी नैतिक क्षेत्र में आने वाले कर्म एक समान नहीं होते। उनमें कुछ शुभ (पुण्य), कुछ अशुभ (पाप)

होते हैं। इस प्रकार जैन विचारणा में तीन प्रकार के कर्म 1. ईर्यापथिक (अकर्म), 2. पुण्य कर्म (नैतिक कर्म), 3. पाप कर्म (अनैतिक कर्म) हैं। कुछ कर्म हमें बन्धन में डालते हैं, कुछ कर्म बन्धनहीन होते हैं। महावीर के दृष्टिकोण में कर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एवं अकर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा का अभाव ऐसा नहीं है। प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है।[15]

अतः प्रमाद को कर्म व अप्रमाद को अकर्म कहकर महावीर यह स्पष्ट कर देते हैं कि अकर्म निष्क्रियता की अवस्था नहीं सतत जागरूकता है। अप्रमत्त अवस्था या आत्म–जागृति की दशा में सक्रियता भी अकर्म है, जबकि प्रमत्त दशा या आत्म–जागृति के अभाव में निष्क्रियता भी कर्म (बन्धन) है। अतः आस्रव बन्धन–कारक क्रियायें हैं, लेकिन वे अनासक्ति एवं विवेक से समन्वित होकर मुक्ति का साधन बन सकती हैं।[16]

इसलिये कर्म और अकर्म अपने बाह्य स्वरूपक की अपेक्षाकर्ता के विवेक और मनोवृत्ति पर निर्भर होते हैं। मानव स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है, अतः कर्म प्रधान जैन परम्परा मानव को उत्तरोत्तर अपने कर्मों के प्रति उत्तरदायी मानता है और यही सामान्य उपदेश देता है कि रोग–द्वेष का त्याग कर आत्मा के समत्व रूप की प्राप्ति करो; कर्म के प्रवृत्तिरहित, मानवीयता, व्यवहारपरकता तथा आत्मानुशासित के साथ समाज–विकास व लोकहित में सहायक के साथ आध्यात्मिक यात्रा में शुभ संतुलित हो, जैन दर्शन में चारित्रिक आदर्श का विधान किया गया है। जितनी कठोरता से इनके अनुपालन का विधान यहां है पूरे विश्व के धर्म में इस नैतिक आदर्श के पालन के मार्ग की कोई मिसाल नहीं है।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र, सम्यक् ज्ञान, श्रावकाचार, श्रमणाचार, द्वादशव्रत (पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत), श्रावक व गृहस्थ के आवश्यक कार्य, एकादश प्रतिभा, पांच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह–त्याग), पांच समितियां (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान–निक्षेपण, उत्सर्ग), पांच इन्द्रिय वश, छः आवश्यक कर्म, सात शेष गुण, बाईस परीषहजय, बारह अनुप्रेक्षाएं, चारित्रिक महत्त्व का कठोरता से पालन का विधान है, जो आत्मा के समत्व रूप अर्थात् अनन्त–चतुष्टय की उपलब्धि की अनिवार्य शर्त है। आज के परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन का कर्मवाद कर्मफल की वासना से रहित, 'न कर्म करने में प्रीति के भाव का उपदेश, *गीता* के निष्काम कर्म का तथा समत्व शुभ प्राप्ति का उपदेश, आधुनिक जीवन की कामना, आसक्ति, राग–द्वेष, वितर्क, जीवन विषमता, असन्तुलन, प्रसाद, भौतिकवादिता, तनाव के उन्मूलन हेतु रामबाण है।

अतः जैन दर्शन के कर्म के व्यावहारिक पक्ष को हम कुछ बिन्दुओं में प्रस्तुत करना चाहेंगे –

1. कर्म के उद्देश्य के शुभत्व पर महत्व दिया गया है।
2. कर्म प्रवृत्ति की क्रियाओं के सम्पादन में मानव–विवेक को प्रधानता दी गई है।

3. कर्म के राग– द्वेष, कषायों से मुक्ति पर बल दिया गया है।

4. कर्म में प्रवृत्ति, निवृत्ति, सामंजस्यपूर्ण व लोक–कल्याण युक्त हो।

यहां आचार्य कुन्दकुन्द की बात रखना चाहूंगी कि– अशुभ कर्म पाप (कुशील) और शुभ पुण्य (सुशील) कहे जाते हैं, किन्तु पुण्य भी संसार (बन्धन) का कारण है। आचार्य दोनों को ही आत्मा की स्वाधीनता में बाधक मानते हैं। अतः कर्मों के व्यावहारिक पक्ष में जैन दर्शन का यही उपदेश है कि पुण्य कर्म तभी कर्म बन्धन में डालकर आध्यात्मिक विकास करते हैं जब वे अनासक्त भाव से किये जायें। तभी वे कर्मबन्ध का कारण न होकर कर्मक्षय (संवर और निर्जरा) का कारण बनते हैं जो जैन परम्परा के अन्तिम लक्ष्य की पूर्ति में सहायक है।

इस प्रकार जैन परमपरा में आत्म–मुक्ति को आत्मधर्म माना गया है जो आत्म–विश्लेषण, आत्मानुशासन, भाग्य–निर्माता बनने की सीख विश्व को देता है कि "अकर्मण्य जनों या प्रमत्त आत्मा को यह अनुभूत कराया जाये कि हर एक में महान् होने की शक्ति पूर्ण व्याप्त है। यदि वह सत्कर्म करे तो कोई भी शक्ति उसे नर से नारायण बनने से नहीं रोक सकती।"

(डॉ. पन्नालाल जैन स्मृति युवा–चिंतक पुरस्कार से पुरूस्कृत आलेख)

शोध छात्रा, दर्शन विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

संदर्भ

1. उत्तराध्ययन 32/6
2. तत्वार्थ सूत्र 6/1–12
3. तत्वार्थसूत्र 6/3–4
4. तत्वार्थ सूत्र 6/5
5. उत्तराध्ययन 32/4
6. कर्म ग्रन्थ पृ. 1
7. तत्वार्थ सूत्र 811
8. समयसार 157
9. तत्वार्थ 8/4
10. उत्तराध्ययन, 33/15
11. स्टडीज इन जैन फिलॉसफी, पृ. 254
12. समयसार – 218–19
13. स्टडीज इन जैन फिलॉसफी, पृ. 225–226
14. एथिकल स्टडीज, ब्रेडले
15. सूत्र कृतांग 1/813
16. आचारांग 1/4/2/1

अद्वैत वेदान्त तथा विशिष्टाद्वैत वेदान्त में मुक्ति : एक तुलनात्मक अध्ययन

कु. अनीता

वेदान्त दर्शन भारतीय चिन्तन–परम्परा का मूर्धन्य एवं अध्यात्म–शास्त्र का शिरोमणि है। अब तक वर्णित दार्शनिक प्रवृत्तियों तथा विचारों का चूडान्त उत्कर्ष वेदान्त में उपलब्ध होता है। वेदान्त में वर्णित ब्रह्म एवं माया सम्बन्धी विचार आदिग्रन्थ *ऋग्वेद* से ही मिलने आरम्भ हो जाते हैं परन्तु वास्तविक वेदान्त, वेद के अंतिम भाग उपनिषदों से आरम्भ होता है जहां जीव और ब्रह्म के विषय में विशिष्ट कल्पनाएं की गयी हैं। उपनिषद्–साहित्य का सारांश *भगवद्गीता* में समाहित होने के कारण, *गीता* को भी वेदान्त मे अन्तर्गत माना है। उपनिषद् तथा *गीता* में विखरे हुए विचारों को महर्षि बादरायण ने श्रंखलाबद्ध कर *ब्रह्मसूत्र (वेदान्तसूत्र)* की रचना की जो कि वेदान्त का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह चार अध्याय तथा प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त है। प्रथम अध्याय का नाम समन्वयाध्याय, द्वितीय का अविरोधाध्याय, तृतीय का साधनाध्याय तथा चतुर्थ का फलाध्याय है। साढ़े पांच सौ सूत्रों वाला यह छोटा सा ग्रन्थ समस्त वेदान्त– सिद्धान्तों का आकर–ग्रन्थ है। इस प्रकार वेदान्त के तीन प्रस्थान ग्रन्थ कहलाते हैं– *उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता* तथा *ब्रह्मसूत्र।* आचार्य शंकर ने इन तीनों पर भाष्य लिखकर अद्वैतमत का प्रवर्तन किया तथा रामानुजाचार्य ने भी अपने विशिष्टाद्वैतवाद का समर्थन इसी प्रस्थानत्रयी से किया है। ब्रह्मसूत्र पर लिखा गया आचार्य शंकर का *शारीरिक भाष्य* तथा रामानुजाचार्य का *श्री भाष्य,* दोनों ही वेदान्त पर लिखित अति महत्वपूर्ण भाष्य हैं।

अद्वैत वेदान्त में मुक्ति

"मुक्ति शब्द की निष्पत्ति मुच् (मोचनार्थक) धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर निष्पन्न होती है, जिसका अर्थ है– छुटकारा पाना। इस व्युत्पत्ति के आधार पर आत्मबोध होने पर अध्यासजन्य–मिथ्या बन्धन से छुटकारा पाने का नाम मुक्ति है।"[1] आचार्य शंकर ने विकार–रहित होने के कारण आत्मा को बन्धन एवं मोक्ष से अतीत माना है, परन्तु अविद्या के कारण जब आत्मा जीवकोटि में आ जाता है तो वह जगत् सम्बन्धी अनेक बन्धनों में बंध जाता है और इस कारण आत्मबोध में असमर्थ होता

है। आत्मबोध न होने के कारण ही जीव जगत् की समस्त वस्तुओं से कोई सम्बन्ध न होने पर भी उनसे अपना मिथ्या सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यह मिथ्या सम्बन्ध ही बन्धन का मूल कारण है और जब बन्धन की मूलभूत इस अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, तभी जीव मुक्त हो जाता है। आचार्य शंकर बन्धन एवं मोक्ष की इस व्यवस्था को पारमार्थिक न मानकर मायिक मानते हैं। आचार्य *ब्रह्मसूत्र* पर भाष्य में लिखते हैं–

"इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थं नित्यं व्योमवत्सर्वव्यापी सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिस्वभावम्। धर्माधर्मौ सहकार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्"[2] अर्थात् मुक्ति पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापी, समस्त विक्रियताओं से रहित, नित्यतृप्त, निरवयव, स्वयं–ज्योतिस्वभाव है। इस अवस्था में धर्म और अधर्म अपने कार्य सुख–दुःख के साथ तीनों कालों में भी सम्बन्ध नहीं रखते। इसी शरीर रहित स्थिति को मोक्ष कहते हैं।

आचार्य शंकर जीवन्मुक्ति तथा विदेमुक्ति के भेद से दो प्रकार की मुक्ति मानते हैं। जीन्मुक्त पुरुष का इस प्रपंचमय जगत् के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध होता है, यह बताते हुए शंकराचार्य ने लिखा है– "मुक्त पुरुष के लिए यह प्रपंचरूप जगत् उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार अग्नि के द्वारा घृत का काठिन्य नष्ट हो जाता है।"[3] यहां पर यह उल्लेखनीय है कि मुक्ति प्राप्त होने पर समस्त भौतिक जगत् का विनाश न होकर केवल जीव की जगत्बुद्धि का ही विनाश होता है। वृद्धावस्था में जीव को जो प्रपंचमय जगत् सत्य रूप से भासित होता है मुक्तावस्था में उसका वह प्रपंच शान्त हो जाता है। सत्य अथवा तत्व का बोध होने पर ब्रह्मज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्मरूप ही हो जाता है।– ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति[4]

तत्वबोध होने पर मुक्तपुरुष किसी भी कार्य को कामनारहित होकर अर्थात् अनासक्त भाव से करता है। *उपदेशसाहस्त्री* ने शंकराचार्य ने आत्मवेत्ता पुरुष का लक्षण बताते हुए कहा है कि "जो जाग्रत अवस्था में भी सुषुप्तावस्था का अनुभव करते हुए द्वैत जगत् को नहीं देखता और यदि इस द्वैतात्मक जगत् को देखता है तो वो उसे अद्वैतरूप ही समझता है तथा कर्मों को करते हुए भी जो निष्क्रिय है, वही आत्मवेत्ता मुक्त पुरुष है"[5] शंकराचार्य ने आत्मसाक्षात्कार के द्वारा अज्ञान तथा उसके समस्त कार्यों का नाश हो जाने पर जीव और ब्रह्म के ऐक्य को ही मुक्ति कहा है। प्रारब्ध कर्मों के क्षय के बिना मुक्ति नहीं मिलती। यदि जीव संचित और क्रियमाण कर्मों के नाश होने पर जीवित अवस्था में ही तत्वज्ञान प्राप्त कर लेता है तो वह जीव प्रारब्ध कर्मों के क्षयपर्यन्त शरीर को पूर्ववत् धारण करता है, यह जीवन्मुक्ति है। तत्पश्चात् प्रारब्ध कर्मों के क्षय हो जाने पर उसका शरीर नष्ट हो जाता है और वह सर्वथा मुक्त हो जाता है, यह विदेहमुक्ति है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में मुक्ति

आचार्य शंकर के अद्वैतवाद के प्रतिवाद स्वरूप वैष्णव सम्प्रदायों में सर्वप्रथम विशिष्टाद्वैतवाद का प्रचार–प्रसार हुआ। इस दर्शन का आधार ज्ञान, कर्म एवं भक्ति है। आचार्य रामानुज ने मुक्ति की व्याख्या अपने पूर्ववर्ती तथा पश्चाद्वर्ती दार्शनिक मतों से विशिष्ट अर्थ में की है, इसीलिए इस मतवाद का नाम विशिष्टाद्वैत पड़ा। रामानुजाचार्य अद्वैत–विशिष्ट ब्रह्म की सत्ता मानते हैं, जिसमें जड़ (प्रकृति), चेतन (जीव) तथा ईश्वर (सगुण) इन तीन पदार्थों का समन्वय है। इस प्रकार ब्रह्म के सम्बन्ध में त्रैतवाद इनकी विशिष्ट विशेषता है। इन्होंने जीव, जगत् एवं ईश्वर तीनों को ही सत्य माना है। इनके अनुसार "जीव न तो ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्ब है और न नित्यमुक्त है।"[6] वह ब्रह्म का अंश है तथा अणु और अल्पज्ञ है इसलिए ब्रह्म के साथ उसका ऐक्य होना कदापि सम्भव नहीं है। वस्तुतः विशिष्टाद्वैत मत में मुक्त की अवस्था में मुक्तात्मा ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त करता है, उसकी तद्रूपता को नहीं– ब्रह्मणो भावः न तु स्वरूपैक्यम्।[7] अर्थात् जीव ब्रह्म के साथ एकात्म न होकर उसके स्वरूप एवं गुणों को ग्रहण कर लेता है। रामानुजाचार्य ने ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए परा–प्रपत्ति (शरणागति) को परमावश्यक माना है। इनके अनुसार मुक्ति में भक्ति प्रधान कारण है और भक्ति में भी परा–प्रपत्ति। रामानुजाचार्य ने जीवन्मुक्ति को न मानकर केवल विदेहमुक्ति को स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं– "रामानुज के दृष्टिकोण से जीवन्मुक्ति नामक कोई चीज नहीं है। समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने पर तथा भौतिक शरीर के भी त्याग होने पर मनुष्य को ईश्वर का साहचर्य प्राप्त होता है।"[8]

आचार्य शंकर तथा आचार्य रामानुज की मुक्ति की तुलना

आचार्य शंकर के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप विशिष्टाद्वैतवाद का उदय हुआ। इसलिए दोनों के सिद्धान्तों में पर्याप्त भिन्नता देखने को मिलती है। अद्वैत वेदान्त में शंकराचार्य ने जिस जीव और ब्रह्म की एकता का विवेचन किया है रामानुजाचार्य ने उसका खण्डन कर तद्रूपता का उल्लेख किया है अर्थात् मुक्त की अवस्था में जीव ब्रह्म के साथ ऐक्य को प्राप्त न होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। इस प्रकार रामानुज ने मुक्त जीव और ब्रह्म की पृथक् सत्ता स्वीकार की है। विशिष्टाद्वैत में जहां मुक्त जीव का चन्द्रादि लोकों में गमन माना है[9], वहीं आचार्य शंकर ने ब्रह्म भावापन्न मुक्त जीव की परलोक गमनशीलता का पूर्णतः निराकरण किया है।[10] इसके अतिरिक्त आचार्य शंकर ने जीवन्मुक्ति तथा विदेह–मुक्ति दोनों का समर्थन किया है जबकि रामानुजाचार्य ने केवल विदेमुक्ति को ही माना है। रामानुज का सिद्धान्त है कि जब जीव को परब्रह्म का अनुभव हो जाता है तो फिर उसे शरीर ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती[11]। परन्तु शंकर वेदान्त के अनुसार अविद्या–निवृत्ति के फलस्वरूप आत्मबोध होने पर जीव को तब तक शरीर

धारण करना पड़ता है, जब तक प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता। अद्वैतवाद में ब्रह्म को ही एकमात्र तत्व स्वीकार किया गया है। परन्तु विशिष्टाद्वैत दर्शन में ब्रह्म तथा ईश्वर में कोई तात्विक भेद नहीं है।[12] रामानुज सगुण ब्रह्म को ही मानते हैं, निर्गुण ब्रह्म को नहीं। जहां शंकराचार्य एकमात्र ब्रह्म को ही सत्य अथवा तत्व रूप में स्वीकार करते हैं वहीं रामानुजाचार्य ने जीव, जगत् एवं ईश्वर तीनों को सत्य माना है। जगत् को मिथ्या मानने के कारण आचार्य शंकर मायावाद को स्वीकार करते हैं किंतु रामानुज ने माया को ईश्वर की अद्भुत शक्ति के रूप में स्वीकार किया है।[13] शंकराचार्य के अनुसार जीवात्मा का अविद्या–निवृत्त होकर अपने यथार्थ स्वरूप को जान लेना ही मोक्ष है[14], परन्तु रामानुज के अनुसार मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म के समान हो जाता है।[15] आचार्य शंकर एकमात्र ज्ञान को मुक्ति का साधन स्वीकार करते है। रामानुज ज्ञानकर्म समुच्चयवादी हैं। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार " आस्तिक होने के कारण रामानुज का विश्वास है कि मोक्ष ज्ञान और कर्म के द्वारा नहीं वरन् भक्ति और ईश्वर के प्रसाद के द्वारा सम्भव है।"[16] आचार्य शंकर की तुलना में रामानुजाचार्य की मुक्ति सहज एवं सरल है।

शोधछात्रा, संस्कृत विभाग,
डी.ई.आई., दयालबाग, आगरा

संदर्भ

1. *डॉ. राममूर्ति शर्मा, 'अद्वैत वेदान्त' इतिहास तथा सिद्धान्त, पृ. 228*
2. *ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य–1/1/4*
3. *ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य– 1/1/4*
4. *मुण्डकोपनिषद्–2/2/9*
5. *उपदेशसाहस्री–10/13*
6. *आचार्य बलदेव उपाध्याय, वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त , पृ. 163*
7. *श्रीभाष्य–1/1/1*
8. *डॉ. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, खण्ड 2, पृ. 712*
9. *श्रीभाष्य–2/3/20*
10. *ब्र.सू.शां.भा. 4/3/7*
11. *श्रीभाष्य–4/4/20*
12. *श्रीभाष्य वार्तिक 1/1/7*
13. *श्री भाष्य–7/14*
14. *ब्र.सू.शां.भा.–312/21*
15. *श्री भाष्य–4/2/211*
16. *डॉ. एस. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, खण्ड–2, पृ. 704*

वेदान्तसार में जीवन्मुक्त का स्वरूप

श्री राहुल वर्मा

जीवन्मुक्ति :

अद्वैत वेदान्त के अनुसार अखण्ड ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति ही मुक्ति का स्वरूप कहलाती है। किन्तु कर्मबन्धनों एवं स्वरूप–बोध दोनों से एक साथ सम्बन्धित होने के कारण जीवन–मुक्त की अवधारणा का वेदान्त में वैशिष्ट्य है।

वेदान्तसार में सदानन्द ने भिद्यते हृदय ग्रन्थि ..... क्षीयन्ते, च कर्माणि इत्यादि श्रुति को सन्दर्भित करते हुए जीवन्मुक्त का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है–

जीवन्मुक्त उस मनुष्य को कहते हैं जो अपने स्वरूप अर्थात् अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर अज्ञान एवं उसके कार्य यथा, संचित कर्म, संशय, विपर्यय आदि का भी वाद हो जाने से सभी अज्ञान–प्रेरित बन्धनों से रहित एवं ब्रह्म–निष्ठ होता है।

जीवन्मुक्त की अवधारणा कर्म–बन्धनों को सन्दर्भित करती है। अतः कर्म के प्रकारों का विवेचन अभीष्ट है।

भारतीय परम्परा में सामान्यतया एवं विशेषतया वेदान्त परम्परा में वर्णित तीन प्रकार के कर्मों का विवरण उल्लेखनीय है। तदनुसार क्रियमाण अथवा संचीयमान कर्म उन्हें कहते हैं जो जीव के द्वारा अज्ञानवश किए जा रहे हैं एवं किए जाने हैं।

संचित कर्मों का भोग एक ही जीवन काल में सम्भव नहीं होता, अतः जीव अनेकानेक जन्म लेता रहता है।

संचित कर्म या सम्पूर्ण कर्मों के भण्डार के उस अंश को प्रारब्ध कर्म कहते हैं जिसका भोगा जाना जीव के वर्तमान जीवन में विहित होता है। जन्म लेने के उपरांत जीवन से मृत्युपर्यन्त जीव जिन कर्मों का फल भोगता है वे इस जन्म के लिए हुए कर्मों के फलस्वरूप फलित होते हैं। इन्हें ही प्रारब्ध कहा जाता है। एक बार जन्म ले लेने के उपरान्त इस प्रारब्ध कर्म का भोग अनिवार्य हो जाता है। तत्व–ज्ञान होने पर भी इस प्रारब्ध कर्म से मुक्ति नहीं मिलती। जीवन्मुक्त की अवधारणा के सन्दर्भ में दो तथ्यों का समझा जाना ही अपेक्षित है। एक प्रारब्ध और दूसरा स्वरूप–बोध।

वेदान्त द्वारा विहित मार्गों एवं उपायों से जीव को जब ब्रह्मानुभूति या अपरोक्षानुभूति उपलब्ध हो जाती है तब उसके द्वारा भविष्य में किए जाने वाले कर्म

उसके लिए बन्धनकारी नहीं होते। वह कर्म करता हुआ दिखलाई देता है किन्तु यथार्थ में वह कर्मवासना एवं अविद्या से अलिप्त रहता है। अतः उसके द्वारा किये गये ये कर्म न तो क्रियमाण कहे जाने योग्य हैं और न ही संचित का हिस्सा बनते हैं। यथार्थ ज्ञान अथवा स्वरूप–बोध की उपलब्धि से जीवनकाल की परिसमाप्ति के पूर्व ही मनुष्य प्रारब्ध के अतिरिक्त अन्य कर्म–बन्धनों से मुक्त हो जाता है। तदुपरान्त ऐसे ज्ञानी का जीवन भी तब तक विभिन्न भोगों के साथ चलता रहता है जब तक वह प्रारब्ध को पूरा नहीं भोग लेता। इस भोग के पूरा होते ही पहले से ही मुक्तभाव को प्राप्त पुरुष देह–बन्धन से ही मुक्त होता हुआ विदेह–मुक्त कहलाता है।

महाभारत[1] में भी इसका समर्थन किया गया है– "यतेन किंचिद्धि कृतं हि कर्म तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाशः।"

परन्तु भोग के अतिरिक्त ज्ञान से भी कर्मों का विनाश शास्त्रों में कहा गया है। श्रीकृष्ण *गीता* में कहते हैं–

"हे अर्जुन, जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को जलाकर राख कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मों को जलाकर भस्म कर देती है।"[2]

श्रुति कहती हैं– 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः[3]। इसमें कुलालचक्र का दृष्टान्त दिया जाता है।

देहयात्रामात्रार्थम् – 'देहयात्रा देहस्थितिः, तन्मात्रार्थ न त्विन्द्रियप्रीत्यर्थम्' (*विद्वन्मनोरंजनी*), अर्थात् देह की स्थिति ही देहयात्रा है। जीवन्मुक्त केवल शरीर की स्थिति के लिए भोग्य प्रारब्ध फल को भोगता है, इन्द्रियों की तृप्ति के लिए नहीं।

सुखदुःखरूप प्रारब्ध का भोग तीन प्रकार से होता है। इनको स्वेच्छा–प्रारब्ध, अनिच्छा–प्रारब्ध और परेच्छा–प्रारब्ध कहा जाता है–

स्वेच्छा–प्रारब्ध – ऋतुकाल में स्त्रीगमन के द्वारा सुख प्राप्त करना, तथा न्यायपूर्वक आजीविकोपार्जन में कष्ट स्वीकार करना आदि स्वेच्छा–प्रारब्ध है। इन कर्मों को करने के लिए जो अन्तः प्रेरणा होती है, उसका कारण प्रारब्ध है।

अनिच्छा–प्रारब्ध – राह चलते समय मनुष्य पर वृक्ष या दीवाल आदि का टूटकर गिर पड़ना, बिजली गिर जाना, नदी पार करते समय पानी में डूब जाना, अपने हाथ से अकस्मात् पिस्तौल से गोली छूटकर लग जाना आदि दुःख रूप भोग, तथा राह चलते हुए रत्न मिल जाना, खेत जाते समय भूमि में अशर्फियों से भरे हुए सोने के कलश मिल जाना आदि सुखरूप भोग, जिनको प्राप्त करने की न तो अपने मन में सम्भावना थी और न किसी दूसरे को ही ऐसी इच्छा थी, अनायास दैवयोग से अपने आप इस प्रकार के सुखःदुखादिरूप भोगों का प्राप्त होना अनिच्छा–प्रारब्ध है।

परेच्छा–प्रारब्ध –चोर–डाकुओं का आक्रमण होना, सर्प का डस लेना, जानबूझकर किसी के द्वारा कष्ट लेना, कुपथ्य करते हुए रोगी को हाथ पकड़कर वैद्य या मित्र के द्वारा रोका जाना, बिना इच्छा के दूसरे से धन और सम्पत्ति मिल जाना आदि सुखरूप भोग, जो दूसरों की इच्छा से प्राप्त होते हैं, उनको परेच्छा–प्रारब्ध कहते हैं।

जीवन्मुक्त के ऐसे लक्षण बताए जा रहे हैं, जिनको देखकर अन्य लोग उसके जीवन्मुक्त होने का अनुमान कर सकते हैं।

''अस्य ज्ञानात्पूर्व विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्तिवच्छुभवासना–नामेवानुवृत्तिर्भवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा।''

इस जीवन्मुक्त में, जिस प्रकार ज्ञान से पूर्व होने वाले (अभ्यस्त) आहार विहार की अनुवृत्ति होती है, उसी प्रकार (ज्ञान से पूर्व होने वाली) शुभ वासनाओं की भी अनुवृत्ति होती है अथवा शुभ और अशुभ दोनों में उदासीनता हो जाती है।

''जिसको अद्वितीय आत्मतत्त्व के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार हो गया है, ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष यदि स्वेचछाचार करे, तो अशुचिभक्षण करने पर कुत्तों और तत्त्वदर्शियों में क्या भेद रह जाएगा?''[4]

निष्कर्ष यह निकलता है कि जिस महापुरुष में शुभाशुभ के प्रति समभाव, यथेष्टाचरण का सर्वथा अभाव तथा अमानित्वादि साधनों और सद्गुणों की बिना प्रयास के स्वभावतः अनुवृत्ति परिलक्षित हो, उसे जीवन्मुक्त समझना चाहिए।

जीवन्मुक्त प्रारब्ध का क्षय होने पर विदेहमुक्त या परममुक्त हो जाता है। परम पुरुषार्थ होने के कारण अब सबसे अन्त में परममुक्ति का निरूपण होता है–

''बहुत कहने से क्या लाभ, यह जीवन्मुक्त केवल शरीर यात्रा के प्रयोजन से इच्छा, अनिच्छा और परेच्छा से प्राप्त कराए गए सुखदुःखरूप प्रारब्धफलों का (असङ्गभाव से) अनुभव करता हुआ, तथा अन्तःकरणादि की विषयाकार वृत्तियों को (साक्षिरूप से) प्रकाशित करता हुआ, उस (प्रारब्धकर्माक्षिप्त) अज्ञान और उसके कार्यों तथा संस्कारों का भी (पूर्वसिद्ध ज्ञान के द्वारा) विनाश हो जाने से, समस्त भेद–प्रतीतियों से रहित, परमकैवल्यरूप, आनन्दैकरस, अखण्डब्रह्म के रूप में स्थित होता है। ''ब्रह्मवेत्ता के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं''[5], ''वे यहीं (अर्थात् इस परमात्मा में ही) लीन हो जाते हैं''[6], और ''(अविद्याकृत कामकर्मादि के बन्धनों से) विमुक्त हुआ यदि जीवन्मुक्त विमुक्त (अर्थात् विदेहमुक्त) हो जाता है (अर्थात् पुनः शरीर नहीं धारण करता है)''[7], इत्यादि श्रुतियों से पूर्वोक्त कथन प्रमाणित होता है।

शोध छात्र, दर्शन शास्त्र विभाग

रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

संदर्भ

1. *महाभारत (3/13868),*
2. *गीता (4/37)*
3. *छान्दोग्यउपनिषद् (8/12/1),*
4. *नैष्कर्म्यसिद्धि (4/62)*
5. *बृहदारण्यकउपनिषद् (4/4/6),*
6. *बृहदारण्यकउपनिषद् (3/2/11)*
7. *कठोपनिषद् (2/2/1)*

वैदिक चिन्तन परम्परा में शिक्षा : आद्य भारतीय दृष्टि

सुश्री अलका रानी

वैदिक चिन्तन–परम्परा से अर्थ–अभिप्रेत है – वह चिन्तन–परम्परा जिसका मूल वेद तथा उपनिषदों मे निहित है तथा जो भारतीय दृष्टि का वह मूलाधार है जिस पर युग–युगान्तर के बाद भी आज दर्शन की सुदृढ़ ईमारत टिकी है। इस परम्परा के अन्तर्गत मूलतः दो दृष्टियाँ प्रभावी हैं – 1. आद्य तथा 2. आधुनिक। प्रासंगिक संदर्भ में ये दोनों प्रभावी दृष्टियाँ हमारे विवेचन के विषय होंगे–

'आद्य' से अर्थ–अभिप्रेत है – आरम्भिक एवं पुरातन। अतएव 'आद्य भारतीय दृष्टि' से अर्थ–अभिप्रेत है – वह आरम्भिक अथवा पुरातन 'दृष्टि' जिसके सर्जन के प्रभावी स्रोत वेद तथा उपनिषद् रहे हैं।

शिक्षा :

सर्वथा द्रष्टव्य है कि 'शिक्ष' भाव ''अ''+ टापु से बना है जिसका कोषीय अर्थ है – अधिगम अध्ययन और ज्ञानाभिग्रहण। किसी कार्य को करने के लिए निष्णात होने को भी शिक्षा ही कहते हैं। आद्य भारतीय दृष्टि के संदर्भ में यह सर्वथा स्पष्ट है कि यहाँ शिक्षा का प्रथम संदर्भ ज्ञानाभिग्रहण है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि 'ज्ञान' के संबंध में आद्य भारतीय चिन्तन इस 'दृष्टि' का संपोषक रहा है कि ज्ञान मनुष्य में उसके अन्दर से उत्पन्न होता है, बाहरी परिवेश के प्रभाव से नहीं।

वास्तविक ज्ञान बाहर से नहीं आता, उसका अन्दर से अनावरण होता है, क्योंकि मनुष्य के अन्दर उसकी आत्मा ही ज्ञांन का सनातन स्रोत है। स्वामी विवेकानन्द ने इसी आद्य–दृष्टि के उद्घाटन में स्पष्ट शब्दों में कहा, ''विश्व ने कभी भी जो ज्ञान प्राप्त किया है वह सब मानस से आता है, विश्व का असीम पुस्तकालय आपके मस्तिक में है। बाहर दुनिया केवल एक संकेत, केवल एक अवसर है जो आपको मानस के अध्ययन के लिए प्रेरित करता है।''[1] स्पष्ट है कि आद्य भारतीय चिन्तकों के अनुसार हमारा समस्त ज्ञान हमारे मस्तिष्क में गुप्त रूप से उपस्थित होता है। शिक्षा इसी का अनावरण है, उसमें बाहर से कुछ नहीं आता, बल्कि जो हमारे अन्दर है वही अभिव्यक्त होता है। इसलिए किसी मनुष्य की शिक्षा उसके द्वारा पढ़ी गयी पुस्तकों से नहीं जानी जाती, बल्कि माया के पर्दे की मोटाई से जानी जाती है। जिसकी आँखों के सामने यहां पर्दा जितना ही

अधिक मोटा होता है, वह उतना ही अधिक अज्ञानी होता है। ज्ञान का प्रकाश बढ़ते जाने के साथ–साथ यह पर्दा भी उठता जाता है।

ज्ञान के अनावरण में अध्यापक का कार्य संकेत देने का है। इस संकेत से बालक में छिपी ज्ञान की शक्ति अभिव्यक्त हो जाती है और वह अपने अन्दर छिपे ज्ञान का अनावरण करता है। स्वाभाविक है कि वह उसके अन्दर से ही होगा और बाहरी परिवेश केवल उसका अवसर उपस्थित कर सकता है। शिक्षक का कर्त्तव्य बालक के लिए एक ऐसे परिवेश का निर्माण करना है जिसमें उसके अन्दर के सुप्त ज्ञान को अभिव्यक्त होने का पूर्ण अवसर मिले। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति के अन्दर सुप्तावस्था में विद्यमान शक्तियों का विकास और अभिव्यक्ति होती है। वस्तुतः आद्य भारतीय चिन्तन में शिक्षा के प्रति यह भावना प्रभावी रही है कि शिक्षा जहाँ एक ओर मनुष्य के वैयक्तिक व्यक्तित्व को विकसित करती है, वहाँ उसके सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यक्तित्व को भी गति देती है। इस भावना के पक्षपोषण में डॉ. देवराज ने कहा है – ''..... शिक्षा का विशिष्ट उद्देश्य है शिक्षार्थी के व्यक्तित्व का गुणात्मक विकास ..... दुनिया के महान् लोगों की बौद्धिक तथा आवेगात्मक प्रक्रियाओं में साझेदार बनकर शिक्षार्थी अपने व्यक्तित्व का विकास करता है।''[2] स्पष्ट है कि इस भावना के तहत शिक्षा का महत्त्व व्यक्ति की चिन्तन–शक्ति, अभिरुचि, आवश्यकता, क्षमता आदि के विकास तथा उसकी सामाजिकता और सांस्कृतिकता के निर्माण की दृष्टि से है। वस्तुतः शिक्षा का कार्य और कुछ नहीं, बल्कि मनुष्य की सांस्कृतिक पूँजी का उसकी अगली पीढ़ी में सुसंस्कृत ढंग से प्रवेश कराना है। शिक्षा के कारण ही एक–एक व्यक्ति विगत हजारों वर्षों की सांस्कृतिक विरासत का संवाहक बन जाता है। अर्थात् वह अपने सामयिक क्षणों के मूल्यों से ही संबंधित नहीं होता, बल्कि विगत से चले आते सम्पूर्ण मनुष्य जाति के जीवन–मूल्यों से जुड़ा रहता है।

स्पष्ट है कि आद्य भारतीय भावना के अन्तर्गत शिक्षा को व्यक्तित्व के विकास के उत्सेधक की स्वीकृति प्रदान की गयी है। वस्तुतः यहाँ शिक्षा की जो परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी हैं, उनमें व्यक्ति के धार्मिक और आध्यात्मिक विकास को विशेष बल प्राप्त है। उपनिषदों के ऋषि याज्ञवल्क्य के अनुसार शिक्षा वह है, जो मनुष्य को सच्चरित्र और संसार के लिए उपयोगी बनाए। वस्तुतः आद्य चिन्तकों ने शिक्षा को मुक्ति के साधन के रूप में स्वीकार करते हुए इस सत्य की उद्घोषणा की –

''सा विद्या या विमुक्तये ।''

इनके अनुसार, ''यथार्थ में मनुष्य की आन्तरिक पूर्णता को अभिव्यक्त करना शिक्षा है।'' वस्तुतः शिक्षा के संदर्भ में इनकी मूल भावना रही है कि : ''जो मुक्ति के योग्य बनाए वही विद्या है। अतः जो चित्त की शुद्धि न करे, मन और इन्द्रियों को वश में करना न सिखाए, निर्भयता तथा स्वावलम्बन उत्पन्न न करे उस शिक्षा में चाहे जितने ज्ञान का कोष, तर्क की कुशलता और भाषा में प्रवीणता क्यों न उपस्थित हो, वह शिक्षा नहीं है।''

स्पष्ट है कि आद्य भारतीय चेतना में महत्वपूर्ण होने के बावजूद शिक्षा का संदर्भ केवल 'ज्ञान' तक प्रतिबद्ध नहीं है। यहाँ जो दृष्टि प्रभावी रही है वह यह कि "जो शिक्षा केवल ज्ञान प्रदान करने तक सीमित है, वह शिक्षा नहीं है। सच्ची शिक्षा वह है जो मानव का आध्यात्मिक विकास करती है, व्यक्ति की चेतना का परम सत्ता से योग कराती है।"

यह सर्वथा द्रष्टव्य है कि आद्य भारतीय चेतना अध्यात्म से अनुप्राणित रही है। यही कारण है कि आद्य काल से लेकर अब तक भारतीय चिन्तक मानव के ईश्वर से संयोग की स्थिति से कम में कभी भी संतुष्ट नहीं होते। इसी चेतना की संपुष्टि में आद्य चिन्तकों ने शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य मानव का आध्यात्मिक विकास अथवा ईश्वर–साक्षात्कार स्वीकार किया है। उल्लेखनीय है कि यह ईश्वर–साक्षात्कार ही दूसरे शब्दों में आत्म–साक्षात्कार की संज्ञा से अभिहित है। अतः शिक्षा के संबंध में सर्जित आद्य 'दृष्टि' की अभिव्यंजना में सारतः कहा जा सकता है कि :

"आद्य दृष्टि में शिक्षा वह है जो मस्तिष्क को अन्तिम सत्य खोजने के योग्य बनाती है, जो सत्य मानव को उसके पार्थिव बन्धनों से मुक्त करता है तथा उसे वह ऐश्वर्य प्रदान करता है जो सांसारिक वस्तु नहीं है बल्कि आन्तरिक प्रकाश है, जो शक्ति नहीं है बल्कि प्रेम है तथा जिसके कारण मानव उस सत्य को अपना लेता है तथा उसे ढंग से प्रकट करता है।"

ए. एस. आल्टेकर ने इस सत्य को लक्ष्य कर स्पष्ट शब्दों में कहा है :– "भारतवर्ष में शिक्षा को सदैव प्रकाश और शक्ति का स्रोत माना गया है जो कि मानव की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों और उपकरणों के प्रगतिशील और समन्वित विकास के द्वारा उसकी प्रकृति को रूपान्तरित करती और श्रेष्ठ बनाती है।"[3]

शिक्षा की वास्तविक प्रकृति :

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि आद्य चिन्तकों के अनुसार शिक्षा कोई बाहर से प्राप्त वस्तु नहीं वरन् इसका स्रोत मानव–आत्मा में निहित है। स्पष्ट है कि आद्य चिन्तकों में शिक्षा का वास्तविक अर्थ आत्मशिक्षा है। यहीं यह भी द्रष्टव्य है कि जब ज्ञान का स्रोत हमारे ही अन्दर है तो स्वाभाविक है कि शिक्षा स्वयं ही प्राप्त की जा सकती है। वास्तव में शिक्षक बालक को शिक्षा नहीं देता, बल्कि शिक्षा के संकेत से बालक स्वयं अपने को शिक्षा देता है। बालक की आत्मा ही उसकी सबसे बड़ी शिक्षक है। ज्ञान कोई वस्तु या वस्त्र नहीं है, जो शिक्षक के द्वारा शिक्षार्थी को दी जा सके। ज्ञान अनुभव और क्रिया के साथ–साथ बढ़ता है। जिस प्रकार बरगद का एक बहुत छोटा सा बीज अत्यंत विशाल रूप ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार बालक में ज्ञान का बीज बहुत छोटे रूप में होते हुए भी उसका इतना अधिक विकास किया जा सकता है कि एक बरगद के समान चारों दिशाओं में फैल जाए। प्रत्येक मनुष्य

के अन्दर आत्मा की असीम शक्ति है, भले ही वह उसको न जानता हो। अधिकतर लोग अपनी आत्मा को नहीं पहचानते और ज्ञान की तलाश में बाहर घूमते–फिरते हैं। इस अन्तरात्मा को जान लेने के बाद बाहर से कुछ जानने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

स्पष्ट है कि इस प्रकार आद्य भारतीय चिन्तन–दृष्टि में शिक्षा आत्म–विकास की प्रक्रिया है। बालक स्वयं अपने को शिक्षित करता है। ''जिस तरह से आप एक पौधा नहीं उगा सकते, उसी तरह आप किसी बालक को शिक्षा नहीं दे सकते। पौधा स्वयं अपनी प्रकृति को विकसित करता है।[4] परन्तु क्या इसका अर्थ यह है कि शिक्षा में शिक्षक का कोई महत्व नहीं है ? शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक का महत्व बालक के आत्म–विकास के मार्ग की बाधाओं को दूर करने में है। जिस तरह माली का काम जमीन को ठीक करना, पौधे की देखभाल के लिए और उसके बचाव के लिए प्रबन्ध करना और समय–समय पर उसको पानी देना है, उसी प्रकार शिक्षक का कार्य बालक की देखभाल रखना और उसको ऐसा परिवेश प्रदान करना है जिसमें उसका समुचित विकास हो सके। यह ठीक है कि ज्ञान के स्रोत स्वयं बालक में उपस्थित होते हैं, किन्तु शिक्षक ही उसको जगाता है। प्रेरणा बालक में होती है, किन्तु शिक्षक के संकेत से यह प्रेरणा जाग्रत होती है। अस्तु, शिक्षक का कार्य यह है कि वह बालक–बालिकाओं को अपने हाथ–पैरों, इन्द्रियों और बुद्धि आदि के प्रयोग के लिए उकसाये।

शिक्षा का लक्ष्य :

शिक्षा के लक्ष्य के निर्धारण में आद्यचिन्तकों ने अपनी उदात्त भावनाओं को अभिव्यक्त किया है। इनकी स्पष्ट मान्यता रही है कि ''बालक की शिक्षा उसकी प्रकृति में जो कुछ सर्वोत्तम, सर्वाधिक शक्तिशाली, सर्वाधिक अन्तरंग और जीवन पूर्ण है, उसको व्यक्त करना होनी चाहिए, मनुष्य की क्रिया और विकास जिस साँचे में ढलने चाहिए, वह उसके अन्तरंग गुण और शक्ति का साँचा है। उसे नई वस्तुएँ अवश्य प्राप्त होनी चाहिए, परन्तु वह उनको सर्वोत्तम रूप से और सबसे अधिक प्राणमय रूप में स्वयं अपने विकास, प्रकार और अन्तरंग शक्ति के आधार पर प्राप्त करेगा।''[5] इस प्रकार सच्ची शिक्ष आत्म–शिक्षा है। वह एक प्रयोजनमय प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अपनी अन्तरंग प्रकृति और उसकी प्रेरणाओं के लक्ष्यों को प्राप्त करता है। बालक की सच्ची शिक्षा वही है जो कि उसके सम्पूर्ण पहलुओं का विकास करे, जो कि उसके जीवन, मस्तिष्क और आत्मा, व्यक्तिगत और सामाजिक स्थिति – सभी में उसके सर्वांग विकास में योगदान दे। भारतीय दार्शनिक मनुष्य में मनस् को नहीं, बल्कि आत्मा को ही सर्वोच्च तत्व मानते रहे हैं, इस दृष्टि से भारतीय दृष्टिकोण पाश्चात्य दार्शनिकों के दृष्टिकोण से भिन्न है, जिनके मत में मनस् ही सर्वोच्च मानवीय तत्व है।

सर्वथा द्रष्टव्य है कि आद्य भारतीय चिन्तक व्यक्ति और समाज को एक ही सद्वस्तु के दो महत्वपूर्ण पहलू मानते हैं जिनको केवल विचार की दृष्टि से ही अलग किया जा सकता है। अस्तु, शिक्षा के लक्ष्यों की चर्चा करते समय इन्होंने शिक्षा के सामाजिक पहलू पर भी ध्यान दिया है। शिक्षा के लक्ष्य केवल व्यक्ति के मनोविज्ञान से ही निश्चित नहीं होते, क्योंकि यह एक सामाजिक प्रक्रिया भी है। उसके आदर्श इस बात से निश्चित होते हैं कि हम किस प्रकार के समाज का निर्माण करना चाहते हैं। वस्तुतः आद्य भारतीय चिन्तकों ने एक सर्वांग विकसित दैवी समाज और दैवी मानव की कल्पना की है। मनुष्य में वे उसके किसी भी एक पहलू पर जोर देने के विरुद्ध हैं, भले ही वह पहलू कितना ही अधिक महत्वपूर्ण क्यों न हो। आद्यचिन्तक, प्रवृति और निवृति दोनों को ही आवश्यक मानते हैं और इनमें से किसी को भी बहिष्कृत करना एकांगी दृष्टिकोण समझते हैं। वे न तो व्यक्तिवादी हैं और न समूहवादी; उनके अनुसार व्यक्ति और समूह इतने घनिष्ट रूप से संबंधित हैं कि उनको अलग नहीं किया जा सकता। इन दोनों के ही माध्यम से एक ही सद्वस्तु की अभिव्यक्ति होती है। मनुष्य का लक्ष्य सर्वांगपूर्णता प्राप्त करना है, जिसमें केवल वह एक व्यक्ति के रूप में नहीं बल्कि समाज के सदस्य के रूप में भी विकसित होता है।

आद्य भारतीय चिन्तन में परिकल्पित शिक्षा के लक्ष्य को स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ वेद एवं उपनिषद् की संकल्पनाओं को आधार बनायेंगे –

सर्वथा ध्यातव्य है कि ज्ञान अर्थात् विद्या के संबंध में वैदिक ऋृषियों की स्पष्ट परिकल्पना थी कि विद्या का स्परूप ज्ञानपरक और बौद्धिक उत्कर्ष–जन्य हो, किन्तु इसके साथ–साथ चारित्रिक निर्माण, निस्वार्थ सेवा–भावना, राष्ट्र–कल्याण एवं लौकिक और पारलौकिक जीवन–रहस्यों को अधिकाधिक समझने की भी व्यवस्था हो, इस पर अधिक ध्यान दिया गया। समाज के चिन्तकों ने शिक्षा ही जीवन के चार पुरुषार्थों – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष – की अभिपूर्ति का साधन है, इसे अच्छी तरह परख लिया था। फलतः विद्या और ज्ञान तथा आचरण एवं कर्मठता शक्ति के मानदण्ड माने गये।[6] धन–सम्पदा और नैतिक उपलब्धि को उच्चत्तर कार्यों और लौकिक – पारलौकिक उद्देश्यों की पूर्ति का साधन मात्र माना गया, जीवन का उद्देश्य नहीं।[7] ज्ञान ही आलोक–स्रोत है, अज्ञान अन्धकार के समान है।[8] अज्ञानी पशु के समान है।[9] अज्ञानी मनुष्य कर्म करता है, लेकिन उसके कर्मों की महत्ता नहीं। विद्या, श्रद्धा और योग–संयुक्त कर्म ही फलदायी और श्रेष्ठ होता है, क्योंकि ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो मानव को विभिन्न तत्वों के मूल को समझने–परखने और सत्य एवं सही कर्मों की ओर प्रवृत्त करता है।[10] इसीलिए ज्ञान को ''अप्रतिम'' माना गया।[11] *ऋग्वेद* में मनुष्य की श्रेष्ठता के आधार के रूप में विद्या को प्रतिष्ठित किया गया।[12] *अर्थर्ववेद* में ऋृषि ने विद्या अर्थात् शिक्षा और ज्ञान के उद्देश्यों और

उपलब्धियों में श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धन, आयु और अमृतत्व को सम्मिलित किया है।[13] शिक्षा से व्यक्ति केवल आत्मनिर्भर ही नहीं होता, प्रत्युत उसमें आत्म–संयम, आत्म–चिन्तन, आत्म–विश्वास, आत्म–विश्लेषण आदि के साथ पर–चिन्तन, लोककल्याण, राष्ट्र–भावना आदि उदात्त सूत्र भी सन्निहित हो जाते हैं। अतः विद्या से वैयक्तिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्वों का भी समुचित निष्पादन होता है।

उपनिषद् में शिक्षा के लक्ष्य की उद्घोषणा शिक्षणाश्रम की निम्नांकित प्रार्थना में उद्घोषित प्राप्त होती है :

"ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।[14]

प्रासंगिक संदर्भ के अन्तर्गत यह प्रार्थना निम्नतः स्पष्ट की जा सकती हैः

(क) सह ना ववतु – आत्मरक्षा उपनिषद्–निर्दिष्ट शिक्षा का प्रथम उद्देश्य है। अनियंत्रित–उत्तेजनाओं और व्यर्थ की कामनाओं एवं अनियमित आचरण से मनुष्य की ऊर्जा क्षीण होती है और वह अरक्षित हो जाता है। उपनिषद् निर्दिष्ट शिक्षा छात्रों के समक्ष आत्मनियंत्रण संबंधी मौलिक प्रश्नों को अवतरित कर उसका सफल समाधान प्रस्तुत करती है, जिससे मनुष्य की आत्मनियंत्रणात्क शक्ति शनैः शनैः विकसित होती जाती थी, और उनका आत्मविश्वास इतना परिपुष्ट हो जाता था और समय आने पर वे दूसरे की रक्षा में भी समर्थ हो जाते थे। वे अनियंत्रित उत्तेजनाओं, दुर्दम्य वासनाओं और अनियमित आचरण रूपी हृदयस्थ शत्रुओं के आक्रमण का जबाब अपनी आत्मनियंत्रणात्क शक्ति से देने में पूर्णतया समर्थ हो जाते थे।

(ख) सह नौ भुनक्तु – उपनिषद्–निर्दिष्ट शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक और आध्यात्मिक समानता भी है। इस प्रार्थना में शिष्य एवं गुरु दोनों साथ–साथ सभी प्रकार के भोगों की अर्थात् पुरुषार्थ–चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं। वस्तुतः उस युग में भी अर्थ की महत्ता स्पष्टतः स्वीकार की जाती थी। उपनिषद्कालीन शिक्षा मानवीय समाज से दरिद्रता के निर्मूलन का पाठ पढ़ाती थी। उपनिषद्कालीन ऋषि मानवीय आर्थिक आवश्यकताओं को अस्वीकृत नहीं करते थे या उससे भागते नहीं थे अपितु आर्थिक आवश्यकताओं की अनन्त अभिवृद्धि पर अध्यात्म की सहायता से नियंत्रण स्थापित करने का सफल प्रयास करते थे। उस समय की शिक्षा का उद्देश्य केवल भौतिक पदार्थों के प्रति पागलपन की सीमा तक बढ़ते हुए प्रेम की वृद्धि करना नहीं था, जीवन की मूलभूत भौतिक आवश्यकताओं की सम्पूर्ति के साथ–साथ व्यक्तिगत और सामाजिक, बौद्धिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक विकास के लिए केवल भौतिकवादी प्रवृत्ति पर आध्यात्मिकता का कान्तासम्मित नियंत्रण ही वस्तुतः उपनिषद्कालीन शिक्षा का सामाजिक लक्ष्य था।

(ग) सह वीर्यं करवावहै – शारीरिक योग्यता की सम्पूर्ण सम्प्राप्ति उपनिषद्कालीन शिक्षा के उद्देश्यों में प्रमुख है। शारीरिक क्षमता के अभाव में अन्य समस्त उपलब्धियाँ

फीकी पड़ जाती हैं। इस युग की "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" जैसी शिक्षणात्मक पाश्चात्य और प्राच्य मान्यताओं की बीच उपनिषद्काल में यह आदर्श पल्लवित, पुष्पित और फलित हो रहा था, जहाँ छात्र या शिक्षक दोनों में किसी के अस्वस्थ हो जाने से शिक्षा अवश्यमेव बाधित हो जायेगी। इसीलिए उपनिषद्काल में यह प्रयास किया जाता था कि गुरु एवं छात्र दोनों प्रकृति के सुन्दर, सुरम्य एवं स्वास्थ्यप्रद वातावरण में अकृत्रिम जीवन व्यतीत करते हुए ज्ञान पूरा करने के लिए नियमित जीवन व्यतीत करें, जिससे कि दोनों (शिष्य एवं गुरु) वीर्यवान हो सकें।

(घ) तेजस्विनावधीतमस्तु – मानसिक शक्ति से विहीन शारीरिक बल वांछनीय नहीं था। ज्ञान की तेजस्विता प्राप्त करना उपनिषद्–निर्दिष्ट शिक्षा की अपूर्व विशेषता है। वैज्ञानिक उपलब्धि के इस उत्कृष्ट युग में भी जहाँ ज्ञान ही चरम लक्ष्य है वहाँ उपनिषद्कालीन युग में ज्ञान की दिव्यता चरम लक्ष्य है।

यह निर्विवाद तथ्य है कि ज्ञान ही मानव–जीवन की सर्वोत्त्कृष्ट शक्ति है। उपनिषद्कालीन ऋषियों का विश्वास था, मनसा, वाचा, कर्मणा, बलहीन मनुष्य परमतत्व की प्राप्ति में सक्षम नहीं हो सकता। *मुण्डकोपनिषद्* में स्पष्ट घोषणा की गी है "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"[15] डॉ. रामास्वामी का भी विचार है "स्वस्थ शरीर के निर्माण पर उतना ही अधिक जोर दिया गया था जितना लक्ष्य कि दृढ़ता और संकल्प की पवित्रता और शिष्टता पर क्योंकि ये सब गुण बहुत हद तक शारीरिक स्वास्थ्य पर आश्रित रहते हैं। विद्यार्थी खुद को केवल उपयोगी ही नहीं बनाता था बल्कि बलिष्ठ एवं अनुशिष्ट भी बनाता था।[16]

सम्पूर्ण समन्वित व्यक्तित्व का विकास उपनिषद्–निर्दिष्ट शिक्षा की विशेषता थी। इस शिक्षा का उद्देश्य जहाँ सुषुप्त बौद्धिक गुणों को जागृत करना था वहीं विवेकशील दृष्टि और बौद्धिक, नैतिक गुणों का मानव के द्वारा मानव–समाज में प्रकाशन भी था।

उल्लेखनीय है कि आत्म सहन–शक्ति उपनिषद्–शिक्षा का सबसे विचित्र, पवित्र और रचनात्माक उद्देश्य है, जो निःसन्देह आद्य भारतीय विचारधारा की मूल धारणा पर आधारित है। चूँकि उपनिषद–निर्दिष्ट शिक्षा का मुख्य लक्ष्य मन की मुक्ति है, जो घृणा एवं ईर्ष्या से निर्लिप्त हुए बिना पूर्णतया अप्राप्य है। संकीर्णता, न्यूनता, स्वार्थपरता, हीनदृष्टि से मुक्ति की नहीं, बन्धन की प्राप्ति होती है। अतः उपनिषद् में घृणा, स्वार्थ, ईर्ष्या जैसे दुर्गुणों के दमन पर जहाँ बल दिया गया है वहीं निःस्वार्थ प्रेम, दया, सहानुभूति जैसे सद्गुणों के विकास के लिए भी हर सम्भव प्रयास किया जाता है। उपनिषद् में सुस्पष्ट घोषणा की गयी है "सा विद्या या विमुक्तये।" मानवमन की मुक्ति की इस धारणा को सुस्पष्ट करते हुए डॉ. गजेन्द्र गदकर लिखते हैं – मुक्ति की यह प्रवृत्ति सत्यतः मानव–मन से स्वार्थपरता, संकीर्णता और ऊँचनीच के भेद–भाव को मुक्त करने की ओर संकेत है।[17]

उपनिषद्–निर्दिष्ट शिक्षा का लक्ष्य निःस्वार्थ प्रेम, स्वाभाविक दया और सुख–दुःख समभाव जैसे गुणों के उन्नयनोपरान्त बौद्धिक मुक्ति के द्वार का उन्मीलन था। इस सन्दर्भ में हुमायूँ कबीर का विचार है कि "उपनिषदों के अध्ययन के प्रारम्भ में जो प्रार्थनाएँ की गई हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार की शिक्षा की अपेक्षा होती थी, जो मानव स्वभाव के समस्त अंगीभूत तत्वों की पूर्ति कर सके और अविभाज्य व्यक्तित्व के विकास की दिशा में उनकी सहायता करे। मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत और सभी इन्द्रियाँ मजबूत तथा पूर्ण हों। ये सभी परमतत्व की प्राप्ति के साधन रूप है। मैं इन्हें कभी भी अस्वीकार नहीं कर सकता और वह भी मेरा परित्याग नहीं कर सकता। मैं उन गुणों को प्राप्त कर सकूँ जो मानव के अन्दर औपनिषदिक अध्ययन के प्रति जागरूक हों।[18]

तत्वतः शिक्षा एक सर्जनात्मक माध्यम है। जीवन वर्द्धनशील है, अतः सृष्टि भी वर्द्धनशील है। कोई भी चीज जिसकी वृद्धि होती है उसका क्षय भी अवश्यम्भावी है। क्षय से सुरक्षित रहने के लिए या क्षय की गति मन्द से मन्दतर कर देने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य जीवन के अन्तिम क्षण तक अध्ययन एवं शिक्षण का क्रम जारी रखे। उपनिषद्कालीन ऋृषि इस तथ्य से सुपरिचित थे कि अध्ययन एवं शिक्षण इन दो गुणों में मानव–जीवन कभी पूर्ण नहीं हो सकता है। *तैत्तिरीयोपनिषद्* में स्पष्टतः कहा गया है –

"ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च। तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। दमश्च स्वाध्याय प्रवचने य। शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्न्यश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्निहोत्रे च स्वाध्याय प्रवचने च। अतिथयश्च च स्वाध्याय प्रवचने च। मानुषश्च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च।"

न्याय, सत्य, संयम, अनन्तेच्छा–दमन, शान्ति, उत्सर्ग, गृहकार्य, आतिथ्य और समाज के प्रति दायित्व, ये सब मानव के लिए अनिवार्य हैं, किन्तु इनके निर्माण के लिए विशेषतः शिक्षक एवं शिष्य ही विशेष रूप से उत्तरदायी हैं।

ध्यातव्य है कि किसी प्रकार की शिक्षा और किसी युग की शिक्षा अपने आप में न कभी पूर्ण थी और न होगी। उपर्युक्त तथ्य से आद्यकालीन समाज पूर्णतया परिचित था। इसीलिए उस युग में स्वाध्याय के द्वारा शिक्षा को पूर्ण बनाने का प्रयास किया जाता था। संस्कृति, सभ्यता, समाज आदि के लिए नित्यनवीन अन्वेषण की आवश्यकता को पूर्ण करने वाला स्वाध्याय ही था। आद्यकाल में जीवन–यात्रा को सफल, सरस और सुखद बनाने के लिए विभिन्न समस्याओं के समाधानार्थ अन्वेषण, स्वाध्याय और प्रवचन की स्वतंत्रता की अनिवार्यता उन्मुक्तभाव से स्वीकृत थी।

शोध छात्रा
विनावा भावे विश्वविद्यालय
हजारीबाग

संदर्भ

1. *Vivekanand, Collected works, Vol - I [Page No. 26]*
2. *संस्कृति का दर्शनिक विवेचन, डॉ0 एन0 के0 देवराज, पृष्ठ – 368–69*
3. *"Education in Ancient India", A. S. Altekar [Page No. 8]*
4. *Plato : Laws*
5. *Essays on the Gita, Sri Aurabindo [Page No. 319]*
6. *छान्दोग्यउपनिषद् पृष्ठ – 1.1.10*
7. *50 वे 1.166.64 रू अ. वे. 11.5.26 शतपथ ब्राहयण 2.2.2.6*
8. *वि.पु. 6.5.62.*
9. *नीतिशतक 16*
10. *सू. र. स. पृष्ठ – 194*
11. *ज्ञानेनाप्रतिमेन ब्रह्माण्डम्।*
12. *ए0 वे0 10.70.7*
13. *अथर्ववेद 11.3.15*
14. *कठोपनिषद्, शांति पाठ।*
15. *मुण्डकोपनिषद् 9.2.4*
16. *डॉ. सी. पी. राम स्वामी. आवर इन्डियन यूनिवर्सिटीज, पृष्ठ – 45–46*
17. *पी. बी. गजेन्द्रगदकर, दीशान्त भाषण, गोहाटी विश्वविद्यालय 1970 पृष्ठ–10*
18. *हुमायूं कबीर, इंडियन फिलासफी ऑफ एडुकेशन, पृष्ठ – 177 तथा केनोपनिषद का प्रारंभिक अंश।*

भारतीय दर्शन में स्वामी रामानन्द का आनन्दभाष्य
(रचनाकार के सन्दर्भ में)

श्री महेश शर्मा (शास्त्री कोसलेन्द्र दास)

भारतीय दर्शन के इतिहास में स्वामी रामानन्द और उनके नाम से प्रचारित *ब्रह्मसूत्र* के *आनन्दभाष्य* की स्थिति बड़ी विलक्षण है। इन दोनों की मिथकीय और किंवदन्तीपरक उपस्थिति जितनी महिमामयी है, ऐतिहासिक स्थिति उतनी ही धुंधली। स्वामी रामानन्द को शताब्दियों से दर्शनशास्त्र की मर्म बातों को अपनी लोकभाषा में उतारने वाले हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों– पीपा, कबीर, रैदास, सैन, धन्ना जाट– का गुरु होने का गौरव प्राप्त रहा है– लेकिन यह भी सच है कि ठोस ऐतिहासिक तथ्यों के धरातल पर हम आज भी स्वामी रामानन्द और उनकी प्रामाणिक रचनाओं के विषय में बहुत ज्यादा नहीं जानते। रामानन्द सम्प्रदाय और संत–साहित्य के प्रामाणिक विद्वानों की मान्यतानुसार हम जितना भी जानते हैं, जो भी लोकश्रुतियां रामानन्द के विषय में बनी हुई हैं, रामानन्दियों व उनसे जुड़ी अन्य धार्मिक मान्यताओं वाली परम्पराओं (पंथों) में जो छवि रामानन्द की उभरकर आई है– उसका भी अर्थ समझने की ठीक से कोशिश क्या हमने की है ?

स्वामी रामानन्द और *आनन्दभाष्य* के संबंध में जो भी तथ्य हम समझने की कोशिश करें, उन्हें शुरू करने से पहले कुछ निर्विवादित तथ्यों को दोहरा लें–

(1) रामानन्द सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक पक्ष में *आनन्दभाष्य* का महत्त्व सर्वाधिक है।

(2) '*आनन्दभाष्य* रामानन्द का ही *ब्रह्मसूत्र भाष्य* है'– यह बात केवल रामानन्दी या अन्य रामानन्दवादी लोग ही नहीं कहते। न ही इस जनश्रुति की शुरुआत स्वामी रघुवराचार्य ने 1929 के आसपास अहमदाबाद से प्रकाशित *आनन्दभाष्य* की भूमिका लिखकर की थी। (हाल ही में विलियम पिंच 'पैजेंट्स एण्ड मॉंक्स इन ब्रिटिश इण्डिया'– ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1996) ने भी रामानन्द और उनके *आनन्दभाष्य* के विवाद को दोहराया है।)

(3) *आनन्दभाष्य* रामानन्द की रचना है– इस मान्यता पर रामानन्द सम्प्रदाय, कबीर पंथ, पीपा पंथ, दादू पंथ व अन्य सम्प्रदायों के बीच भी पूर्ण सहमति है।

इन निर्विवादित तथ्यों की रोशनी में ही रामानन्द–*आनन्दभाष्य* संबंध की किंवदन्तियों और उनसे संबंधित विवादों का परीक्षण करना चाहिए। विलियम पिंच ने अपने शोधग्रंथ में विस्तार से दिखाया है कि सम्प्रदाय के भीतर 1918 के बाद से रामानन्द वही नहीं हैं, जो पहले के थे। रामानन्द के *जीवन–माहात्म्य* (हेजियोग्राफी) में स्वयं सम्प्रदाय के भीतर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आते रहे हैं– केवल 1918 के आसपास ही नहीं, उसके बहुत पहले से भी। रामानन्द के *जीवन–माहात्म्य* से जुड़ी किंवदन्तियां रामावत सम्प्रदाय के आत्मसंघर्ष से जुड़ कर बनती, बिगड़ती और बदलती रही हैं। इस आत्मसंघर्ष के इतिहास में 1713 में जयपुर में रामानन्दियों की पीठ गलता में हुए वैष्णवों के चतुःसम्प्रदाय के सम्मेलन का निर्णायक महत्त्व है। चतुःसम्प्रदाय अर्थात् विष्णुस्वामी, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और रामानुजाचार्य के अनुयायी वैष्णवों के सम्प्रदाय। रामानन्दी वैष्णव स्वयं चाहें या न चाहें, उन्हें रामानुजाचार्य के अनुयायी वैष्णवों से जोड़कर ही देखा जाता था। 1918 का महत्त्व इसी बात में है कि तब से रामानन्दियों ने स्वयं को रामानुजी सम्प्रदाय से बलपूर्वक अलग किया। वह प्रसंग हमारे विषय से फिलहाल बाहर है। (परन्तु कालांतर में) इस आत्मसंघर्ष के ऐतिहासिक संदर्भ की उपेक्षा की गई और इसके फलस्वरूप विकसित हुए *जीवन–माहात्म्य* को ही रामानन्द के व्यक्तित्व का संकेतक मान लिया गया। नतीजा ? विद्वानों के सामने यह उलझन पैदा हो गई कि रामानन्द की हिन्दी रचनाओं और संस्कृत में रचित *'श्रीरामार्चापद्धति'* और *'वैष्णवमताब्जभास्कर'* का रचयिता एक ही व्यक्ति कैसे हो सकता है ? हिन्दी रचनाओं में भी सिक्खों के पवित्र *गुरु ग्रंथ साहब* में संकलित पद (जिनकी भक्ति संवेदना बिल्कुल कबीर सरीखी है) और 'आरती कीजै हनुमान लला की' एक ही व्यक्ति की रचनाएं कैसे हो सकती हैं ? सारी उलझन की जड़ में है शास्त्रवादी आचार्य के रूप में रामानन्द के निर्मिति के ऐतिहासिक संदर्भ और विकास–क्रम की उपेक्षा। ऐसी स्थिति में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह मानना स्वाभाविक ही था कि *ग्रंथ साहब* में उद्धृत दोनों पद वैष्णव भक्त रामानन्दजी के नहीं हैं और किसी रामानन्द के हों तो हो सकते हैं। (*'हिन्दी साहित्य का इतिहास'*–रामचन्द्र शुक्ल)

रामानन्द की शास्त्रवादी आचार्य की छवि को स्वीकार करते हुए ही *आचार्य* हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है– रामानन्द की एक रचना *आनन्दभाष्य* है पर इन दिनों इस रचना को संदेह के घेरे में डाला गया है (*कबीर*, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी)।

पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपने लेख (कबीर और रामानन्द– क्या बताती हैं किंवदन्तियाँ) में ये सारी बातें तरीके से विस्तारपूर्वक लिखी हैं। पुरुषोत्तम अग्रवाल रामानन्द की शिष्य–परम्परा में कबीर, रैदास, पीपा, कृष्णदास 'पयोहारी', नाभादास आदि के होने की तो जमकर पैरवी करते हैं पर *आनन्दभाष्य* या रामानन्द के नाम

से प्रचारित अन्य दो संस्कृत रचनाएं रामानन्द की ही हैं, यह बात उन्हें कतई स्वीकार नहीं है। रामानन्द के *आनन्दभाष्य* को लेकर विभिन्न विद्वानों के मतों के बाद यह जरूरी है कि *आनन्दभाष्य* के रचनाकार स्वामी रामानन्द हैं या स्वामी भगवदाचार्य या और कोई इस बात पर गहन शोध हो।

भारतीय तत्त्व–चिंतन–परम्परा में वेद अनुपम व अद्वितीय हैं। जब कभी सारे विश्व में चिंतन की शुरुआत किसने की, यह बात उठती है तो सारे संसार के विद्वान् मतैक्य होकर भारत वसुंधरा की ओर देखने लगते हैं। वैदिक सनातन धर्म की स्वीकृत परम्पराओं का इतिहास वेदोन्मूलक होने से उन परम्पराओं का अनादि व श्रुतिसम्मत होना निर्विवाद है। मनु *'नास्तिको वेदनिन्दकः'* कहकर वेद–निन्दक को नास्तिक व वेदों को यथावत् मानने वालों को आस्तिक कहते हैं। श्रुति–स्मृति–इतिहास–पुराण इत्यादि का इतिहास या 'ये कब से है' ? ऐसा प्रश्न आज भी आलोचकों के सामने जैसा का तैसा बना हुआ है। भारतीय धर्मसाधकों ने इस वेदविहित धर्म को 'सनातन' शब्द से अभिव्यंजित किया है।

कालान्तर में वेदों के अंतिम भाग उपनिषदों को समझने के लिए विभिन्न दर्शनों का प्राकट्य इसी वैदिक परम्परा में हुआ। दर्शनों की श्रृंखला में दो–आस्तिक–नास्तिक हुए। नास्तिक में चार्वाक, बौद्ध और जैन सम्मिलित हैं। आस्तिकों में सबसे पुराना महर्षि कपिल का सांख्यदर्शन माना जाता है। इन आस्तिक दर्शनों की संख्या छह है– सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त। महर्षि बादरायण ने सूत्ररूप में *शारीरकमीमांसाशास्त्र* की रचना की। वेदान्त की भाष्य रूप में व्याख्या संभवतः शंकराचार्य ने पहले–पहल की। शंकराचार्य के अद्वैतवादी सिद्धांतों से सबसे ज्यादा निराशा भक्ति–भाव से ओत–प्रोत जनता को हुई और इसी जनता की प्रतिक्रिया ने रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य इत्यादि वैष्णवाचार्यों को उत्पन्न किया। इन वैष्णवाचार्यों को विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत अथवा द्वैत की खोज क्यों अच्छी लगी, इसका समाधान भी यही है कि ये सभी आचार्य आलवारों की भक्ति–भावनाओं से, उनके पदों और रचनाओं से पूर्ण रूप से ओत–प्रोत थे (*संस्कृति के चार अध्याय*–रामधारीसिंह दिनकर)। अतः शंकराचार्य के बाद स्वामी रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद के पक्ष में कई ग्रंथों के रचनाकर शंकराचार्य के अद्वैतवाद की धज्जियाँ उड़ा दी। उन्होंने ब्रह्मजीवैक्यवाद का खण्डन कर दिया और सगुण भक्ति के सिद्धान्त की शास्त्रीय प्रतिष्ठा खड़ी कर दी। आचार्य रामानुज का विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तपरक ब्रह्मसूत्रों का *'श्रीभाष्य'* उसी धारा का दार्शनिक प्रतिपाद्य बनकर भारतीय वेदान्त को एक नया आलोक प्रदान कर गया। उन्होंने 'ब्रह्म–जीव–माया' ये तत्त्वत्रय दिखाकर आचार्य शंकर के एकतत्त्ववाद का भी प्रत्याख्यान कर दिया।

उनके काफी समय (लगभग 400 साल) बाद उत्तर भारत में जगद्गुरु रामानन्दाचार्य ने *आनन्दभाष्य* में (राम)विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की और भक्ति–प्रपत्ति की मोक्षकारणता को स्वीकार किया। रामानन्द के *आनन्दभाष्य* में विशिष्टाद्वैत के समग्र सिद्धांतों को समाविष्ट किया गया है। परिणामवाद, अद्वैतमतखंडन, जीवब्रह्मभिन्नत्व, ब्रह्मसगुणत्व, ब्रह्म का शब्दप्रमाण के द्वारा जाने जाना *आनन्दभाष्य* के प्रमुख विषय हैं। कुछ विद्वान् *आनन्दभाष्य* को रामानन्द की सैद्धान्तिक रचना नहीं मानते, *आनन्दभाष्य* नूतन परम्परा के द्वारा रचित होने से तथा विशिष्टाद्वैत के मुख्य प्रतिपादक *श्रीभाष्य* के प्रमेय विषयों का ही उल्लेख होने से। परन्तु साम्प्रदायिक तथा विशिष्टाद्वैत के पंडितों का यह निर्णय है कि *आनन्दभाष्य* में न तो *श्रीभाष्य* के प्रमेयों का उल्लेख है और न ही वे तर्क वर्णित हैं जो रामानुजाचार्य ने अपने *श्रीभाष्य* में उठाए हैं। *'न हि सिद्धस्यार्थस्य साधने प्रवर्तन्ते मनीषिणः'* न्याय से रामानन्दाचार्य को रामानुजाचार्य का अनुवर्ती आचार्य नहीं मानना चाहिए। रामानन्द सम्प्रदाय के प्रधान स्वामी रामनरेशाचार्य ने 1989 में काशी के श्रीमठ से प्रकाशित स्मारिका में रामानन्द सम्प्रदाय की सिद्धता एवं स्वतंत्रता के लिये लिखा था– कुछ समानताओं को देखकर हिन्दी साहित्य के कुछ विद्वानों ने रामानुज सम्प्रदाय के अंतर्गत ही रामानन्द सम्प्रदाय को स्वीकार किया है। आंशिक समानताओं के आधार पर तो सभी सम्प्रदायों को एकरूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। अलग–अलग मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इसी आंशिक साम्य के कारण किसी ने आद्य शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा था। उन्हें शंकराचार्य भी बौद्ध के रूप में दिखाई दिये। न्यायदर्शन के द्वितीयसूत्र के भाष्य की व्याख्या करते हुए वार्तिककार उद्योतकर ने सम्प्रदाय की व्याख्या में लिखा है– *'शिष्याचार्यसंबंधस्याविच्छेदेन शास्त्रप्राप्तिः सम्प्रदायः'* इसका भाव यह है– शास्त्र की वह प्राप्ति जो शिष्य एवं आचार्य के अविच्छिन्न संबंध के द्वारा हो, उसे सम्प्रदाय कहते हैं। स्वामी राघवानन्दजी ने रामानन्द को राममंत्र का उपदेश किया तथा रामोपासना में प्रवृत्त किया। अतएव स्वामी राघवानन्द को या तो शास्त्रमर्यादाविमुख–स्वच्छन्दचारी स्वीकार करना पड़ेगा या ऐसी वैदिक परम्परा से जोड़ना पड़ेगा, जिसमें राममंत्र एवं रामोपासना का अविच्छिन्न प्रवाह हो।

इन सभी तर्कों से वे सारी बातें प्रकट हैं, जिनमें एक यह कि *आनन्दभाष्य* रामानन्द की रचना है, इस धड़े में रामधारीसिंह दिनकर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक व स्वामी रामनरेशाचार्य जैसे विद्वान् हैं। दूसरे विद्वानों का यह मानना है कि *आनन्दभाष्य* रामानन्द की कृति किसी भी स्थिति में नहीं हो सकती। रामानन्द सम्प्रदाय के नये पण्डितों (स्वामी भगवदाचार्य, स्वामी रघुवराचार्य, स्वामी वैष्णवाचार्य) की यह करतूत थी कि 1920 के लगभग इन्होंने *आनन्दभाष्य* की रचनाकर उसे रामानन्द के नाम से प्रचारित कर रामानन्द को शास्त्रवादी आचार्य

की छवि देने का काम किया है। इस बात को प्रगाढ़ता से लिखने–बोलने वाले धड़े में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पुरुषोत्तम अग्रवाल, विलियम पिंच, बरगट और डेविड लोरेन्जर हैं। एक और तीसरे मत को कहने वाले विद्वान् भी हैं जो यही कहते हैं कि आज के वेदान्त दर्शन के अध्येता–अध्यापक *आनन्दभाष्य* के रचनाकार को लेकर निष्पक्ष प्रतिफलन को अपने ध्यान में रखें और दोनों ही धड़ों की विस्तृत चर्चा अपने अध्ययन–अध्यापन में करें। कलानाथ शास्त्री इसी वर्ग में हैं। खैर यह तो है ही कि *आनन्दभाष्य* का निर्माता जो कोई भी हो पर इसमें वर्णित विषय वेदान्त दर्शन में एक नये चिन्तन के साथ जरूर है।

शोध छात्र- विशिष्टाद्वैतवेदान्त विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ
मानित विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

वर्तमान शिक्षा की समस्या

डॉ. अरूण कुमार सिंह

वर्तमान शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है। यह रोजगार–परक तो है, लेकिन मूल्य परक नहीं रह गई है। इसके कारण को मैं लार्ड मैकाले के सन् 1835, 2 फरवरी को ब्रिटिश संसद के सम्मुख दिए गये उद्‌बोधन को उद्धृत करता हूँ।

"मैने भारत की चतुर्दिक यात्रा की और एक भी ऐसा आदमी नहीं देखा जो भिखमंगा हो, चोर हो। इस देश में मैने इतनी सम्पदा, इतना उच्च नैतिक मूल्य, इतने उच्च क्षमतावान व्यक्ति देखे कि मैं सोचता हूँ कि हम कभी भी उस देश को नहीं जीत सकेंगे, जब तक कि हम इसकी रीढ़ की हड्‌डी– उसकी आध्यात्मिकता और सांस्कृतिक विरासत– को तोड़ नहीं देते। इसलिए मैं प्रस्ताव करता हूँ कि उसकी परिपक्व और प्राचीन शिक्षा प्रणाली और उसकी संस्कृति को बदल दिया जाये क्यों कि अगर भारतीय यह सोचने लगे कि जो कुछ भी विदेशी और अंग्रेजी है, वह अच्छा है और उनसे उच्चतर है तो वे अपना स्वाभिमान, अपनी मातृसंस्कृति को खो बैठेंगे और वे वह बन जायेंगे जो हम चाहते हैं, सचमुच में एक शासित परतंत्र राष्ट्र।"

इस प्रकार हम आज शैक्षिक दृष्टि से उसी दशा को प्राप्त हो गये हैं जो लार्ड मैकाले चाहते थे। यह मैकाले के शिक्षा–पद्धति का ही दुष्परिणाम है जिसके कारण शिक्षा के तीनों स्तम्भों, यथा पर्याप्त शिक्षा, शिक्षक एवं शिक्षार्थी में मूल्यों का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है, ये तीनों अंग एक दूसरे के पूरक हैं जबकि प्रचलित वर्तमान शिक्षा पद्धति भारतीय शिक्षित जनमानस को कुसंस्कारित, भ्रष्ट, राष्ट्रभाव से विमुख, सामाजिक एवं पारिवारिक दायित्वों से विमुख तथा कुंसस्कारवान बना रही है। आज की शिक्षा–पद्धति हमें हमारी ही संस्कृति से दिन प्रतिदन दूर कर रही है। आज हम वैज्ञानिक दृष्टि से तो समुन्नत हो रहे हैं, किन्तु सांस्कृतिक एवं सांस्कारिक दृष्टि से विपन्नता की ओर बढ़ रहे हैं। आज के समाज की अराजकता वर्तमान में शिक्षा की सही प्रणाली का न होना है।

हमारे प्राचीन युग में चाहे वह वैदिक काल रहा हो, औपनिषदिक काल रहा हो, रामायण काल रहा हो, महाभारत काल रहा हो, या बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, सूफी,

संत या वर्तमान काल की भारतीय शिक्षा–पद्धति ही क्यों न हो सबमें हमें मूल्योन्मुखी शिक्षा ही दिखाई देती है। मूलकारण यह था कि बालकों की शिक्षा के तीनों क्षेत्र–घर, विद्यालय एवं इन दोनों के बाहर सभी में सामन्जस्य था। अपने माता–पिता के आचार–विचारों और व्यवसाय की बहुत कुछ शिक्षा बालकों को अपने घर में ही मिल जाती थी। जो साक्षर होकर गुरुकुल में जाते थे, उन्हें शास्त्रों का अध्ययन करना पड़ता था। वे बाहर समाज में वे ही आचार–विचार देखते थे, जिनकी उन्हें घर तथा गुरुकुल में शिक्षा मिलती थी। इस प्रकार शिक्षा और व्यावहारिक जीवन में सामन्जस्य बन रहता था।

मैं समझता हूँ कि 21 वीं सदी के लिये मूल्योन्मुखी शिक्षा का दार्शनिक विश्लेषण करना ही इस लेख का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए ताकि शिक्षा के वर्तमान स्वरूप में वे सारे बिन्दु स्पष्ट हो सकें जिनकी जाने–अनजाने में अवहेलना की गई और जिनके कारण सम्पूर्ण शिक्षा–व्यवस्था अपना अर्थ ही खो बैठी है। विश्व में आधुनिक शिक्षा का जितना प्रचार–प्रसार पिछले लगभग 50 वर्षों में हुआ, उतना पहले कभी नहीं हुआ एवं विकासशील देशों में तो पिछले 25–30 वर्षों में अधिकाधिक लोगों को शिक्षित करने के अथक प्रयास हुये हैं। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि इतने प्रयत्न के बाद भी जिन्हें हम शिक्षित, सभ्य एवं सुस्कृत कहते हैं, वे लोग संसार में अधिक से अधिक अशांति, तनाव एवं हिंसा फैलाते देखे जाते हैं जबकि इनकी तुलना में अनपढ़ लोग इन दोषों से दूर रहे हैं।

आज का मनुष्य चॉदतारों को छूकर आ गया परन्तु उसके मन में उदासीनता बनी हुई है, वह निराशा व सूनेपन से भरा हुआ है। पश्चिमी देशों में जिस प्रकार शरीर को आत्मा के विपरीत मानकर भौतिकवाद लाया गया, उसी प्रकार विवेक के स्थान पर बौद्धिक ज्ञान को दिये गये महत्व के कारण बुद्धिवाद, वैचारिक उहापोह एवं तार्किक विश्लेषण का जन्म हुआ। परिणाम यह हुआ कि शरीर पर दिये गये जोर के कारण मनुष्य प्रकृति से अधिकाधिक दूर होता गया एवं तनाव ग्रस्त व असहज होता गया। उधर बौद्धिकता एवं तर्कप्रधानता ने केवल शब्दों का जाल खड़ा करा दिया तथा वस्तुगत ज्ञान को ज्ञान का आधार बना दिया।

परन्तु शिक्षा सम्बन्धी भ्रांति खड़ी करने में राजनीतिज्ञ एवं धार्मिक मठाधीशों का भी काफी योगदान है। अरे! शिक्षा का अभिप्राय तो जीवन को जीना ही नहीं सिखाना है वरन् जीवन को जानना भी है। दर्शन के अनुसार दर्शन का विस्तार केन्द्र मनुष्य होता है अर्थात् उसके वास्तविक स्वरूप को जानना और उसके जीवन के अंतिम उद्देश्य को जानने का प्रयत्न करना भी है।

समस्त मानव–जाति का विकास शिक्षा के द्वारा ही होता है। शिक्षा ही वह मूल साधन है जिससे मानव सभ्य, बुद्धिजीवी एवं सुसंस्कृत होता है। शिक्षा के द्वारा मनुष्य में सीखने की क्रिया जन्म से लेकर मृत्यु तक सदैव चलती रहती है।

सुनियोजित एवं सप्रयोजनात्मक सीखने की क्रिया ही शिक्षा है। इस शिक्षा–प्रक्रिया के स्वरूप की व्याख्या करने में मूल भूमिका दार्शनिकों, समाजशास्त्रियों, राजनीतिशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों एंव मनोवैज्ञानिक आदि सभी ने प्रस्तुत की है एवं सभी ने अपने–अपने दृष्टिकोणों से देखा–परखा तथा परिभाषित किया है।

वेदान्त के अनुसार– "शिक्षा का अर्थ है जो हमारे भीतर छिपा है, उसका अनावरण।" "सा विद्या या विमुक्तये।" अर्थात् शिक्षा वह जो मुक्त करे।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार– "मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।" गाँधीजी ने शरीर, मन एवं आत्मा इन तीनों के विकास पर समान बल दिया। उनके अनुसार–" शिक्षा से मेरा तात्पर्य बालक और मनुष्य के शरीर, मन तथा आत्मा के सर्वांगीण एवं सर्वोत्कृष्ट विकास से है"।

प्लेटो के अनुसार– "शिक्षा का कार्य मनुष्य के शरीर और आत्मा को वह पूर्णता प्रदान करना है जिसके कि वह योग्य है"।

अरस्तू– "स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निर्माण ही शिक्षा है।"

चार्वाक– "शिक्षा वह है जो मनुष्य को सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाती है"।

हरबर्ट स्पेन्सर– "शिक्षा का अर्थ अंतःशक्तियों का बाह्य जीवन से समन्वय स्थापित करना है।"

जॉन डीवी– "शिक्षा व्यक्ति की उन सब योग्यताओं का विकास है जो उसमें अपने पर्यावरण पर नियंत्रण रखने तथा अपनी सम्भावनाओं को पूर्ण करने की सामर्थ्य प्रदान करे।"

समाजशास्त्री शिक्षा को व्यक्ति और समाज के विकास का साधन मानते हैं। इनके अनुसार शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया है। मनुष्य की पूरी सभ्यता एवं संस्कृति का विकास सामाजिक प्रक्रिया का ही परिणाम है। ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के विकास और भाषा ज्ञान होने के बाद मनुष्य स्वतंत्र रूप से चिन्तन, मनन व परीक्षण करता है किन्तु समाज के अभाव में न तो वह भाषा सीख सकता है और न विचार करना।

मनुष्य का जन्मजात व्यवहार पशुवत् होता है। शिक्षा के द्वारा उसके इस व्यवहार में परिवर्तन एवं परिमार्जन किया जाता है। मनुष्य की शिक्षा उसे केवल परिस्थितियों के साथ समायोजन करना ही नहीं सिखाती अपितु उसमें अपने अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने की क्षमता का विकास भी करती है।

"इस प्रकार शिक्षा एक प्रक्रिया है और वह एक सामाजिक कार्य है जो कोई भी समाज अपने हित के लिये करता है"।

राजनीतिशास्त्रियों के अनुसार– "वास्तविक शिक्षा वह है जो श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण करती है।"

अर्थशास्त्रियों के अनुसार– "शिक्षा वह आर्थिक निवेश है जिसके द्वारा व्यक्ति में उत्पादन एवं संगठन के कौशलों का विकास किया जाता है और इस प्रकार व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उत्पादन–क्षमता बढ़ाई जाती है और उनका आर्थिक विकास किया जाता है।" मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से शिक्षा का अर्थ है मनुष्य की बाह्य इन्द्रियों और अन्तःकरण का प्रशिक्षण।

अबतक हमनें शिक्षा की जो भी परिभाषायें देखी हैं, उनमें ज्यादातर दो प्रकार के दोष परिलक्षित होते हैं– एक तो यह कि इनसे शिक्षा–प्रक्रिया की प्रकृति का स्पष्ट बोध नहीं होता है और दूसरा यह कि ये शिक्षा के किसी उद्देश्य विशेष पर ही बल देती हैं। यही कारण है कि शिक्षा की सर्वमान्य परिभाषायें नहीं हो सकीं।

दर्शन ही मानव चिन्त्य की सर्वोत्तम सीमा है। सृष्टि के समस्त जड़–चेतन का वास्तविक ज्ञान ही दर्शन का विषय रहा है। परन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तन में अंतर रहा है। भारतीय चिन्तन जहाँ तर्क के साथ–साथ अध्यात्मवादी है, वही पाश्चात्य चिन्तन केवल तर्कवादी है। यही कारण है जहाँ डॉ0 राधाकृष्णन् कहते हैं कि "दर्शन सत्य के स्वरूप की तार्किक विवेचना है", वहीं प्लेटो के अनुसार "पदार्थों के सनातन स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना ही दर्शन है।"

शिक्षा हमारे आचार–विचार में परिवर्ततन करती है और इसमें नये ज्ञान की खोज करने के लिये अवलोकन, परीक्षण, चिन्तन और मनन शक्तियों का विकास करती है। उस ज्ञान एवं कौशल के आधार पर हम दर्शन का पुनर्निर्माण करते हैं तथा नई शिक्षा को जन्म देते हैं। उचित शिक्षा के अभाव में सारे चिन्तन व विकास व्यर्थ हैं।

आज चारों तरफ अशांति, अव्यवस्था, अर्थ की प्रधानता ही परिलक्षित हो रही है। वर्तमान स्थिति से खिन्न होकर डॉ0 राधाकृष्णन् कहते हैं कि आधुनिक युग आध्यात्मिक खोखलेपन, नैतिक विमूढ़ता तथा सामाजिक अराजकता का युग है। इतना ही नहीं वे तो इसे आर्थिक और बौद्धिक नृशंसता का युग भी कहते हैं।

इस प्रकार यदि सही अर्थों में हम इस अराजक स्थिति से उबरना चाहते हैं तो हमें " आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" के साथ–साथ गीता के "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पश्यति।" कथनों पर ध्यान देना होगा, और ऐसा तभी होगा जब हम अपनी शिक्षा–प्रणाली पर ध्यान देगें। मैकाले की शिक्षा–पद्धति से अपने को मुक्त करेंगे। शिक्षा तो वह है जो अध्यात्म एवं विज्ञान में, दर्शन और कला में एवं व्यवसाय व वृत्ति के सभी क्षेत्रों में शांति, सामन्जस्य एवं विश्व एकता की विश्वव्यापी संस्कृति को प्रोत्साहित करने हेतु आवश्यक सम्पन्नता एवं समृद्धि प्रदान कर सके।

इस दिशा में स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान आधुनिक भारत के संत, जैसे महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्रथम सिंहनाद किया तथा वे पुनः वैदिक आधार की

ओर उन्मुख हो गये और ऐसी शिक्षा–व्यवस्था की स्थापना की जो सुधार करने के साथ–साथ प्रगतिशील भी हो। उन्होंने गुरुकुल शिक्षा–पद्धति को विकसित किया।

शिक्षा–पद्धति के अनेकों मॉडल हैं, जैसे विवेकानन्द, टैगोर, गांधी, जे. कृष्णमूर्ति, रजनीश आदि का। इन सभी का वर्णन सम्भव नहीं है परन्तु लघुरूप में मैं पुनः कुछ कहना चाहता हूँ।

पहली बात तो यह है कि वर्तमान शिक्षा केवल वृत्तात्मक (Informative) है, संस्कारात्मक (Formative) नहीं। इसका बल केवल डिग्री प्राप्त कर लेने पर है, न कि व्यक्तित्व के उभार पर। इसका लक्ष्य तो मनुष्य को जीवन के अंतिम लक्ष्य की ओर उन्मुख करना होना चाहिए।

इसके लिए शिक्षक को प्रथम कार्य ''यम व नियम'' के दस सिद्धान्तों को विद्यार्थियों के मन में बैठाना है। यह यम हैं, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह। पाँच नियम हैं– शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश–प्रणिधान (ईश्वर के प्रति स्वकर्मार्पण)। यदि विद्यार्थी इन यम–नियमों को आत्मसात् कर ले तो अत्यन्त स्वस्थ वातावरण का निर्माण कर सकते है। इसके साथ–साथ प्रकृति का सान्निध्य एवं ध्यान भी आवश्यक है। साथ ही विकृत इतिहास की सही जानकारी विद्यार्थियों को देने के साथ–साथ महापुरुषों की कथाएं भी बतानी चाहिए। शिक्षक स्वयं विद्यार्थियों का आर्दश बनें ऐसा उनका आचरण होना चाहिए। हमारे यहाँ तो गर्भाधान के समय से ही संस्कारों की शिक्षा शुरू हो जाती है। माता ही सर्वप्रथम गुरु है। परिवार के अन्य बन्धुओं से बालक का व्यवहार कैसा होना चाहिए, यह *अथर्ववेद* में स्पष्ट उल्लिखित है –

अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः।
मा भ्राताः भ्रान्तरं द्विक्षन्मा स्वारमुत स्वसा।।
सम्यन्चः...
सम्यन्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।।

अथर्व काण्ड 3,अ06सूत्र–30–31,मंत्र 2–3 तथा 5–6

कबीरदास जी का यह कथन सर्वोत्तम प्रतीत होता है–

करनी करै तो पुत्र हमारा, कथनी करै सो नाती।
रहनी रहै सो गुरू हमारा, हम रहनी के साथी।।

इस प्रकार हमारी प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति अत्यंत वैज्ञानिक होने के साथ–साथ संस्कारवान थी। इससे व्यक्तित्व का सम्पूर्ण रूप से विकास होता था। परन्तु वर्तमान शिक्षा हमें संस्कारों व संस्कृतियों से दूर करते हुये केवल आजीविका का साधन मात्र बनकर रह गई है। यह केवल एक दूसरे से आगे निकलने की होड़ अर्थात् चाह पैदा कर रही है। यह चाह उसके सम्पूर्ण जीवन के साथ लग जाती है।

क्या ऐसा नहीं हो सकता है कि कोई गणित इसलिए सीखे या सिखाये कि गणित सीखने और सिखाने में आनन्द मिले ? अर्थात् जिसका जो आनन्द हो, वह उस तक चला जाय और वह आनन्द में पूरा डूब जाय।

जीवन शिक्षा का लक्ष्य है, मात्र आजीविका नहीं। जीवन के लिये ही आजीविका का मूल्य है। आजीविका अपने आपमें कोई अर्थ नहीं रखती है। परन्तु अज्ञानवश साधन ही अनके बार साध्य बन जाता है। ऐसा ही शिक्षा के साथ भी हो रहा है। आजीविका ही लक्ष्य बन गई है। मैं समझता हूँ कि आज की शिक्षा पर यदि कोई विचार करेगा तो यह निष्कर्ष अपरिहार्य है।

इसलिए मेरी दृष्टि में 12 या 14 वर्ष तक बच्चे की बुद्धि पर कोई भार न डाला जाय। 14 वर्ष तक उसके शरीर और उसकी भावनाओं के विकास पर सारा ध्यान होना चाहिए। सम्यक् शिक्षा के लिये सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि हम बच्चों को प्रकृति का सान्निध्य उपलब्ध करा सकें। उन्हें हम मनुष्य निर्मित मकानों के पास नहीं वरन् जीवन की ऊर्जा से जो निर्मित हुआ है उसके निकट ला सकें। मनुष्य के हृदय को हम पहले विकसित कर लें, पीछे उसकी बुद्धि को। हृदय नेतृत्व करे, बुद्धि अनुगामी हो तो ही यह शिक्षा सम्यक् हो सकती है। अगर पूरी शिक्षा वैज्ञानिक हो सके, साथ ही आदमी की आत्मा की तलाश बन सके तो शिक्षा के पास बड़ा भविष्य है।

रीडर, दर्शनशास्त्र
स्नातकोत्तर एवं शोध, दर्शन शास्त्र विभाग
डी.ए-वी कालेज, कानपुर

संदर्भ

1. *कल्याण –बालक अंक*
2. *शिक्षा संवाद–जे० कृष्णमूर्ति*
4. *श्रीगुरू जी समग्र*
5. *भारतीय दर्शन–(दोनों भाग) डॉ० राधाकृष्णन्*
6. *धर्म दर्शन – डॉ० वेदप्रकाश वर्मा*
7. *संस्कृति के चार अध्याय –डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर'*
8. *नीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त–डा० वी०पी०वर्मा*
9. *भारतीय संस्कृति और साधना–म०म०पं० गोपीनाथ कविराज*
10. *श्रीमद्भगवत्गीता रहस्य अथवा कर्मयोग– पं० बाल गंगाधर तिलक*
11. *भगवद्गीता– डॉ० राधाकृष्णन्*
12. *हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ– डॉ० राधाकृष्णन्*

ईश्वर का स्वरूप

डॉ. तनूजा तिवारी

ईश्वर धर्म–चिन्तन का विशेष केन्द्र–बिन्दु है। धर्म को न तो निष्प्रयोजन कहा जा सकता है एवं न ही निर्विषयक। उपासनामूलक जितने भी धर्म हैं वे सभी ईश्वर को अपना प्रमुख विषय मानते हैं। समाधिमूलक धर्म मूल्यों को अपना विषय मानता है। मूल्य को भी ईश्वर की तरह समाज के आदरपूर्ण विषय के रूप में माना जाता है। ईश्वर को मूल्यों और आदर्शों का स्रोत भक्त की दृष्टि में माना जाता है। प्लेटो के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व सर्वोच्च शुभ के रूप में माना जाता है। समाधिमूलक धर्म में वही ईश्वर सर्वोच्च शुभ में बदल जाता है।

अनीश्वरवादी ईश्वर में विश्वास नहीं करते हैं। किन्तु वह मूल्य को विशेष आदर देता है। इसमें ईश्वर प्रकारान्तर से आदर्श बन जाता है और इस रूप में वह अनीश्वरवाद का प्रमुख प्रतिप्राद्य बन जाता है। नास्तिक की नास्तिकता ही एक प्रकार का मूल्य है। सत्य से अलग वह ईश्वर की परवाह नहीं करता है। क्षणस्थाई को कम मूल्यवान और चिरस्थाई को अधिक मूल्यवान मानते हैं। ईश्वर की सत्ता को नित्य एवं चिरन्तन मानकर भक्त वास्तव में 'नित्यमूल्य' की खोज करना चाहता है। वास्तव में ईश्वर संबंधी संवाक्य मूल्यात्मक कथन है, न कि संज्ञानात्मक। वस्तुतः ईश्वर अन्तर्निहित मूल्यों का बाह्यीकरण है।

ईश्वरवाद धर्म का पर्याय है। ईश्वर की अनुभूति ही सच्ची धार्मिक अनुभूति है। धर्म का कोना–कोना ईश्वरमय है। धर्म के अन्तर्गत विशेष रूप से ईश्वर की ही चर्चा है। ईश्वर ही व्यावहारिक जगत् में हमारे सर्जनात्मक आदर्शों के स्रोत के रूप में विद्यमान है और पारमार्थिक जगत् में वह समस्त शक्यताओं का आगार है और पूर्णता की अनुप्रेरणा है जिसमें सभी रूप खो जाते हैं, विविधताएँ डूब जाती हैं और जीवन में एक उज्ज्वल एकता का संचार होता है। ईश्वर की आस्था से शोषण की प्रवृत्ति का उन्मूलन हो जाता है और पृथ्वी पर समभाव से उत्पन्न आनन्द की धारा बहने लगती है। स्वार्थोन्मुखी वृत्तियों का परिष्करण हो जाता है। अहं का नाश हो जाता है, 'स्व' का समाजीकरण हो जाता है और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः', 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' एवं 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का भाव जग जाता है। चूँकि मानव ईश्वर

को सृष्टि के प्रत्येक कण में देखता है अतः उसे उससे अलग कुछ दिखाई ही नहीं देता जिससे उसे घृणा हो। उसके लिये सम्पूर्ण विश्व वंदनीय हो जाता है–'सीयराममय सब जग जानी।' ईश्वर की पूजा करते हुए व्यक्ति के अन्दर मानव–पूजा चली आती है और सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति उसमें अद्वितीय प्रेम जग जाता है क्योंकि वह ईश्वर को सम्पूर्ण प्राणियों के पिता के रूप में पूजता है। ईश्वर की आस्था से ही कर्म–फल के सुनिश्चित संबंध में दृढ़ विश्वास जग सकता है। मनुष्य को विश्वास है कि न तो किये गए कर्म का नाश होता है और न ही अकृत कर्म का फल मिलता है। वह यह समझता है कि उसका वर्तमान जीवन पूर्ववर्त्ती जीवन का प्रतिफल है और उसके भावी जीवन का कारण उसका वर्तमान जीवन होगा। अपने भविष्य के जीवन को सुखमय बनाने के लिए वह वर्तमान जीवन में नित्य सत्कर्म करना चाहता है क्योंकि ईश्वर सत्कर्मी व्यक्ति को ही सुख प्रदान करता है। ईश्वर ही शुभ एवं अशुभ कर्मों का लेखा–जोखा रखता है। इस प्रकार ईश्वर ही नैतिक व्यवस्था का एकमात्र व्यवस्थापक है। ईश्वरवादी अनीश्वरवादी की अपेक्षा अधिक आशावान दिखाई देता है।

ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, नित्य अथवा शाश्वत, असीम, प्रेममय, अत्यन्त दयालु तथा सभी दृष्टियों से पूर्ण माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर में शक्ति, ज्ञान, नित्यता, प्रेम, दया आदि गुण असीमित मात्रा में पाए जाते हैं जो उसे सभी दृष्टियों से पूर्ण बनाते हैं और जिनके कारण वह भक्तों की पूजा या उपासना का विषय बनता है। यदि ईश्वर में इन गुणों का अभाव हो अथवा ये उसमें केवल सीमित मात्रा में ही विद्यमान हों तो वह भक्तों की उपासना का विषय नहीं रह जाएगा। इसी कारण ईश्वरोपासक तथा ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर में इन गुणों का असीमित मात्रा में विद्यमान होना अनिवार्य मानते हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर के इन गुणों के आधार पर ही वे उसके स्वरूप, उसकी क्रियाओं तथा जगत् या विश्व के साथ उसके संबंध की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं।

ईश्वरवादी दार्शनिक एवं भक्त ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए प्रायः यह कहते हैं कि वह ऐसी वस्तुपरक सत्ता है जिसमें असीम शक्ति, ज्ञान, नित्यता, शुभत्व, प्रेम, दया आदि गुण अनिवार्यतः विद्यमान रहते हैं और जो जगत् का आदिकारण, रचयिता, पालनकर्त्ता, शासक एवं संहारक है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वरवादियों के लिए ईश्वर के उपर्युक्त गुणों का विशेष महत्त्व है क्योंकि ये गुण ही उसके स्वरूप तथा जगत् के साथ उसके संबंध को निर्धारित करते हैं।

दार्शनिक दृष्टि से ईश्वर के उपर्युक्त गुणों का वर्णन करने से पूर्व इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि ईश्वरोपासक तथा ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को किस प्रकार की सत्ता मानते हैं ? क्या ईश्वर कोई भौतिक वस्तु है ? अथवा क्या वह कोई विशेष प्रकार का प्राणी है ? क्या वह कोई ऐसा विचार, मूल्य या आदर्श

है जिसका आविष्कार स्वयं मनुष्य ने किया है ? भक्त और ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर के स्वरूप के बारे में जितने भी प्रश्न हैं उन सबका नकारात्मक उत्तर देते हैं। वे सभी ईश्वर को वस्तुपरक सत्ता मानते हुए भी उसे कोई भौतिक वस्तु नहीं मानते। उनका कथन है कि ईश्वर ने जगत् की समस्त भौतिक वस्तुओं की रचना की है किन्तु वह स्वयं कोई भौतिक वस्तु नहीं है। प्रत्येक भौतिक वस्तु की सत्ता केवल आपातिक होती है अर्थात् उसका आदि तथा अंत है और वह अपने अस्तित्व के लिए अनिवार्यतः किसी अन्य वस्तु पर ही निर्भर है। इसके विपरीत ईश्वर को ऐसी अनिवार्य सत्ता माना जाता है जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं है, जो अनादि, अनंत, स्वयंभू, नित्य अथवा शाश्वत है। इससे स्पष्ट है कि समस्त भौतिक वस्तुओं के विपरीत ईश्वर विशुद्ध रूप से अभौतिक सत्ता है। उपर्युक्त कारणों के आधार पर ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को किसी प्रकार का प्राणी भी नहीं मानते। वे ईश्वर को न तो कोई भौतिक वस्तु एवं प्राणी मानते हैं एवं न ही कोई मानसिक विचार, मूल्य या आदर्श मानते हैं।

इस स्थिति में यह प्रश्न उठना अनिवार्य–सा लगता है कि ईश्वर का स्वरूप क्या है और वह किस प्रकार की सत्ता है। इस प्रश्न का कोई स्पष्ट, निश्चित एवं सर्वमान्य उत्तर देना सम्भव नहीं है क्योंकि भिन्न–भिन्न देशों और कालों में विभिन्न दार्शनिकों ने इसका भिन्न–भिन्न प्रकार से उत्तर दिया है। जैसे, कुछ दार्शनिक ईश्वर को सगुण, साकार तथा व्यक्तित्वसंपन्न सत्ता मानते हैं किन्तु कुछ अन्य दार्शनिक उसे व्यक्तित्वरहित, निर्गुण और निराकार सत्ता के रूप में ही स्वीकार करते हैं। ईश्वरवादी दार्शनिकों में ईश्वर के स्वरूप के विषय में इस आधारभूत मतभेद के होते हुए भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि उनके मतानुसार ईश्वर एक शरीररहित अभौतिक तथा विशुद्ध चैतन्य सत्ता है जो अनादि, अनंत, शाश्वत एवं स्वयंभू है और जो संपूर्ण ब्रह्माण्ड के अस्तित्व का आदिकारण या मूल आधार है।

भक्त केवल ऐसे ही ईश्वर की उपासना करना चाहते हैं जिसमें किसी प्रकार की अपूर्णता न हो अर्थात् जो समस्त सीमाओं, दुर्बलताओं तथा दोषों से मुक्त और सभी दृष्टियों से पूर्ण हो। अतः वे अपने उपास्य ईश्वर में उन सभी गुणों का होना अनिवार्य मानते हैं जो मानवीय दृष्टि से उत्कृष्टतम और सर्वाधिक मूल्यवान हैं। सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, अपरिमितता, नित्यता, पूर्ण शुभत्व, असीमित प्रेम, अपार करुणा आदि ऐसे ही गुण हैं जिनका ईश्वर में विद्यमान रहना अनिवार्य माना जाता है। भक्त या ईश्वरोपासक ईश्वर को इन सब गुणों से परिपूर्ण मानकर ही उसकी पूजा अथवा आराधना करता है। वह अपनी आस्था एवं श्रद्धा के आधार पर यह मान लेता है कि ईश्वर में वस्तुतः ये सब गुण विद्यमान हैं, इसके लिए वह किसी के तर्क या प्रमाण की आवश्यकता अनुभव नहीं करता। निष्पक्ष परीक्षक तथा आलोचक होने के कारण दार्शनिक भक्त के इस आस्थापूर्ण दृष्टिकोण को स्वीकार

नहीं कर सकता। केवल तार्किक ढंग से वह ईश्वर के स्वरूप और उसके गुणों पर विचार करना चाहता है। इसी वजह से अनेक गंभीर दार्शनिक प्रश्न उठते हैं। प्रश्न कुछ इस प्रकार के हैं – क्या उपर्युक्त गुण ईश्वर में वस्तुतः विद्यमान हैं – अर्थात् क्या ये गुण ईश्वर के स्वरूप के अनिवार्य तत्त्व हैं? क्या मनुष्य ने अपने उपास्य ईश्वर में उन सभी गुणों को केवल आरोपित कर लिया है जिन्हें वह स्वयं अपने लिए अत्यधिक मूल्यवान तथा उत्कृष्टतम मानता है? क्या ईश्वर के ये गुण स्वयं उसमें निहित न होकर मनुष्य की अपनी उपासना संबंधी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए कल्पित साधन मात्र हैं? यदि इन गुणों को वस्तुतः ईश्वर में मान लिया जाता है तो कौन–सी दार्शनिक समस्यायें उत्पन्न होती हैं? क्या इन समस्याओं का कोई तर्कसंगत समाधान संभव है? धर्म–दार्शनिक के लिए ईश्वर के स्वरूप और गुणों के संबंध में इन सभी प्रश्नों तथा ऐसे ही अन्य अनेक प्रश्नों पर तार्किक दृष्टि से विचार करना आवश्यक है।

ईश्वर की सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता अपरिमितता, नित्यता आदि गुण तत्त्वमीमांसीय गुण हैं। पूर्ण शुभत्व, असीमित प्रेम, अत्यधिक दयालुता आदि गुणों को 'नैतिक गुण' कहा जाता है। मनुष्य प्राचीन काल से ही अपने उपास्य देवता को अत्यधिक शक्तिशाली मानता रहा है और उसकी इसी शक्ति के कारण वह उसकी पूजा करता रहा है। आगे चलकर जब बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद का विकास हुआ तो मनुष्य एक ही ईश्वर को सर्वशक्तिमान समझने लगा। ईश्वर को सर्वशक्तिमान कहने का अर्थ यह है कि उसमें असीम शक्ति है और इसी कारण संपूर्ण ब्रह्मांड पर उसका पूर्ण नियंत्रण है। वही प्रकृति के समस्त नियमों का विधायक है। अतः वह अपनी इच्छानुसार इन नियमों का उल्लंघन भी कर सकता है। इस प्रकार अपनी असीम शक्ति के कारण ईश्वर के लिए सब कुछ करना संभव है।

सामान्यतः ईश्वर को 'सर्वव्यापक' कहने का अर्थ यह है कि वह इस जगत् में सर्वत्र व्याप्त या विद्यमान है। ईश्वर की 'सर्वशक्तिमत्ता' की तरह उसकी सर्वव्यापकता के गुण का विकास भी एकेश्वरवाद के उदय के फलस्वरूप ही हुआ है। प्राचीन काल में जब बहुदेववाद प्रचलित था तब किसी एक देवता को सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापक नहीं माना जाता था। ऐसी स्थिति में प्रत्येक देवी या देवता का कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित ही होता था। किसी विशेष देश के निवासी ही किसी विशेष प्रकार के कार्य के लिए उसकी पूजा या उपासना करते थे। इस प्रकार बहुदेववाद के प्रत्येक देवता को हम 'स्थानीय देवता' की संज्ञा दे सकते हैं। परन्तु आगे चलकर मनुष्य की धार्मिक चेतना के विकास के फलस्वरूप जब एकेश्वरवाद का उदय हुआ तो एक ही ईश्वर ने सभी देवी–देवताओं का स्थान ले लिया। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा ईश्वर स्थानीय देवता नहीं हो सकता था। अतः उसे सर्वव्यापक अर्थात् संपूर्ण ब्रह्मांड में सर्वत्र व्याप्त माना जाने लगा।

ईश्वर को सर्वव्यापी मानने का तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्मांड के कण–कण में व्याप्त है जो कि ईश्वर की उपस्थिति को अनिवार्य मानता है। परन्तु ईश्वर को सर्वव्यापी मान लेने पर कुछ जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनका संतोषप्रद समाधान संभव नहीं है। पहली समस्या तो यह है कि ईश्वर को सर्वव्यापक मान लेने पर भक्त और ईश्वर का अंतर समाप्त हो जाता है। यदि ईश्वर जगत् के कण–कण में व्याप्त है तो उसे भक्त में भी व्याप्त मानना पड़ेगा। फलस्वरूप भक्त ईश्वर से भिन्न नहीं रह जायेगा। यदि भक्त और ईश्वर की भिन्नता समाप्त हो जाती है तो भक्त के लिए ईश्वर की उपासना करना असंभव हो जाएगा। वस्तुतः ईश्वर की उपासना तभी संभव हो सकती है जब भक्त और ईश्वर में भेद बना रहे। परन्तु ईश्वर को सर्वव्यापक मान लेने पर भक्त और ईश्वर का यह भेद समाप्त हो जाता है। अतः ईश्वर की उपासना तथा ईश्वर की सर्वव्यापकता में परस्पर संगति स्थापित करना संभव नहीं प्रतीत होता है।

ईश्वर की सर्वज्ञता का अर्थ यह है कि उसे संपूर्ण जगत् अर्थात् सभी भौतिक वस्तुओं– पेड़–पौधों तथा प्राणियों और भूत, वर्तमान एवं भविष्यत की समस्त घटनाओं का पूर्ण ज्ञान है। इस जगत् में ऐसी कोई वस्तु और घटना नहीं है जिसे ईश्वर पूर्ण रूप से नहीं जानता। इस अर्थ में सर्वज्ञ होने के कारण ईश्वर का ज्ञान मनुष्य के ज्ञान से मूलतः भिन्न प्रकार का है। मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही इस जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है, जिनका क्षेत्र बहुत सीमित है। इसी कारण उसका ज्ञान भी अत्यन्त सीमित और अपूर्ण होता है। ईश्वर की सर्वज्ञता का कारण यह है कि उसी ने संपूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना की है और वह इसमें सर्वत्र व्याप्त है। ईश्वर का अनुभव किसी विशेष वस्तु या घटना का अनुभव न होकर सम्पूर्ण ब्रह्मांड का अनुभव है। मनुष्य की सीमित चेतना के विपरीत ईश्वर की चेतना विश्वव्यापी है जिसकी परिधि में सब कुछ सम्मिलित है। विश्व में ऐसी कोई वस्तु अथवा घटना नहीं है जो ईश्वर की विश्वव्यापी चेतना की परिधि से बाहर हो। ऐसी स्थिति में ईश्वर का सर्वज्ञ होना अनिवार्य है। ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वव्यापकता की भाँति उसकी यह सर्वज्ञता भी उसे सभी दृष्टियों से पूर्ण बनाती है और इस सर्वज्ञता के कारण भी भक्त उसकी पूजा या उपासना करता है। वह इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि उसके उपास्य ईश्वर का ज्ञान सीमित तथा अपूर्ण है अथवा वह किसी प्रकार की अनभिज्ञता के दोष से ग्रस्त है। यही कारण है कि वह ईश्वर को सर्वज्ञ मानता है।

ईश्वर को नित्य अथवा शाश्वत भी माना जाता है। ईश्वर को 'नित्य' कहने का तात्पर्य यह है कि वह शाश्वत, अनश्वर, अपरिवर्त्तनशील, अनादि तथा अनन्त है। इस प्रकार 'ईश्वर की सत्ता समस्त सांसारिक वस्तुओं के अस्तित्व से मूलतः भिन्न प्रकार की है। संसार की सभी वस्तुएँ नश्वर एवं परिवर्त्तनशील हैं और

देश–काल के अंतर्गत ही उनका प्रारम्भ एवं अंत होता है। 'नित्यता' के एक दूसरे अर्थ के अनुसार ईश्वर काल के अंतर्गत न होकर उससे परे अथवा कालातीत है। यह ईश्वर के लिए कहना उचित नहीं होगा कि वह काल के अंतर्गत सदैव अपरिवर्त्तनशील एवं निर्विकार बना रहता है। इसका कारण यह है कि अन्य सभी वस्तुओं की तरह स्वयं काल भी ईश्वर की सृष्टि है और वह अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर ही निर्भर है। इस दशा में ईश्वर काल के अंतर्गत नहीं हो सकता, स्वयं काल का स्रष्टा होने के कारण वह कालातीत है। इसका अर्थ यह है कि काल विषयक कोई भी अवधारणा ईश्वर पर लागू नहीं होती, अतः ऐसी किसी अवधारणा द्वारा उसके स्वरूप की व्याख्या नहीं की जा सकती। काल विषयक अवधारणाओं के आधार पर हम केवल सांसारिक वस्तुओं के स्वरूप की व्याख्या कर सकते हैं क्योंकि वे सब काल के अंतर्गत हैं। परन्तु कालातीत होने के कारण ईश्वर के लिए इन अवधारणाओं का कोई अर्थ नहीं हो सकता।

ईश्वर को असीम भी माना जाता है। इस दृष्टि से ईश्वर समस्त सांसारिक वस्तुओं से मूलतः भिन्न है जिनका सीमित होना अनिवार्य है। इस जगत् की प्रत्येक वस्तु की कुछ अनिवार्य सीमाएँ होती हैं जिनके अभाव में उसके अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। परंतु सांसारिक वस्तुओं के विपरीत ईश्वर किसी प्रकार की सीमाओं में आबद्ध नहीं है। सामान्यतः इसी अर्थ में उसे असीम अथवा अपरिमित कहा जाता है और इस असीमितता को उसके स्वरूप का अनिवार्य लक्षण माना जाता है।

ईसाई धर्म में भी ईश्वर को विश्व का रचयिता माना गया है और उसे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, नित्य, असीम, स्वयंभू, व्यक्तित्वसंपन्न तथा अपार स्नेह, करुणा, क्षमा आदि समस्त उत्कृष्ट गुणों से परिपूर्ण कहा गया है। अधिकतर पाश्चात्य ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर के स्वरूप के बारे में ईसाई धर्म के इस मत को स्वीकार करते हैं। वे ईश्वर में उपर्युक्त सभी गुणों का विद्यमान होना आवश्यक मानते हैं और यह भी कहते हैं कि वही इस विश्व का रचयिता है। परंतु अधिकतर पाश्चात्य ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को विश्व का केवल निमित्त कारण न मानकर उसका उपादान कारण भी मानते हैं। उनका मत है कि ईश्वर ने पहले से विद्यमान किसी प्रकार की सामग्री द्वारा इस विश्व की रचना नहीं की है, ईश्वर द्वारा विश्व की रचना से पूर्व ईश्वर के अतिरिक्त कुछ था ही नहीं।

जॉन हिक[1] ने इस संबंध में कहा है कि "इस सिद्धान्त में 'रचना' का अर्थ पहले से विद्यमान सामग्री को नए रूप प्रदान करने की अपेक्षा कहीं अधिक है (जैसा कि एक भवन–निर्माता मकान बनाने के लिए अथवा एक मूर्तिकार मूर्ति बनाने के लिए करता है)। इसका अर्थ है अभाव से रचना करना– अपनी इच्छा द्वारा ब्रह्मांड को तब अस्तित्व में लाना जब केवल ईश्वर ही था।"

जॉन हिक का कहना है कि ईश्वर और विश्व में ऐसा भेद विद्यमान है जिसे कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। ईश्वर ने जिसका निर्माण किया है वह स्वयं कभी भी ईश्वर नहीं हो सकता। अतः उसे ईश्वर से भिन्न मानना अनिवार्य है। संपूर्ण विश्व अपने अस्तित्व के लिए केवल ईश्वर पर ही पूर्णतः निर्भर है। ईश्वर ही उसकी उत्पत्ति का मूल स्रोत है और वही उसे बनाए रखता है।

मनुष्य को जो कुछ प्राप्त होता है उसे ईश्वर की कृपा समझकर आभारपूर्वक ग्रहण करना चाहिए क्योंकि इस संसार पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं है। इस विचार के अनुसार ईश्वर ही सभी प्राणियों तथा भौतिक पदार्थों के साथ–साथ देश और काल का भी रचयिता है। उसने किसी विशेष समय में विश्व की रचना नहीं की है, क्योंकि विश्व–रचना से पूर्व काल का अस्तित्व था ही नहीं। संत आगस्टाइन[2] ने इसी मत को स्वीकार किया है। काल के विषय में जो कुछ कहा गया है वही देश के संबंध में भी सत्य है। इस प्रकार देश–काल सहित संपूर्ण ब्रह्मांड ईश्वर की रचना होने के कारण अपने अस्तित्व के लिए केवल उसी पर पूर्ण रूप से निर्भर है।

गैलवे[3] का कहना है कि ''अभाव से सृष्टि के इस विचार में कुछ व्याघात है। ....अभाव से किसी वस्तु की रचना के विचार में निश्चय ही कुछ असंगति विद्यमान है। वस्तुतः जब हम रचना करने की बात करते हैं तो हमारे लिए मानवीय क्रिया के क्षेत्र से प्राप्त शब्दों तथा साम्यानुमानों के प्रयोग को छोड़ देना लगभग असंभव है, ये अनुभवात्मक विश्व के संबंधों पर तो लागू होते हैं किन्तु ये इस बात का उचित वर्णन नहीं कर सकते कि स्वयं इस विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई है।''

अंत में संक्षेप में ईश्वर के स्वरूप के बारे में मैं अपना मत व्यक्त कर सकती हूँ कि ईश्वर विश्व के प्रत्येक कण में व्याप्त है। यदि मानव में श्रद्धा एवं विश्वास है तो वह उसका साक्षात्कार पत्ते में भी कर सकता है। केवल सच्ची आस्था, सच्ची भावना एवं सच्ची सेवा ही हमें ईश्वर का वास्तविक स्वरूप बता सकती है, उसका दर्शन करा सकती है एवं हम मानवों को इस भव–सागर से पार ले जा सकती है।

रीडर, दर्शन-विभाग

इलाहाबाद डिग्री कालेज, इलाहाबाद

टिप्पणी

(1) जॉन हिक– फिलॉसॉफी ऑफ रिलीजन, पृ0 8

(2) संत ऑगस्टाइन, – कन्फेशन्स, बुक 11, अध्याय 13.

(3) जार्ज गैलोवे, दि फिलॉसफी ऑफ रिलिजन, पृ0 470.

ग्रन्थ समीक्षा कृष्णा प्रसाद

उत्तराखण्ड में योग एवं तांत्रिक परम्पराएँ

डॉ. विभा मुकेश एवं डॉ. मुकेश चन्द्र डिमरी,
विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 2008

योग एवं तंत्र जैसे प्राचीन रहस्य को विवेचित करने में यह पुस्तक अत्यन्त सक्षम है। उत्तराखण्ड की जिस गुह्य परम्परा को यहां सबलता से प्रस्तुत किया गया है वह अत्यन्त सारगर्भित है। योग एवं तन्त्र की आधुनिक उपयोगिता भी पुस्तक में द्रष्टव्य है।

छः अध्यायों में विवेचित यह पुस्तक उत्तराखण्ड में योग एवं तन्त्र के विविध विमर्शों को समाहित करती है। प्रथम अध्याय में उत्तराखण्ड के प्राकृतिक स्वरूप तथा योग के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रस्तुत किये गये हैं। तन्त्र, मन्त्र एवं यन्त्र से संबंधित विचार द्वितीय अध्याय में संकलित हैं। शैव–शाक्त एवं वैष्णव मत तृतीय अध्याय में संकलित हैं। इसमें चतुर्थ अध्याय तान्त्रिक अनुष्ठान से आच्छादित है। पंचम अध्याय साधना के विविध आयामों में परिसीमित है। छठा अध्याय "योग एवं तन्त्र का समाज तथा संस्कृति पर प्रभाव" नाम से अभिहित है जिसमें योग एवं तन्त्र का प्राचीन एवं आधुनिक स्वरूप प्रस्फुटित है।

प्रस्तुत पुस्तक योग एवं तन्त्र से सम्बन्धित सकारात्मक पक्ष को अभिव्यक्त करते हुए उत्तराखण्ड के गढ़वाल जिले पर पूर्णतया ध्यान केन्द्रित करती है। भारत में उत्तराखण्ड एक ऐसा आदि–स्थान है जहां भारत की समस्त धार्मिक परम्पराएं पल्लवित एवं पुष्पित होती हैं। शंकराचार्य अपने चार मठों में एक को उत्तराखण्ड में ही स्थापित किये। उत्तराखण्ड का प्रत्येक हिस्सा योग एवं तन्त्र में पूर्णतया निपुण है। योग की अधिकतर परिभाषाओं को अभिव्यक्त करते हुए भी पुस्तक योग एवं धर्म के सम्यक् सम्बन्ध को परिभाषित करने में असफल है। भारत जैसे धार्मिक देश में योग की धार्मिकता विचारणीय है। विविध पुस्तकों से तथ्यों का संकलन श्रमसाध्य अवश्य है परन्तु स्वच्छन्द चिन्तन की अपनी विशेष महत्ता है। यद्यपि गढ़वाल उत्तराखण्ड का केन्द्र है परन्तु योग एवं तन्त्र की विधाएं अन्यान्य जिलों में भी विकसित हुई हैं।

योग दर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि योग की व्याख्या 'योगः चित्तवृत्ति निरोधः' के रूप में करते हुए अष्टांग योग की चर्चा करते हैं और गीता 'योगः कर्मषु कौशलम्' के रूप में योग को व्याख्यायित करते हुए कर्म की कुशलता अभिव्यक्त करती है। समीक्षाकार के अनुसार योग इन विवरणों एवं अन्यान्य ग्रन्थों की व्याख्याओं से भी अधिक गहराई से व्याख्येय है जो अहम् सवाल होते हुए भी चिन्तनीय है।

योग एवं तान्त्रिक परम्पराएं हमारे वैदिक ज्ञान के साथ सुलभ हुईं। आचार्य शंकर का परकाय–प्रवेश योग की महनीयता को प्रदर्शित करता है। इस परम्परा में यदि यह महर्षि पतंजलि को अलग कर दें तो भी श्री अरविन्द, महर्षि महेश योगी आदि ऐसे सन्त हुए हैं जो योग की पराकाष्ठा को प्रदर्शित करते हैं। अतः योग का सम्बन्ध सम्पूर्ण भारत से होते हुए उत्तराखण्ड से विशेषतः स्वाभाविक है। परन्तु वह केवल गढ़वाल को ही नहीं अपितु सम्पूर्ण उत्तराखण्ड को अभिभूत करता है।

योग की महत्ता अक्षुण्य है। आधुनिक समय में भी उत्तराखण्ड में ही नहीं अपितु भारत के साथ सम्पूर्ण विश्व में इसकी महनीयता को स्वीकार किया गया है। योग के आधार पर आज भी लोग अपनी शारीरिक एवं मानसिक स्थिति को नियन्त्रित करते हुए स्वस्थ रहने में विश्वास करते हैं एवं आध्यात्मिक बोध में इसे सहायक मानते हैं। उत्तराखण्ड वासी इस परम्परा में काफी सबलता से जकड़े हुए हैं जिसकी सामग्री सुलभ करने के लिए लेखकों को अथक परिश्रम हेतु साधुवाद।

शोध–छात्र
दर्शनशास्त्र विभाग,
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

ग्रन्थ समीक्षा प्रो. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय

In Defence of Metaphysics :

Indian Encounter with Logical Positivism

Eds. Ambika Datta Sharma and Sanjay Kumar Shukla

Vishwavidyalaya Prakashan, Sagar, 2008

सन् 1963 में हरबर्ट फाइग्ल ने मिनेसोटा यूनिवर्सिटी में एक चर्चा के दौरान मुझसे कहा था कि उस समय तक तार्किक अनुभववाद (लॉजीकल पॉजिटिविज्म) के केवल दो ही पैरोकार बाकी रह गये थे, एक स्वयं वे और दूसरा एक अन्य जिसका नाम अब मुझे स्मरण नहीं है। इस घटना को बीते चार दशक से अधिक हो चुके हैं और आज की तिथि में उस दार्शनिक संप्रदाय का नामलेवा शायद ही कोई बचा हो। ऐसी स्थिति में उसके प्रत्याख्यान के रूप में भारतीय तत्त्वमीमांसा के कतिपय समकालीन चिंतकों के मत को खड़ा करना प्रथम–दृष्ट्या कुछ–कुछ उसी तरह का प्रयास मालूम हो सक़ता है जैसे अतीत के एक ऐसे विस्थापक प्रयास के प्रति रोब दिखाना जो सम्प्रति स्वयं ही मृतप्राय हो गया है। किंतु इस प्रयास को देखने–समझने का एक दूसरा दृष्टिकोण भी हो सकता है, वह यह कि दार्शनिक संप्रदायों के मतवाद कभी पूर्ण रूपेण खत्म नहीं होते, क्योंकि अनुकूल परिस्थितियों में वे रक्तबीज की तरह पुनः पुनः सक्रिय हो उठते हैं। इस दृष्टिकोण से भारतीय तत्त्वमीमांसीय आधार से लिखे गये तथा उक्त ग्रंथ में संग्रहीत इन लेखों को एक सही उपक्रम माना जा सकता है। ये सभी लेख लगभग 1940 के बाद ही लिखे गये हैं जब तार्किक अनुभववाद अपनी प्रभावमत्ता में चरम पर था। अतएव तार्किक प्रत्ययवाद को तत्त्वमीमांसा प्रधान भारतीय दर्शन का एक सामान्य पूर्वपक्ष मानकर भारतीय तत्त्वमीमांसकों का यह बिखरा हुआ प्रयास इस ग्रन्थ में पहली बार समेकित रूप से प्रस्तुत हुआ है। सम्पादक–द्वय का ध्यान इस ओर गया इसके लिए दोनों साधुवाद के हकदार हैं। वैसे भी भारतीय समाज और संस्कृति पर आधुनिकीकरण के बढ़ते दबाव के दौर में हमें यह तो जानना ही चाहिए कि हमारी अपनी तात्त्विक विचार–भूमि कितनी दृढ़ है और किस सीमा तक तार्किक अनुभववाद की आक्रामकता

को झेल कर अपने प्रतिपादनों को सुरक्षित रख सकने में वह सक्षम है। अवश्य इस प्रसंग में हमें दयाकृष्ण जी की यह बात ध्यान में रखनी चाहिए जो उन्होंने जी.सी. पाण्डे के लेख 'तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन' की परिचर्चा के क्रम में कही है : आधुनिक विज्ञान की निरंतर गतिशीलता के कारण उसके अंतर्गत ज्ञान का कोई 'प्रामाणिक आधार प्राप्त नहीं होने को तथा अपनी भारतीय आध्यात्मिकता के 'सदा एक–रस, सदा संपूर्ण तथा भ्रांति–संभावना–विहीन' होने के आग्रह के कारण कहीं हम उस मिथ्याभिमान से ग्रसित न हो जाएं 'जो एक ओर विज्ञान की ज्ञान–साधना को निरादर की दृष्टि से देखता है वहां दूसरी ओर अपने को या अपने देश को आध्यात्मिक ज्ञान का प्रतिनिधि मानता है जो उसके अनुसार उसकी संस्कृति ने अपने प्रारंभिक काल में ही प्राप्त कर लिया था। दोनों प्रकार की परिणति किसी के लिए हितकारी नहीं है– चाहे वह व्यक्ति हो, समाज हो, या देश हो।' (407)

किसी भी दार्शनिक मतवाद–प्रतिवाद को समझने के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम यह जाना जाय कि संदर्भित मूल बिंदु क्या है। प्रकटतः यहां विचार्य मूल बिंदु है तार्किक अनुभववादियों द्वारा तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यान हेतु दी गई युक्तियां और उनकी दार्शनिक पर्याप्तता और औचित्य। श्रीराम माधव चिंगले के दो लेखों में इन दो पक्षों का उनके ऐतिहासिक विकास पर आधारित विवरण मिलता है। कमोवेश इसी तरह का, किंतु अधिक व्यापक ऐतिहासिकता का संदर्भ वाला, विवरण एन.के. देवराज, एस.एस. राय, ए.के. चटर्जी और ज.स.र.ल. नारायणमूर्त्ति के लेखों में भी उपलब्ध है। ऐतिहासिकता की दृष्टि से यूरोप में 1928 में वियेना–सर्किल के वैज्ञानिक–दार्शनिकों के विचारों में जन्में तार्किक अनुभववाद में आधुनिक विज्ञान के प्रति संकल्पित आग्रह के अतिरिक्त अनुभववादी ह्यूम और *ट्रैक्टेटस* के विट्‌गेन्स्टाइन का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। यह कह पाना मुश्किल है कि उनका विज्ञानवादी आग्रह उन्हें ह्यूम और विट्‌गेन्स्टाइन की शरण में ले जाता है, या कि उन्हें ह्यूम और विट्‌गेंस्टाइन की दार्शनिक ओजिस्वता विज्ञानवादी बना देती है। आश्चर्य है कि यहां संग्रहीत लेखों में *ट्रैक्टेटस* के अलावा ह्यूम के प्रभाव पर विशेष कुछ नहीं लिखा गया है। द्रष्टव्य है कि *ट्रैक्टेटस* का प्रमुख उद्‌देश्य तथ्य–निरूपणात्मक भाषा के लिए एक शुद्ध (आकारिक) तार्किक संरचना–विधान का है, जिसमें अनुभवाधारित भाषायी अर्थ–विधान की रूपरेखा पूरी तरह स्पष्ट नहीं की गई है, और इसलिए केवल *ट्रैक्टेटस* के सहारे तार्किक अनुभववाद के उस सत्यापनीयता सिद्धांत को खड़ा नहीं किया जा सकता जिसकी तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यान में मुख्य भूमिका है। *ट्रैक्टेटस* की इसी कमी की पूर्त्ति ह्यूम का संप्रत्ययन सिद्धांत करता है, जो वस्तुतः इंदियानुभवों को क्रमशः जटिल होते प्रत्ययों की श्रृंखला में बदलने की मानसिक (चैत्त) प्रक्रिया है, जिससे भाषायी प्रतीकों को उनका अर्थ मिलता है और जो ह्यूम के अनुसार तत्त्वमीमांसीय दावों का खोखलापन सिद्ध

करता है। इस तरह स्वाभाविक है कि ह्यूम का यह प्रत्याख्यान प्रकटतः मनोवैज्ञानिक जान पड़ता है, जबकि सारतः इसका भी कथ्य वही है जो तार्किक अनुभववादियों का है, यह कि तत्त्वमीमांसा की भाषायी अभिव्यक्तियां इंद्रियानुभव के साक्ष्य पर आधारित नहीं होने के कारण अर्थहीन हैं। किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि तार्किक अनुभववादी शायद जानबूझ कर भाषायी अर्थ के संदर्भ में किसी चैत्त प्रक्रिया की बात कह कर अपने लिए तत्त्वमीमांसीय संभावनाओं वाली मुसीबत का पिटारा न खोल कर केवल इंद्रियानुभव के साक्ष्य की बात करते हैं, जैसा कि वह उनके सत्यापनीयता सिद्धांत में स्पष्ट हुआ है। यह भी रोचक है कि बाद में लाजेरोविट्ज जैसे विचारकों ने फ्रायड के मनोविज्ञान के अनुगमन में तत्त्वमीमांसा के खंडन के पक्ष में उसके मनोव्याधिमय होने की बात कही है, जिसकी कुछ विस्तार से चर्चा याकूब मसीह के एक लेख में की गई है। अब चाहे बात तत्त्वमीमांसा के मनोव्याधिग्रस्त होने के कारण उसके खंडन की हो या चाहे बात तत्त्वमीमांसा के किसी मूल अभिवृत्तिमूलक होने के कारण (जिसकी चर्चा यहां कई लेखों में की गई है) उसके मंडन की हो, इन दोनों ही दिशाओं में किये गये प्रयास शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से विशेष फलप्रद नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार यहां संग्रहीत अधिसंख्य लेखों में ईश्वर, आत्मा आदि तत्त्वों के अतींद्रिय अनुभव के आधार से तत्त्वमीमांसा की अभिव्यक्तियों को अर्थयुक्त कह कर तार्किक अनुभववाद की जो आलोचना की गई है उसे भी ठीक युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भाषायी प्रतीकों में ये अनुभव किस तरह संप्रेषणीय अर्थ संरचित करते हैं, यह दिखाने का प्रयास नहीं किया गया है। चूंकि तार्किक अनुभववाद का तत्त्वमीमांसा का खंडन पूरी तरह भाषा की संप्रेषणीय अर्थवत्ता को लेकर है, जो उसके अनुसार इंद्रियानुभव के अपरोक्ष या परोक्ष साक्ष्य पर ही आधारित है, उसकी आलोचना के क्रम में कम से कम यह दिखाना तो आवश्यक ही है कि जिस मानव चेतना में इंद्रियानुभव अंशभूत है उसका न तो आदि रूप है और न ही अंत्य रूप। बल्कि वे चेतना के विकास के एक स्तर के रूप में उसके कई अन्य स्तरों से श्रृंखलाबद्ध होकर ही घटित होते हैं तथा इन सभी स्तरों पर, उनके साक्ष्य से, भाषायी अर्थवत्ता भी समृद्ध होते रहती है। भारतीय परंपरा वाली तत्त्वमीमांसा में प्रकट ही भाषायी अभिव्यक्ति की अर्थवत्ता वाली यह अवधारणा विद्यमान है, जिसे बस तार्किक अनुभववाद के प्रत्याख्यान के उत्तर में भाषायी प्रतीकों के अर्थोन्नयन के साथ जोड़ा जाना ही शेष रह जाता है। आश्चर्य है कि केवल जी.सी. पांडे और यशदेव शल्य को छोड़ अन्य किसी ने इस ओर प्रयास नहीं किया।

प्रायः प्रतिरक्षण के साथ आक्रामकता जुड़ी होती है। यहां तत्त्व मीमांसा के प्रतिरक्षण में जुटे भारतीय विचारकों में इसका अभाव नजर आता है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि वे कुछ सहमे से लगते हैं। पश्चिम में परवर्त्ती चिंतकों ने

तार्किक अनुभववादियों द्वारा तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यान हेतु जिस सत्यापनीयता सिद्धांत का सहारा लिया, उसकी कमजोरियां दिखाकर जो आलोचनाएं की थीं, उन्हें ही अधिकांशतः यहां यथावत् दुहरा दिया गया है, या फिर डी.एन. द्विवेदी की तरह उन्हें तार्किक अनुभववाद की परंपरा में आत्मसमीक्षामूलक विकास के रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु ए.के. चटर्जी ने इससे हटकर एक अनोखी बात कही है (118–121), जो न तो तार्किक अनुभववाद के प्रत्याख्यान का प्रत्युत्तर है और न ही तत्त्वमीमांसा के 'सत्' संबंधी दावों को बल प्रदान करती है। उनके अनुसार अभिधा और व्यंजना भाषा की दो प्रमुख शक्तियां हैं जिनके प्रयोग के नियम अलग–अलग हैं। तत्त्वमीमांसा की भाषा–रचना अभिधात्मक न होकर व्यंजनात्मक है। वस्तुतः व्यंजना ही भाषा की आधारभूत क्रिया है, जबकि अभिधा उसके बाद आती है। तत्त्वमीमांसीय व्यंजनात्मक भाषा–रचना में भाषा से परे कोई पदार्थ नहीं होता, बल्कि वह एक 'मिथकीय रचना' है, जिसमें मानव–परिवेशगत प्राकृतिक शंक्तियां व्यंजित होती हैं, और उसकी सत्यता का निकष उसमें व्यक्त सत्य है, न कि भाषागत नियम। तत्त्वमीमांसा करना काव्य रचने की तरह है– याकूब मसीह के शब्दों में एक 'बौद्धिक काव्य'– इसलिए वह तथ्यात्मक कथन नहीं होता। इस तरह चटर्जी तार्किक अनुभववादी के ही मत की पुष्टि करते हैं, न कि उसका खंडन, क्योंकि तार्किक अनुभववादी भी तो यही कहता है कि तत्त्वमीमांसा किसी तरह तथ्यात्मक 'सत्य' का कथन न होकर, कविता की शैली में ही सही, अपने भाषायी प्रयोगों में 'सत्' का भ्रम पैदा करते हैं, फिर चाहे हम उन्हें *ट्रैक्टेटस* की तरह भाषायी तर्क की गलत समझ के कारण उत्पन्न मान लें या फिर *इन्वेस्टिगेशन्स* की तरह एक अलग प्रकार का भाषायी खेल। अभिव्यक्ति के यदि हम आत्म–तृप्ति का भी अंश जोड़ दें तब भी स्थिति में विशेष सुधार नहीं हो पाता, जब तक कि उसे बौद्धिक स्तर पर प्रत्ययात्मक रूप न दिया जा सके। अपने दूसरे लेख में चटर्जी ने ठीक यही करने का प्रयास किया है, यह कह कर कि आत्म–भावाभिव्यक्ति केवल सत्तामीमांसा (ऑन्टोलॉजी) द्वारा संभव है जो इस क्रम में एक विराट् प्रत्यय–संस्थान की रचना करता है, यहां तक कि वस्तुतः तार्किक अनुभववाद भी आत्माभिव्यक्ति का एक प्रकार होने से सारतः एक कल्पनाशील तत्त्वमीमांसीय रचना ही है। प्रकट ही चटर्जी का यह मत इतना अतिव्यापी है कि इसमें कुछ भी सिद्ध या असिद्ध कर पाना मुश्किल है। आर.के. त्रिपाठी, एस.एस. राय और एस.एल. पांडे भी तत्त्वमीमांसा को मूलतः सत्तामीमांसा मानते हैं। किन्तु भारतीय दार्शनिक परंपरा के अनुपालन में वे इसे ईश्वर, आत्मा जैसे पराभौतिक तत्त्वों से संबंधित मानते हुए इसकी अभिव्यक्ति की भाषा को संश्लेषणात्मक–विश्लेषणात्मक, विवरणात्मक–अविवरणात्मक, सत्य–असत्य के भेदों से परे गूढ़तः संप्रेषणीय होने से सत्यापनीयता सिद्धांत द्वारा प्रत्याख्यान के दायरे में नहीं समझते। भारतीय दृष्टिकोण से तो यह ठीक है, किन्तु तार्किक अनुभववादी के भाषीय तर्क की स्पष्टता की मांग की दृष्टि से यह मत

बिल्कुल अपर्याप्त है, बिल्कुल अस्पष्ट है, जिसके कारण इसके अंतर्गत भाषायी अर्थ को संप्रेषणीय मानना भी जल्दीबाजी है। प्रकट है कि त्रिपाठी का ऐसे भाषायी प्रयोगों को 'आध्यात्मिक जागरूकता' के आधार से समझने का सुझाव भी अधिक उपयोगी नहीं है, जब तक कि इसके संदर्भ में भाषायी प्रयोग के नियमों को स्पष्ट न किया जा सके। अथवा, कम से कम यह प्रयास तो किया ही जाना चाहिए कि ऐसी स्थिति में चेतना या अनुभव का क्या विशिष्ट रूप होता है, जिसकी पर्याप्त चर्चा भारतीय दार्शनिक परंपरा में युगों से होती रही है।

टी.आर.वी. मूर्त्ति के लेख में इस दिशा में एक प्रयास किया गया है। उनके अनुसार तत्त्वमीमांसीय वाक्य इंद्रियानुभवों के सामान्यीकृत वाक्य अथवा उनमें पूर्वमान्य प्रागनुभवीय तत्त्वों के कथन न होकर, अनुभवातीत बुद्धि द्वारा संरचित होते हैं। इंद्रियानुभव के दायरे में बुद्धि एक आगे बढ़ती हुई चेतना है, जिससे विज्ञानगत निर्माण, भविष्यकथन, अनुमान आदि संभव होते हैं, जबकि इंद्रियानुभव से परे बुद्धि एक पीछे मुड़ती हुई चेतना है जो अपनी जड़ों की तलाश में है। यह सिद्धान्त न होकर 'सैद्धांतीकरण की चेतना' है, अर्थात् शुद्ध भारतीय तर्ज पर यह 'आध्यात्मिकता का वास्तवीकरण' है। कालिदास भट्टाचार्य के शब्दों में, चेतना की यह विशेष वृत्ति 'मननात्मक अंतर्बोध' है, एक विशेष बौद्धिक योग्यता जिसका सातत्य इंदियानुभवमूलक बुद्धि से होता है। प्रकट ही यहां संकेत सांख्य व वैशेषिक के प्रत्यय–निर्वचन की ओर है जिसमें वास्तविकता (यथार्थ जगत्) का संबंध उसकी चेतना (अनुभव) से अंतर्बोधात्मक रूप से स्थिर होकर प्रत्ययों की योजना और मानव–कर्मों की योजना का रूप लेता है। परंतु यह मान लेने पर भी भाषायी भ्रम की संभावना बनी रह सकती है। जी.सी. नायक के शब्दों में, 'पश्चिमी व भारतीय दार्शनिकों द्वारा भाषायी भ्रम का शिकार होना बिल्कुल संभव है, क्योंकि भाषायी प्रयोग में वैज्ञानिक व तत्त्वमीमांसीय प्रयोगों के बीच स्पष्ट सीमा रेखा खींच पाना संभव ही नहीं है। तथापि जो अंतर्दृष्टि एक तत्त्वमीमांसक को आभास और सत् के बीच भेद दिखाती है उसे भाषा–विश्लेषक द्वारा भ्रम कहकर दरकिनार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह भेद सभी मनुष्यों के लिए महत्त्वपूर्ण है। ऐसी अंर्तदृष्टि को तत्त्वमीमांसक यथार्थता और औचित्य के आधार से विमर्शात्मक रूप प्रदान करता है, उसे एक जीवन–दर्शन का रूप देता है। इस दृष्टि से तत्त्वमीमांसीय अभिव्यक्तियां एक तरह के भाषायी प्रस्ताव हैं जो हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं और मानव–इतिहास की दिशा तय करते हैं। वस्तुतः ये प्रस्ताव नयी मानव–स्थितियों, मानव संदर्भित नये तथ्यों के निर्माण हैं।' (234–39)

नायक ने अपने इस गूढ़ 'प्रस्ताव' के बारे में अधिक कुछ नहीं लिखा है। संभवतः जी.सी. पांडे और यशदेव शल्य के लेखों से इस पर कुछ रोशनी पड़ सकती है। ये लेख इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं कि ये बताते हैं कि तत्त्वमीमांसा और उसके विरोध में उठने वाला विज्ञानवादी विचार वस्तुतः मानव–चैतसिक विकास–क्रम में ही सहजतः उत्सर्जित है और उनके बीच संघर्ष की स्थिति इस विकास–क्रम को

सही रूप में न समझ पाने के कारण पैदा होती है। पांडे जी मानते हैं कि वस्तु–तत्त्व–दर्शन व निरूपण तत्त्वमीमांसा और विज्ञान दोनों का ही लक्ष्य है। इन दोनों क्षेत्रों में बुद्धि की क्रियाशीलता है, तत्त्वमीमांसा में उसका रूप आर्ष–प्रज्ञा का है तो विज्ञान में वही तर्क–प्रज्ञा है। एक ओर उसमें नित्य–ज्ञान का आभास होता है, तो दूसरी ओर ऐंद्रिय प्रतिभाषों एवं उनके संश्लेषित–विश्लेषित विकल्पों का। बुद्धि की प्रवृत्ति पराङ्मुख होने पर वह नित्य ज्ञान और नित्य सत्य के अनुसंधान में लगती है। अब, तर्क–प्रज्ञा या पराङ्मुखी बौद्धिक वृत्ति में चूंकि वस्तु–ज्ञान का आधार इंद्रिय–प्रत्यक्ष है, यह वस्तु–स्वरूप या आधिभौतिक जगत् का एक परोक्ष और संभावनात्मक विज्ञान बनकर ही रह जाता है। पुनः, करणोपकरणपूर्वक प्रत्यक्ष सही अर्थों में प्रत्यक्ष है भी नहीं। प्रत्यक्ष का सही रूप अपरोक्षानुभूति ही है जिसमें प्रकाशित सत् परमार्थतः तत्त्व–स्वरूप है। इस सत् संप्रेषण के लिए शुद्ध–बुद्धि तत् को नाना सांकेतिक तत्त्वों का रूप देती है। यही वास्तविक तत्त्वमीमांसा का जन्म है, और व्यावहारिक बुद्धि का बहिर्मुखी आग्रह उसका निधन है। आत्मविद्या से अतिमूर्त बुद्ध्यात्मक तत्त्वमीमांसा पदार्थ–विद्या (विज्ञान) में तिरोहित हो जाती है। इस तरह पांडे जी के अनुसार, बुद्धि ही अपनी दो सहज वृत्तियों की सक्रियता के फलस्वरूप तत्त्वमीमांसा के उद्भव व उसके प्रत्याख्यान का कारण बनती है, और इन वृत्तियों की पृथक् रूपेण सक्रियता का कारण है उनके अधीन 'प्रत्यक्ष' की अवधारणा और वस्तु–तत्त्व निर्धारण का स्वरूप। चूंकि प्रत्यक्ष शुद्धतः केवल आत्मसाक्षात्कारात्मक ही हो सकता है, उस पर आधारित तत्त्वमीमांसा ही आवरणमुक्त वस्तु–तत्त्व को प्रकट करने में सक्षम है, यद्यपि इसकी अभिव्यक्ति का भाषायी स्वरूप साधारण नहीं रह पाता। इस दृष्टि से, विज्ञान अथवा साधारण भाषायी अर्थ–व्यापार के सहारे आध्यात्मिक या तत्त्वमीमांसीय अभिव्यक्तियों को अर्थहीन सिद्ध करने का प्रयास केवल एक अतिवैज्ञानिक पूर्वाग्रह या अल्पज्ञता ही कहा जायेगा।

शल्यजी मनुष्य के सारे ज्ञान को ही मूलतः आत्मतत्त्वान्वेषण का रूप वाला मानते हैं, जिसके विविध रूप उसके विविध स्तरीय निर्धारण हैं। मानव–ज्ञान का प्रस्थान बिंदु मनुष्य के अपने और जगत् के अस्तित्व की सार्थकता की जिज्ञासा है, जो दर्शन का मुख्य निर्वाच्य विषय है। अतएव जब 'आधुनिक पाश्चात्य अनुभववाद वैज्ञानिक निरूपणों को व्यवहार सौकर्य से प्रमाणित प्राक्कल्पनाओं के रूप में देखता है तो 'इसमें वस्तु–स्वरूप विषयक एक अनालोचित पूर्वाग्रह है', यह कि वस्तु स्वरूपतः इन्द्रियगम्य प्रकार की है, जबकि वास्तव में इस तरह वे वस्तु की सतह भी नहीं छू पाते और वह आखिर तक अविज्ञेय ही बनी रहती है। फिर यह भी विजिज्ञास्य है कि 'सत्' को सदैव वस्तु रूप में ही क्यों कल्पित किया जाय? अस्तित्वतः जो सद्रूप है, अर्थात् वस्तु, वह अपने स्वरूप में अनस्तित्व, अनात्म या आत्मविरोध को समाहित करने के कारण मूलतः अपूर्ण है, 'पूर्णता का इतर माध्यम से अपूर्णावतार है', और इसलिए अवबोध्य है कि पूर्णता के रूप में सत् ऐसा है जो

अस्तित्व में घटित नहीं होता, अपितु अस्तित्व का आधार है, 'अस्तित्व उसी से है, किन्तु वह स्वयं अस्तित्व से अतीत है'। अतएव वस्तु–तत्त्व के स्वरूप– उद्घाटन के लिए भी मानव–ज्ञान के स्वरूप को उसके सही रूप में समझने की आवश्यकता है।

स्पष्ट है कि एक बार यह समझ लिए जाने पर कि मानव–ज्ञान का सारा प्रकल्प ही विविध–स्तरीय आत्मान्वेषण का है, जिसका मूल स्वरूप उपनिषदों में पंचकोशमय पुरुष रूप से निर्वाच्य है और जिसका अनुसरण शल्यजी ने अपनी विवेचना में किया है, यह समझ पाना भी आसान है कि प्रत्येक स्तर पर यह आत्मान्वेषण अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त प्रतीकों को नया अर्थायाम प्रदान करेगा। वैसे भी 'भाषा' एक 'प्रतीक–संस्थान' ही है, अर्थ उसमें पैदा नहीं होते, उसके माध्यम से अर्थ पैदा किये जाते हैं। पुनः, ऐसा भी नहीं है कि ऐसा करने में कोई भाषायी 'खेल' खेला जा रहा हो। किसी भी स्तर पर आत्मान्वेषण एक 'खेल' न होकर चेतना की ऐसी गूढ़ सक्रियता है जिसका लक्ष्य आत्मनिष्ठतापूर्वक अपना स्वरूप–निदर्शन है। विश्व स्तर पर, समग्र अर्थान्वयन के स्तर पर, 'लीला' का खेल केवल ईश्वर खेलता है, भाषा (वाणी) के स्तर पर वही 'परा' से 'वैखरी' तक लीलावत अवतरित होता है, प्रत्येक स्थिति में ईशावास्यता, यथातथ्यार्थता, सद्चिदद्वयता सहित। मनुष्य के लिए तो यह 'वैखरी' से आरंभ कर 'मध्यमा' व 'पश्यंती' से होते हुए 'परा' तक एक कठिन श्रमसाध्य 'साधना' है, 'वाचारम्भणम् विकारः' को यथातथ्यार्थ में बदलने की आर्ष प्रज्ञोपासना है। एक बार हमें भाषा के अंतस् में झांकने वाली यह अंतर्दृष्टि मिल जाती है तो हम सहज ही तार्किक अनुभववाद के भाषायी अर्थ–निर्धारण की कसौटी, अर्थात् सत्यापन सिद्धान्त, जिस पर तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यान की नींव रखी गयी है, का बौनापन देख सकते हैं। यहां तक कि न केवल उसका यह भाषायी नियमन का प्रयास स्वयं उसे तत्त्वमीमांसा के द्वार पर ला खड़ा करता है, बल्कि ठीक उसी की परिधि में ही एक निर्वचनतंत्रमूलक तत्त्वमीमांसा (डेस्क्रिप्टिव मेटाफिजिक्स) का उदय हो जाता है। निर्वचनतंत्रमूलक तत्त्वमीमांसा और कुछ नहीं, 'वैखरी' का ही 'मध्यमा' में के स्वतः स्फूर्त गमन है। भाषा का उसके भीतर से ऐसा स्तरोन्नयन सुदूर क्षितिज में 'पश्यंती' के आलोक से भी प्रभावित हो सकता है, जहां से होकर 'परा' के लिए रास्ता खुलता है। अतः संपादक–द्वय का यह अभिमत सारतः ठीक ही है कि, चूंकि 'मानव अनुभवों की अंतःप्रेरणा के रूप में मूलतः सत् का अन्वेषण ही उद्दिष्ट है, समकालीन भारतीय विद्वानों द्वारा आध्यात्मिक आधार से तत्त्वमीमांसा के अर्थ, उद्देश्य और उपादेयता का प्रतिपादन उनके दृष्टिकोण से बिल्कुल युक्तियुक्त है'।

सेवानिवृत्त आचार्य एवं अध्यक्ष,
विवेकानन्द तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययनशाला,
रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर

उद्घाटन भाषण महामहिम श्री बी.एल. जोशी

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में आयोजित ५३वां अधिवेशन, ८ नवम्बर, २००८

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतंगमय।।

सर्वप्रथम मैं अखिल भारतीय दर्शन–परिषद् की कार्यकारिणी के पदाधिकारियों को धन्यवाद देना चाहता हूं, जिन्होंने अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा स्थापित इस गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में हमारे दर्शन शास्त्र विभाग के तत्त्वावधान में हमें इस 53वें अधिवेशन को आयोजित करने का अवसर प्रदान किया।

इस आयोजन के माध्यम से ही हमें प्रदेश के विधानसभा अध्यक्ष माननीय श्री हरवंशकपूर जी, जगद्गुरुशंकराचार्य जी, मान्य शिक्षा मंत्री श्री मदन कौशिक जी तथा प्रो. एस.पी. दुबे, अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन–परिषद्, प्रो. सजीवन प्रसाद, सामान्य अध्यक्ष–53 वां अधिवेशन तथा प्रो. अम्बिका दत्त शर्मा, महामंत्री अखिल भारतीय दर्शन–परिषद् तथा इनकी कार्यकारिणी के अन्य सदस्यों का सान्निध्य प्राप्त हुआ।

मैं उक्त महान् विभूतियों की गरिमामयी उपस्थिति के बीच देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों से पधारे हुए दर्शनशास्त्रियों तथा सभागार में उपस्थित सभी विद्वानों का हार्दिक स्वागत करता हूं। आप सभी जानते हैं कि शिक्षा की गुरुकुल–पद्धति एवं आधुनिक शिक्षा–पद्धति का यह विश्वविद्यालय अपनी तरह का अनूठा संगम है।

विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग द्वारा लगभग प्रतिवर्ष विभिन्न सारगर्भित विषयों पर राष्ट्रीय संगोष्ठियों का सफल आयोजन होता रहा है। मुझे आपको यह बताते हुए प्रसन्नता हो रही है कि भारतीय दार्शनिक महासभा तथा भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् द्वारा प्रकाशित होने वाली "A Select Proceedings of Indain Philosophical Congress" (1995) नामक पुस्तक का प्रथम संस्करण

हमारे दर्शन शास्त्र विभाग द्वारा प्रायोजित किया गया था। उसके आयोजन–सचिव भी प्रो. बिष्ट जी ही थे।

दर्शन विषय बहुत गूढ़ है। यह मनुष्य के आन्तरिक एवं बाह्य अर्थात् जड़ एवं चेतन दोनों पहलुओं को समझने का मार्ग बताता है। यहां पर मुझे *गीता* का वह वचन स्मरण होता है जिससे आप सभी दार्शनिक एवं उपस्थित जन भली प्रकार परिचित है।

''जिस प्रकार से मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्रों को धारण करता है उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को त्याग कर नये शरीर को धारण कर लेती है।'' शायद इसी को दार्शनिक लोग पुनर्जन्म सिद्धान्त के रूप में भी समझाते होंगे। आप लोगों की इस अधिवेशन में होने वाली चर्चा–परिचर्चा से इस प्रकार की बहुत सी तात्त्विक बातें सुनने को मिलेंगी।

इस बात पर कोई सन्देह नहीं कि दर्शनशास्त्र मानव–जीवन के गूढ़ रहस्यों से पर्दा उठाने की विद्या है। अर्थात् ईश्वर, जीव और जगत् सम्बन्धी वास्तविकताओं से हमें परिचित कराता है। सांख्य–योग, सौन्दर्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, न्यायशास्त्र आदि सभी दार्शनिक विधायें किसी न किसी रूप में मानव–जीवन के विभिन्न आयामों को ही प्रस्तुत करते हैं।

अखिल भारतीय दर्शन–परिषद् की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए मैं कह सकता हूं कि परिषद् निश्चित रूप से मानव–सेवा में संलग्न है तथा *''दार्शनिक त्रैमासिक''* जैसी शोध–पत्रिका के नियमित प्रकाशन के माध्यम से उन सभी जिज्ञासुओं की पिपासा को शान्त कर रही है जिन्हें उक्त प्रकार के दार्शनिक विषयों में रुचि है।

विश्वविद्यालय का कुलपति होने के नाते मैं सम्पूर्ण गुरुकुल परिवार की ओर से आप सभी दार्शनिक महानुभावों के साथ–साथ सभागार में उपस्थित समस्त अतिथियों तथा मंचस्थ सभी विद्वान् अतिथियों का पुनः अभिनन्दन करता हूं, स्वागत करता हूं तथा आशा करता हूं कि तीन दिनों तक चलने वाली आपकी दार्शनिक चर्चायें अवश्य ही सफल होंगी तथा हम सभी उससे लाभान्वित होंगे।

मुझे विश्वास है कि प्रो. बिष्ट एवं उनके समस्त सहयोगियों द्वारा आपके आवास एवं भोजनादि की उत्तम व्यवस्था की गयी होगी।

इन्हीं शब्दों के साथ मैं अपनी वाणी को विराम देता हूं।

ओ3म् शान्तिः।।

राज्यपाल, उत्तराखण्ड

देहरादून

परिषद् के हाल के अधिवेशन

49वां अधिवेशन (24–28 नवंबर, 2004)
बोचासणवासी श्री अक्षर पुरुषोत्तम स्वामिनारायण संस्था, शाहीबाग, अहमदाबाद
उद्घाटनकर्ता – पद्मभूषण डॉ. केशवराम काशीराम शास्त्री
सान्निध्य – पूज्य प्रमुख स्वामी नारायण स्वरूप दास जी
प्रमुख अध्यक्ष – डॉ. देवकीनन्दन द्विवेदी, इलाहाबाद
स्वागतमंत्री – श्री ज्योतीन्द्र दवे

संगोष्ठियां :

1. काण्ट का समसामयिक भारतीय दर्शन पर प्रभाव
2. अहिंसा, संप्रभुता और सुरक्षा
3. चेतना का स्वरूप
4. सेश्वर वेदान्त
5. भारतीय दर्शन के पचास वर्ष

विशिष्ट व्याख्यान :

वल्लभ–वेदान्त व्याख्यान माला का प्रथम पुष्प – शतायु पं. केशवराम काशीराम शास्त्री

स्मारिका : *सुवर्ण–रेखा*
भ्रमण : अक्षरधाम, गांधीनगर

पुरस्कार :

1. स्वामी प्रणवानन्द दर्शन–पुरस्कार – डॉ. रामजी सिंह, भागलपुर
   ग्रंथ – *भारतीय चिन्तन और संस्कृति।*
2. श्री खचेडू सिंह नागर स्मृति पुरस्कार – डॉ. इन्दु परमार, रांची
   ग्रंथ – *शंकर एवं रामानुज वेदान्त के महावाक्यों का समीक्षात्मक अध्ययन*
3. महंत लक्ष्मीनारायण दास स्मृति स्वर्ण–जयंती निबंध प्रतियोगिता (वरिष्ठ वर्ग)–
   डॉ. संजय कुमार शुक्ल, इलाहाबाद
   आलेख – भारतीय दर्शन का भावी स्वरूप

4. महंत लक्ष्मीनारायण दास स्मृति स्वर्ण–जयंती निबंध प्रतियोगिता (कनिष्ठ वर्ग), विषय – भारतीय दर्शन में ईश्वर की अवधारणा।

1) श्री विशाल भारद्वाज, अमृतसर,
2) श्री रणधीर कुमार सिंह, सुपौल, बिहार
3) डॉ. राजेश्वर प्रसाद यादव, लखनऊ
4) श्री मुकेश प्रसाद चौरसिया, खगड़िया, बिहार
5) कु. दीपाली जलौन्हा, जबलुपर
6) कु. श्वेता ओझा, जबलपुर
7) कु. रीता मिश्रा, इन्दौर
8) कु. मीना मिश्रा, भोपाल

5. साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन स्मृति युवा–चिंतक पुरस्कार– श्री अनिल कुमार तिवारी, कानपुर
आलेख – जैन दर्शन तथा अहिंसा की अवधारणा

6. स्वामी दयानन्द निबंध पुरस्कार – कु. प्रतिभा त्रिपाठी, वाराणसी
आलेख– स्वामी दयानन्द का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

टीप : इस अधिवेशन के अन्य कार्यक्रमों का विवरण *अखिल भारतीय दर्शन–परिषद्–एक परिचय* (प्रकाशित 2004) में दिया गया है।

50वां अधिवेशन (25–27 फरवरी, 2006)
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर
उद्‌घाटनकर्ता – श्री प्रमोद बत्रा, दिल्ली
स्वागताध्यक्ष – डॉ. एस.एम. पॉल खुराना (कुलपति)
प्रमुख अध्यक्ष – डॉ. सभाजीत मिश्र, गोरखपुर
स्वागतमंत्री – डॉ. (कु.) गायत्री सिन्हा

विभागाध्यक्ष :

1. तर्क और ज्ञानमीमांसा – डॉ. शिवभानु सिंह (इलाहाबाद)
2. नीति एवं समाज दर्शन – श्री ज्योतीन्द्र एम. दवे (अहमदाबाद)
3. धर्म मीमांसा – डॉ. नीलिमा सिन्हा (गया)
4. तत्त्वमीमांसा – डॉ. शिवदीपक शर्मा (मुजफ्फरपुर)

व्याख्यानमालाएं :

1. परमहंस योगानन्द तुलनात्मक धर्म–दर्शन : डॉ. रमेश चन्द्र सिन्हा (पटना)
2. तुलनात्मक धर्म अकादमी : डॉ. (श्रीमती) गीता मेहता (मुम्बई)
3. वल्लभवेदान्त व्याख्यान : डॉ. (श्रीमती) सुनन्दा शास्त्री (अहमदाबाद)
4. प्रो. संगमलाल पाण्डेय स्मृति व्याख्यान : प्रो. एस.के. सेठ (इलाहाबाद)

5. स्वामी प्रणवानन्द तुलनात्मक दर्शन व्याख्यानः डॉ. (श्रीमती) निर्मला कुमारी झा (मुजफ्फरपुर)

6. हिमगिरि आध्यात्मिक संस्थान व्याख्यानः डॉ. प्रतिमा जोशी (लोनावला)

7. स्वामिनारायण सेश्वर वेदान्त : डॉ. यज्ञेश्वर शास्त्री (अहमदाबाद)

संगोष्ठियां :

1. सामाजिक संरचना में दर्शन की भूमिका
2. तुलनात्मक ज्ञान–मीमांसा

भ्रमण : नर्मदा प्रपात, भेड़ाघाट

समापन : गीताधाम परिसर

स्मारिका : सुवर्णा

पुरस्कार :

1. स्वामी प्रणवानन्द दर्शन–पुरस्कार –
दर्शन विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

2. श्री खचेडू सिंह नागर स्मृति पुरस्कार – डॉ. सच्चिदानन्द प्रसाद, पटना
ग्रंथ– *The Concept of God in the Philosophy of Kant*

3. डॉ. पी.बी. विद्यार्थी स्मृति पुरस्कार– डॉ. स्वामी श्रुतिप्रकाश दास, गांधीनगर
ग्रंथ– *श्री स्वामिनारायण दर्शन*

3. डॉ. विजयश्री स्मृति युवा चिंतन पुरस्कार :
क) नीति एवं समाज दर्शन – श्री मनीष वेणुपाल महीप, कानपुर
आलेख– बौद्ध दर्शन में मानवाधिकार एवं डॉ. अम्बेडकर
ख) तत्त्वमीमांसा विभाग – डॉ. राजेश्वर प्रसाद यादव, लखनऊ
आलेख– अनेकान्तवाद की समकालीन प्रासंगिकता
ग) तर्क एवं ज्ञान मीमांसा विभाग – श्री ऋषभ कुमार जैन, सागर
आलेख– जैन तत्त्वमीमांसा में क्रमबद्ध पर्याय एवं सर्वज्ञता की पूर्वापेक्षा
घ) धर्म मीमांसा विभाग – डॉ. मुकेश कुमार चौरसिया, खगड़िया
आलेख– मानवतावाद और धर्म : एक समीक्षा

4. श्रीमती कमलादेवी जैन स्मृति पुरस्कार – डॉ. मुरली मनोहर पाठक, उज्जैन
आलेख– व्याकरणदर्शन में इन्द्रियप्राप्याप्राप्यकारित्व–विमर्श

5. साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन समृति युवा पुरस्कार – श्री राहुल कुमार सिंह, वाराणसी
आलेख– अनेकान्त की अवधारणा

6. स्वामी दयानन्द स्मृति निबंध पुरस्कार – कु. राखी राय, जबलपुर
आलेख– स्वामी दयानन्द सरस्वती : आर्य समाज की शिक्षा–व्यवस्था

51वां अधिवेशन (5–7 जनवरी, 2007)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
उद्घाटनकर्ता – डॉ. राजन जी. हर्षे (कुलपति)
प्रमुख अध्यक्ष – डॉ. जयदेव वेदालंकार, हरिद्वार
स्वागतमंत्री – डॉ. जटाशंकर, इलाहाबाद
विभागाध्यक्ष :

1. तर्क और ज्ञानमीमांसा – प्रो. गायत्री सिन्हा (जबलपुर)
2. नीति एवं समाज दर्शन – डॉ. राजकुमारी सिन्हा (रांची)
3. धर्म मीमांसा – डॉ. विजयकान्त दुबे (ज्ञानपुर)
4. तत्त्वमीमांसा – डॉ. मंगला चिंचोरे (पुणे)

व्याख्यानमालाएं :

1. परमहंस योगानन्द तुलनात्मक धर्म–दर्शन : डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल (वाराणसी)
2. तुलनात्मक धर्म अकादमी : डॉ. ए.के.सिंह (कानपुर)
3. वल्लभवेदान्त व्याख्यान : डॉ. जी.सी. नायक (भुवनेश्वर)
4. प्रो. संगमलाल पाण्डेय स्मृति व्याख्यान : डॉ. आभा सिंह (पटना)
5. स्वामी प्रणवानन्द तुलनात्मक दर्शन व्याख्यानः डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा (वाराणसी)
6. हिमगिरि आध्यात्मिक संस्थान व्याख्यानः डॉ. डी. ए. गंगाधर (वाराणसी)
7. स्वामिनारायण सेश्वर वेदान्त : डॉ. नीलिमा सिन्हा (बोधगया)

संगोष्ठियां :

1. समग्रतावाद
2. प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण

भ्रमण : कुम्भ नगरी, त्रिवेणी
स्मारिका
पुरस्कार :

1. स्वामी प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार – डॉ. सिद्धेश्वर रामेश्वर भट्ट, दिल्ली
   ग्रंथ– *मानव की सेवा में विश्व के प्रमुख धर्म।*
2. डॉ. पी.बी. विद्यार्थी स्मृति पुरस्कार – डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा, नालंदा
   ग्रंथ– *सत्यकाम जाबाल का जीवन–दर्शन।*
3. श्री खचेडू सिंह नागर स्मृति पुरस्कार– डॉ. डी.डी. बंदिष्टे, इन्दौर
   ग्रंथ– *Philosophical Semi-colons*
4. श्रीमती कमला देवी जैन स्मृति आलेख पुरस्कार– डॉ. आर.के. सिंह, पटना
   आलेख– अर्थशास्त्र : वैज्ञानिकता बनाम नैतिक मूल्य
4. साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन स्मृति युवा चिंतक पुरस्कार–श्री भूपेन्द्र शुक्ल, वाराणसी
   आलेख– जैन परम्परा में पर्यावरण।

5. स्वामी दयानन्द निबंध पुरस्कार– श्री अनिल तिवारी, कानपुर
आलेख– आर्य समाज और नारी शिक्षा।

6. डॉ. विजयश्री स्मृति युवा पुरस्कार :
   1. डॉ. राजेश्वर यादव, लखनऊ, धर्म मीमांसा : आलेख–धर्मो रक्षति रक्षितः
   2. श्री ऋषभ जैन, सागर, तर्क और ज्ञान मीमांसा : कुमारित भट्ट कृत सर्वज्ञता
   3. सुश्री श्वेता पाठक, बोधगया, तत्त्व मीमांसा : योग–क्षेम की अवधारणा
   4. सुश्री क्षमा तिवारी, इलाहाबाद, नीति और समाज दर्शन : नीति एवं राजनीति

52वां अधिवेशन (21–23 दिसम्बर, 2007)
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
उद्घाटनकर्ता – डॉ. सुरेन्द्र सिंह कुशवाहा (कुलपति)
स्वागतमंत्री – डॉ. गीतारानी अग्रवाल, वाराणसी
प्रमुख अध्यक्ष – डॉ. रामलाल सिंह, इलाहाबाद
सम्मान – डॉ. रघुनाथ गिरि, वाराणसी

विभागाध्यक्ष :

1. तर्क और ज्ञानमीमांसा – डॉ. निर्मला झा (मुजफ्फरपुर)
2. नीति एवं समाज दर्शन – प्रो. जटाशंकर (इलाहाबाद)
3. धर्म मीमांसा – प्रो. राजीव रंजन सिंह (वाराणसी)
4. तत्त्वमीमांसा – डॉ. दिनेश चन्द्र श्रीवास्तव (कानपुर)

व्याख्यानमालाएं :

1. परमहंस योगानन्द तुलनात्मक धर्म–दर्शन : डॉ. कुसुम कुमारी (बोधगया)
2. तुलनात्मक धर्म अकादमी : प्रो. राकेश कुमार मिश्र (जम्मू)
3. वल्लभवेदान्त व्याख्यान : डॉ. एन.पी. तिवारी (पटना)
4. प्रो. संगमलाल पाण्डेय स्मृति व्याख्यान : प्रो. (श्रीमती) मृदुला रविप्रकाश (इलाहाबाद)
5. स्वामी प्रणवानन्द तुलनात्मक दर्शन व्याख्यानः डॉ. एस.डी.के. सिन्हा (मुंगेर)
6. हिमगिरि आध्यात्मिक संस्थान व्याख्यानः डॉ. (श्रीमती) सुधा चौधरी (उदयपुर)
7. स्वामिनारायण सेश्वर वेदान्त (द्विवार्षिक) : प्रो. एल.जी. चिंचोलकर (नागपुर)

संगोष्ठियां :

1. वैश्वीकरण का नीतिशास्त्र
2. देहात्मवाद

भ्रमण : केन्द्रीय तिब्बती संस्थान, सारनाथ

स्मारिका

पुरस्कार :

1. स्वामी प्रणवानन्द दर्शन–पुरस्कार – प्रो. धमेन्द्र गोयल, चंडीगढ़,
ग्रंथ– *भाषा–दर्शन*

2. श्री खचेडू सिंह नागर स्मृति पुरस्कार – प्रो. गौरांगचरण नायक, भुवनेश्वर
ग्रंथ– *Nirvana in Candrakirti's Prasannapada*

3. डॉ. विजयश्री स्मृति युवा पुरस्कार :
क) नीति एवं समाज दर्शन – डॉ. नागेन्द्र तिवारी, भागलपुर
आलेख– महिला शक्तिकरण : अतीत से आज तक
ख) तत्त्वमीमांसा विभाग – श्री महेश शर्मा, नई दिल्ली
आलेख– रामानन्द का आनन्दभाष्य
ग) तर्क एवं ज्ञान मीमांसा विभाग – डॉ. (श्रीमती) आभा सिंह, आरा
आलेख– मंडन मिश्र का स्फोट सिद्धान्त
घ) धर्म–मीमांसा विभाग – कु. अनिता, आगरा
आलेख– अद्वैत वेदान्त तथा विशिष्टाद्वैत वेदान्त में मुक्ति

4. श्रीमती कमलादेवी जैन स्मृति पुरस्कार –
डॉ. सरिता कुमारी (डाल्टनगंज) एवं डॉ. अविनाश कुमार श्रीवास्तव (नालंदा)
आलेख– ब्राह्मण एवं बौद्ध ग्रन्थों में विवेचित चेतना एवं चेतना का संवृत्त

5. साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन समृति युवा पुरस्कार–सुश्री अनामिका त्रिपाठी, वाराणसी
आलेख– जैन परम्परा में कर्मवाद

6. स्वामी दयानन्द स्मृति निबंध पुरस्कार – डॉ. मुकेश कुमार चौरसिया, पटना
आलेख– आर्य समाज एवं वैदिक शिक्षा

53वां अधिवेशन (8–10 नवम्बर, 2008)
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
उद्‌घाटनकर्ता – श्री बी.एल. जोशी, राज्यपाल, उत्तराखण्ड
विशेष अतिथि – (क) श्री हरवंश कपूर, अध्यक्ष विधानसभा, उत्तराखण्ड
(ख) श्री मदन कौशिक, शिक्षा मंत्री, उत्तराखण्ड
(ग) स्वामी राजराजेश्वराश्रम महाराज
स्वागताध्यक्ष – प्रो. स्वतंत्र कुमार (कुलपति)
स्वागत मंत्री – डॉ. उमराव सिंह बिष्ट, हरिद्वार
प्रधान सभापति – डॉ. सजीवन प्रसाद (पटना)
विभागाध्यक्ष :

1. तर्क और ज्ञानमीमांसा – डॉ. निरूपमा श्रीवास्तव (लखनऊ)
2. नीति एवं समाज–दर्शन – डॉ. गीतारानी अग्रवाल (वाराणसी)
3. धर्म–मीमांसा – डॉ. सरोज कुमार वर्मा (मुजफरपुर)
4. तत्त्वमीमांसा – डॉ. संजय कुमार शुक्ल (इलाहाबाद)

व्याख्यानमालाएं :

1. डॉ. रमाशंकर श्रीवास्तव तुलनात्मक धर्म विज्ञान व्याख्यान : डॉ. रमाशंकर आर्य, पटना विश्वविद्यालय, पटना (बिहार)
2. परमहंस योगानन्द तुलनात्मक धर्म–दर्शन : डॉ. दिलीप चारण (अहमदाबाद)
3. तुलनात्मक धर्म अकादमी : प्रो. भारत वालेन्द्रे, काटोल (नागपुर)
4. वल्लभवेदान्त व्याख्यान : डॉ. विजय लक्ष्मी यादव (कानपुर)
5. स्व. चम्पादेवी– स्व. मुल्तानमलजी तातेड़, जसोल (राजस्थान) स्मृति व्याख्यानः डॉ. रज्जन कुमार (बरेली)
6. प्रो. संगमलाल पाण्डेय स्मृति व्याख्यान : डॉ. जी.सी. नायक, भुवनेश्वर (उड़ीसा)
7. देवात्मा व्याख्यान : डॉ. नितिश दुबे (कानपुर)
8. स्वामी प्रणवानन्द तुलनात्मक दर्शन व्याख्यान : डॉ. अभिमन्यु सिंह (बी.एच.यू.)
9. हिमगिरि आध्यात्मिक संस्थान व्याख्यान : डॉ. शरद देशपाण्डे (पुणे)/ डॉ. गायत्री सिन्हा, जबलपुर
10. महर्षि दयानन्द व्याख्यान : डॉ. उमाशंकर नगायच (भोपाल)

संगोष्ठियां :

1. योग की अवधारणा : पारम्परिक एवं आधुनिक दृष्टिकोण
2. स्वामी रामतीर्थ का व्यावहारिक वेदान्त

स्मारिका

भ्रमण : बद्रीनाथ

समापन समारोह अध्यक्ष : गुरुकुल के परिद्रष्टा पद्मश्री देवेन्द्र त्रिगुणा
मुख्य अतिथि : डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक', स्वास्थ्य मंत्री, उत्तराखण्ड

पुरस्कार :

1. स्वामी प्रणवानन्द दर्शन–पुरस्कार –
   क) डॉ. गीतारानी अग्रवाल, वाराणसी, ग्रंथ– *भारतीय समाज दर्शन।*
   ख) डॉ. संध्या सती, हरिद्वार, ग्रंथ– *शब्द–दर्शन*
2. श्री खचेडू सिंह नागर स्मृति पुरस्कार –
   क) डॉ. दीप नारायण यादव, गोरखपुर
   ग्रंथ– *Contemporary Trends in Scientific Explanation*
   ख) डॉ. कालीचरण पाण्डेय, गोरखपुर
   ग्रंथ– *Ludwing Wittgenstein - Ethics and Religion*
3. डॉ. विजयश्री स्मृति युवा चिंतक पुरस्कार :
   क) नीति एवं समाज दर्शन – श्री शिवपूजन विद्यालंकार, हरिद्वार
   आलेख– आस्तिकवाद की सामाजिक उपादेयता
   ख) तत्त्वमीमांसा विभाग – कु. द्युति याज्ञिक, अहमदाबाद
   आलेख– रामकृष्ण परमहंस की ईश्वरविद्या और तत्त्वमीमांसा

ग) तर्क एवं ज्ञान–मीमांसा विभाग – श्री गोपीकृष्ण, भागलपुर
आलेख– न्याय एवं बौद्ध दर्शन में व्याप्ति

घ) धर्म–मीमांसा विभाग – श्री सुधांशु शेखर, भागलपुर
आलेख– नवबौद्ध धर्म

4. श्रीमती कमलादेवी जैन स्मृति पुरस्कार– डॉ. बलिराम शुक्ल, पुणे
आलेख– शाब्दबोध प्रक्रिया में योग्यता ज्ञान

5. साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन समृति युवा चिंतक पुरस्कार–डॉ. दीपक रंजन, वाराणसी
आलेख– अणुव्रत का वैश्विक स्वरूप।

6. स्वामी दयानन्द स्मृति निबंध पुरस्कार – सुश्री करुणा शर्मा, हरिद्वार
आलेख– आर्य समाज और राष्ट्रीयता

दार्शनिक त्रैमासिक

(प्रारंभ : 1954)

दार्शनिक त्रैमासिक पत्रिका के लिए चंदा की दरें (अप्रैल 2009 से) :

1. सामान्य व्यक्ति के लिए : रूपये 200.00 (वार्षिक), रूपये 2000.00 आजीवन
2. छात्र के लिए : रूपये 150.00 (वार्षिक)
3. शिक्षण संस्थाओं के लिए : रूपये 750.00 (वार्षिक), रूपये 7500.00 (स्थायी)

चंदा देने वाले व्यक्ति अथवा संस्था–प्रमुख का नाम एवं पता :

____

____

टेलीफोन, फैक्स नं., ई–मेलः ....

....

चंदे की राशि : (अंकों में) .... (शब्दों में) ....

भुगतान की विधि : नकद/चेक/बैंक–ड्राट/धनादेश संख्या ....

दिनांक ....बैंक तथा शाखा का नाम ______________________________

टीप : भुगतान 'अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जबलपुर' के नाम से किया जाना चाहिये। भुगतान यदि चेक से हो तो उसमें बैंक–कमीशन की राशि अवश्य जोड़ें।

चंदा भेजने वाले व्यक्ति/संस्था–प्रमुख का हस्ताक्षार ....

दिनांक ....

चंदा प्राप्त करने वाले पदाधिकारी का हसताक्षर ....

दिनांक ....

परिषद् द्वारा जारी रसीद संख्या .... दिनांक ....

दार्शनिक त्रैमासिक

(प्रारंभ : 1954)

दार्शनिक त्रैमासिक पत्रिका के लिए विज्ञापन की दरें (अप्रैल 2009 से) :

1. आकार : 5½" x 8½"
2. अ) आवरण पृष्ठ : रू. 3000.00

   ब) सामान्य पृष्ठ : रू. 2500.00

   स) अर्द्ध पृष्ठ : रू. 1500.00
3. विज्ञापन–दाता का नाम और पता : ————————————

   ————————————————————————
4. टेलीफोन, फैक्स नं., ई–मेलः ....

हस्ताक्षर (दिनांक सहित)

भुगतान की विधि : नकद / चेक / बैंक–ड्राट संख्या .... दिनांक ....

बैंक तथा शाखा का नाम ————————————————————

टीप : भुगतान 'अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जबलपुर' के नाम से किया जाना चाहिये। भुगतान यदि चेक से हो तो उसमें बैंक–कमीशन की राशि अवश्य जोड़ें।

विज्ञापन का प्रारूप :

विज्ञापन प्राप्त करने वाले पदाधिकारी का नाम : ————————————

प्राप्तकर्ता का हस्ताक्षर (दिनांक सहित)

परिषद् द्वारा जारी की गयी रसीद संख्या .... दिनांक ....

Video Message from Mr. Koïchiro Masuura, Director-General of UNESCO on the occasion of the XXII World Congress of Philosophy "Rethinking Philosophy Today" Seoul, 30 July-5 August 2008



It is a great pleasure for me to address you on the occassion of the 22nd World Congress of Philosophy. Allow me to thank the International Federation of Philosophical Societies, the Korean Philosophical Association and the Korean Organizing Committee for holding this major international encounter. Let me also extend my greetings to the participant philosophers, who come from all regions, cultures, and intellectual horizons. I am convinced that your debates on "Rethinking Philosophy Today" will be enlightening for us all.

This is the first time in its history that the Congress is held on the Asian continent. It is particularly significant that this edition takes place in Seoul, in the Republic of Korea, a country that has shown steadfast support to philosophy and UNESCO's goals in this field.

UNESCO is proactive in defending the importance of philosophical dialogue in addressing global issues. We promote philosophical thought, teaching and research, in particular through the yearly celebration of World Philosophy Day on 17 November. We also foster solidarity betwen philosophers, as well as gender equity. This is the objective of the recently launched International Network of Women Philosophers sponsored by UNESCO.

Educating our youth to develop critical and independent thinking is of tremendous importance in today's world. To meet this challenge, UNESCO will organize in the coming years a series of regional high-level meetings to bring together practitioners and decision-makers with the objective of encouraging policy formulation infavour of ***the teaching of philosophy at all educational levels.***

We are deeply committed to encouraging dialogue among philosophers in diferent regions of the world, as a means to promote intercultural dialogue and advance the cause of peace. Several Interregional Philosophical Dialogures between Asian and Arab scholars have been convened, including in Seoul and Rabat. A special session of these dialogues, on the philosophical basis of human rights, will also be held during this Congress.

It remains for me to wish you every success in your deliberations. Thanks you very much.

Koïchiro Matsuura

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

स्थापित
१९५४

• अध्यात्म विद्या विद्यानाम् •



53वें अधिवेशन के उद्घाटन समारोह का एक दृश्य